
08

पहल

आधुनिकता और सांप्रदायिकता या सांप्रदायिक हिंसा के बीच संबंध होने वाले तर्क काफी समय से बौद्धिक समूहों में बहस का प्रमुख मुद्दा रहे हैं। निश्चित रूप से इस बहस ने एक चक्र पूरा कर लिया है। 1960 के दशक तक आधुनिकीकरण को ही सांप्रदायिकता की दवा माना जाता था। लेकिन पिछले एक दशक में आधुनिकता विरोधी तर्कों ने जबरदस्त लोकप्रियता हासिल कर ली है। भारत में दोनों ही तर्कों की जबरदस्त वकालत करने वाले रहे हैं। नेहरू और भारतीय वामपंथ से जुड़ी और पारंपरिक किस्म की मान्यता यह रही है कि समाज जितना आधुनिक होता जाएगा, सांप्रदायिकता की समस्या उतनी ही गति से हाशिये पर चली जाएगी। पर धर्म निरपेक्षता विरोधियों या आधुनिकता विरोधियों के लिए आधुनिकता समाधान नहीं अपने आप में एक समस्या है।

– जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज से
अंक नवम्बर, 1985

पहल

इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत
प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक

पहल : 80
जुलाई-अगस्त : 2005 अव्यवसायिक
अनियतकालीन

संपादक	:	ज्ञानरंजन
सलाहकार संपादक	:	जितेन्द्र भाटिया, परितोष चक्रवर्ती विनोद कुमार श्रीवास्तव, विजय कुमार
प्रसार/वितरण	:	मनोहर बिल्लौरे
प्रकाशन सहयोग	:	रमाकांत, भोपाल
कला संपादन	:	सुरेन्द्र राव, मुंबई
प्रतिनिधि		
बिहार/झारखंड	:	शंकर
दिल्ली	:	पंकज कौरव, हीरालाल नागर
लखनऊ	:	अखिलेश
भोपाल	:	हरि भटनागर
प्रकाशक	:	पहल, जबलपुर - 482004
सम्पर्क	:	101, रामनगर, अधारताल, जबलपुर - 482004
टेलीफोन	:	2360393
मोबाईल	:	9893017853
ई-मेल	:	edpahaljbp@yahoo.co.in
फैक्स	:	0761-2390143
आवरण	:	आर.एस. अग्रवाल, इलाहाबाद
रेखांकन	:	कविता पाण्डेय
संगणकीय अक्षर रचना	:	डिजिटल कम्प्यूटर्स, जबलपुर। फोन - 5005179
मुद्रक	:	महाकोशल ऑफसेट, जबलपुर। फोन : 2412723
मूल्य	:	40.00 रू.
वार्षिक	:	120.00 रू. (तीन अंकों के लिए)
संस्थाओं के लिए	:	150.00 रू.
नमूना के लिए	:	40.00 रू. का डाक टिकट भेजें

पहल के मुख्य-पृष्ठ के चित्रकार आर.एस. अग्रवाल हैं। लखनऊ स्कूल ऑफ आर्ट से शिक्षा प्राप्त की। इलाहाबाद में इम्पैक्ट नाम की कला संस्था खोली और शहर में एक नया वातावरण निर्मित किया। मुखपृष्ठ का रेखांकन श्री अग्रवाल ने अपनी यूरोप यात्रा के समय जर्मनी के म्यूनिख़ शहर में किया था। पाठकों को यह भी अवगत कराना जरूरी है कि पहल के प्रारम्भिक अंकों की सज्जा आर.एस. अग्रवाल ने ही की थी।

अनुक्रम
पहल 80

निधन 5

मनीषी और मूर्तिभंजक

के. सच्चिदानंद

प्रेमचंद के 126 वर्ष 8-32

प्रेमचंद के आलोचक : दलित प्रश्न से भटकाव / कात्यायनी

प्रेमचंद के दलित

तेज सिंह

देशांतर 33-43

नाइजीरिया के जनतांत्रिक आंदोलन में लेखकों और बुद्धिजीवियों की भूमिका

आनंद स्वरूप वर्मा

व्याख्यान 44 - 52

हिन्दी प्रदेश : टूटा बिखरा देश

सच्चिदानन्द सिन्हा

उद्‌बोधन 53 - 65

यह मनुष्य जाति के आत्मविनाश का रास्ता तो नहीं है?

केशव मेश्राम

साक्षात्कार 66 - 73

नेमिचंद्र जैन से साधना अग्रवाल की बातचीत

विमर्श 74-89

दमित इतिहास के तारनहारे

विनोद शाही

कविता से उपलब्धि

नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

धारावाहिक 90 - 106

बाज़ार में हिन्दी और हिन्दी का बाजार

जितेन्द्र भाटिया

निस्संग अंधेरे में आश्वस्ति की गुहार

यतीन्द्र मिश्र

पहल विशेष/कहानी 107-119
ओरहान पामुक : आमने सामने
अनुवाद - शिवप्रसाद जोशी

शहरनामा/आरा 120-126
शहर में यारों की किस तरह बसर होगी
गजेन्द्र पाठक

कविताएं 127 - 143
तापोष चक्रवर्ती/दिनेश जुगरान
अनूप कुमार

कहानी 144 - 147
प्रेत छाया/मनोज रूपड़ा
उन्होंने उसका चयन नहीं किया
कैलास चन्द्र

डायरियां 178-213
ना, निरापद कोई नहीं है
दूधनाथ सिंह
पथ अनन्त है
नरेश सक्सेना
कुछ यादें मुक्तिबोध की
सोमदत्त

लम्बी कविता 214-221
नाच
मनोज शर्मा

विचार विमर्श 222-256
दिल के आईने पे पड़ती है इस
तरह से निगाह / पंकज पराशर
क्या फ़र्ज़ है कि सबको मिले
एक सा जवाब / कृष्ण मोहन
पत्थरों से बगीचा बनाने की कला
सियाराम शर्मा

मनीषी और मूर्तिभंजक

के. सच्चिदानंदन

अब सिद्धार्थ के सामने सत्य का प्रकाश फैल गया : देशप्रेम बच्चों की हत्या करवाता है... सिद्धार्थ ध्यानमग्न हो गया। कोई बोधिवृक्ष भी वहाँ नहीं था जो अपनी छत्रछाया उसके सिर पर तान दे। न्यायाधीश ने अपने निर्णय के आखिरी पद उच्चरित किए और हर तरफ लोगों की आवाज़ें आ रही थीं ...ईश्वर, ईश्वर! सिद्धार्थ सोच में पड़ गया, यह कैसी आवाज़ें हैं जो न मनुष्य की हैं न किसी जानवर की। न मिलन की हैं न उनसे उत्पन्न प्रजातियों की। मैं अब समझ गया हूँ! वह किसी ज्ञानपिपासु की तन्मयता के साथ सुनने लगा और स्मृति की अँधेरी घाटियों को बेधती हुई, शताब्दियों के पीछे से आवाज़ें आ रही थीं। यह बात है! सिद्धार्थ को बोध हुआ, ये तो इतिहास की नामर्द आवाज़ें हैं।

– ओ.व्ही. विजयन : धर्मपुरी का आख्यान

चाहे उपन्यास या कहानियाँ हों, राजनैतिक टिप्पणियाँ हों या उनके बनाए कार्टून हों, विजयन के हर काम में दिन-ब-दिन हत्यारी होती जा रही दुनिया के लिए एक तरह की गहरी व्यथा दिखाई पड़ती है। उनकी आत्मा ने उस रक्तिम समय को जिया था जिसके कंधे क्रांतियों के बोझ से झुक गए थे, जिसने अत्यंत क्षुद्र विवादों पर भीषण युद्ध लड़े जाते देखे, जो ईश्वर, धर्म, जाति, भाषा और राष्ट्रों के एक से बढ़कर एक त्रासद प्रहसनों को खुद पर मंचित होता देखता रहा और जो समय अपनी जड़ों से उखड़ कर निर्वासित होते शरणार्थियों के अंतहीन निष्क्रमण का गवाह बना। ऐसा नहीं कि वे बिल्कुल निराश थे। उनका विश्वास मार्क्स और गांधी में रहा, करुणा द्वारा परिवर्तन के भी वे हामी रहे और यहाँ तक कि अंततः किसी पराशक्ति की भी उन्होंने कल्पना की जो आत्मा के अकेलेपन को प्रकाश से भर देती है। पर मार्क्स और गांधी की मरणोपरांत नियति और क्षुद्र मानव का अपने स्वरचित विभ्रमों पर आपस में लड़ मरना देखते-देखते हर विश्वास के बाद उनकी पीड़ा और बढ़ती जाती थी। इससे उनके भीतर एक तरह की निर्लिप्त हँसी ने जन्म लिया जिसकी तुलना शायद मार्क ट्वेन के हास्य से की जा सकती है।

मलयालम में मार्क्वेज़ और सारामागो से बहुत पहले विजयन एक किंवदंती बन चुके थे। यह विडंबना ही है कि खसाकिन्ते इतिहासम (The Legend of Khasak) का अंग्रेज़ी अनुवाद बहुत बाद में हुआ और तभी से अंग्रेजी वाले ओ.व्ही. विजयन के नितांत मौलिक आख्यानात्मक विवरणों को लातिन

अमरीकी जादुई यथार्थवाद से जोड़कर देखने लगे। दूसरी तरफ मलयालम के एक लेखक ने उन पर साहित्य चोरी का आरोप लगाते हुए कहा कि उनका यह उपन्यास मराठी के उपन्यास की नकल है जबकि दोनो में मात्र इतनी समानता थी कि दोनों उपन्यासों में नायक गाँव के एक स्कूल का मास्टर था। दोनों ही बातें बिल्कुल बेतुकी और हास्यास्पद थीं।

इस उपन्यास ने मलयालम साहित्य को बदलकर रख दिया। मिथक और यथार्थ के अंतर्गुंफन, काव्यात्मक सांद्रता, जीवन की विडंबनाओं पर उनका चुभता व्यंग्य, देशज और वैश्विक मुहावरों और जुगलबंदी से पैदा ताज़गी और सम्मोहन, कामोद्दीपन और अलौकिकता, फूहड़ और उदात्त, यथार्थ और अतियथार्थ, पाप और प्रायश्चित्त, लालसा और विरक्ति का परस्पर आरोपण तथा समय तथा ब्रह्मांड की कुशल अन्विति से उद्भूत वृत्तांतों की अनूठी कार्ययोजना, इन सबने मिलकर नया पाठक समुदाय निर्मित करते हुए उनमें नई और अनूठी संवेदना का संचार किया जिसने हमेशा के लिए मलयाली सोच का कायापलट कर दिया।

विजयन की दूर तक देख सकने वाली तेज़ दृष्टि ने उस उपन्यास को, जो कि आसानी से एक प्राकृतिक ग्रामीण विवरण हो सकता था, मिथकीय सीमाओं वाले एक जादुई अनुभव में बदल दिया। बारह साल तक बार-बार लिखे जाने के बाद सन् 69 में उपन्यास प्रकाशित हुआ तो युवा साहित्यकारों के बीच वह तुरंत लोकप्रिय हो गया जबकि रूढ़िवादियों और प्रगतिशीलों दोनों को ही उसने नाराज़ कर दिया, हालाँकि दोनों की नाराज़ी का सिर्फ एक कारण समान था : उनकी यौन अराजकता। उपन्यास हर तरह से यथास्थितिवाद विरोधी था और शास्त्रीय समझ वाले पाठक उसके नए मुहावरे और दिक्काल में उसकी स्वच्छंद क्रीड़ाओं को लेकर उस पर जटिलता और अस्पष्टता का आरोप लगा रहे थे क्योंकि वे आज तक एक के बाद एक आने वाली क्रमबद्ध घटनाओं को ही पढ़ते आए थे। लेकिन समय के साथ यह ठंडापन दूर हुआ और यह 'सम्भ्रांत' पाठकों के लिए लिखा गया उपन्यास अपने 30 संस्करणों के साथ आज भी मलयालम का बेस्ट-सेलर बना हुआ है।

सी.वी. रमन पिल्लई ने बीसवीं सदी की शुरुआत में मलयालम साहित्य में मिथकीय संसार की रचना करते हुए भाषा का संगीत की स्वर-लहरियों की तरह इस्तेमाल किया था और उसके बाद वाइकोम मोहम्मद बशीर ने रोज़मर्रा की जनभाषा को सरलता के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र की अलंकृत ऊँचाइयों तक पहुँचाया था। विजयन ने दोनों से सीखा और दोनों से आगे जाकर लोगों की कल्पनाशीलता के सम्पूर्ण कलेवर को ही बदलने की कोशिश की। मुझे अब भी याद है जब हम युवा लेखक हर हफ्ते मातृभूमि के नए अंक का इंतज़ार करते थे और उसमें धारावाहिक प्रकाशित हो रहे उपन्यास को पढ़ते हुए उन्मुक्त कल्पनाओं की उत्तेजना में डूबते-उतराते रहते थे।

इसके विपरीत विजयन का अगला उपन्यास *धर्मपुराणम्* एक दूसरे तरह के पाठक की मांग करता था। यहाँ एक निष्ठुर राजनैतिक व्यंग्य रचा गया था जो कि स्विफ्ट और वॉल्टेयर की एक साथ याद दिलाता है, जहाँ देश को दयनीयता के रसातल में पहुँचा देने वाली अनैतिक राजनीति की कारगुज़ारियों की बखिया उधेड़ी गई है और जहाँ उसके वैचारिक और व्यावहारिक छद्म से उपजा बीहड़ हास्य एक कारुणिक विडंबना में तब्दील हो गया है। इसमें विजयन की भाषा का तीखापन देखते ही बनता है। इसे मलयानाडु में जुलाई 75 से धारावाहिक प्रकाशित होना था पर इमरजेंसी व्यवधान बन गई और जब 77 में उपन्यास प्रकाशित हुआ तो लगता था कि जो पहले एक दुखद भविष्यवाणी बनने वाला था अब एक घटित का महज़ विवरण भर है। विजयन ने स्वयं इसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया था और उसे पढ़कर टाइम्स लिटररी सप्लीमेंट में डेविड सेलबोर्न ने लिखा : ...यह एक पैना चाकू है जो बिल्कुल हड्डियों तक धँस जाता है... । खुशवंत सिंह ने कहा, 'यह ऐसा उपन्यास नहीं है जिसे आप जल्दबाज़ी में भुला दें।' स्वयं विजयन का कहना था कि यह

एक फोड़े की सफाई का घिनौना काम था जिसे मैं फिर कभी नहीं करना चाहूँगा।

बहुत से लोग मानते हैं कि यहीं से निराश विजयन का कायांतरण एक आशावादी विजयन में होता है। आलोचक वी. राजकृष्णन कहते हैं, 'इन उपन्यासों के बाद उनकी खोज एक दृढ़ विश्वास की ओर चल देती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मनुष्य के अस्तित्व की बेहद जटिल समस्याओं का कोई तात्कालिक हल उन्हें अध्यात्म में मिल गया है। व्यक्तिगत रूप से मुझे संदेहवादी, प्रश्नाकुल विजयन अधिक भाते हैं।'

वैसे तो शुरू से ही विजयन के लेखन में एक तरह के आध्यात्मिक रेशे नज़र आते हैं। अपने निराशावादी व्यक्तित्व के अलावा उनका आत्मसंदेह व असुरक्षा और चारों ओर फैली हिंसा के अलावा व्यक्तिगत जिंदगी में आई परेशानियों ने भी उन्हें बार-बार अध्यात्म की तरफ मोड़ा होगा। जीवन के आखिरी वर्षों में वे करुणाकारागुरु की शरण में चले गए थे। इसके बावजूद उनके बाद के उपन्यासों को जैसे, *गुरुसागरम्, मधुरम् गायति, प्रवाचकन्ते वाज़ी* और *थालामुरुक्कल* को महज़ पारलौकिक कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। सर्वप्रथम यह कि दुनिया के सभी महान लेखकों में पारलौकिकता का यह तत्व पाया जाता है, चाहे वे काफ्का हों या दास्तोएव्स्की हों। दूसरे, लगातार अखबारों में लिखते हुए और कार्टून बनाकर विजयन देश और आसपास की घटनाओं पर अपने विचार रखते ही रहे थे। तीसरे, इन सारे उपन्यासों में भी एक विशाल मानवीय सरोकार हमेशा दिखाई पड़ता है।

इसके बावजूद यह कहना पड़ेगा कि ये उपन्यास मलयाली साहित्य जगत में वह प्रभाव नहीं छोड़ पाए जो कि *खसाकिंते इतिहासम्* ने पैदा किया था। कहानियों के उनके छह संग्रह भी यह दर्शाते हैं कि वे कथालेखन के भी उस्ताद थे। कई कहानियों के अनुवाद उन्होंने खुद किए और उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। हालाँकि उनके अनुवादों को लेकर कुछ आलोचना भी हुई कि वे उतने अच्छे नहीं हैं। कहा गया कि उन्हें स्वयं अंग्रेज़ी अनुवाद नहीं करने चाहिए।

एक राजनैतिक टिप्पणीकार के रूप में उनके विचार उनके लेखों के छह संग्रहों में प्राप्त होते हैं जिनमें उनकी एक जनवादी छवि उभरती है। उन्होंने अति वामपंथी और अति दक्षिणपंथी रुझानों की जमकर आलोचना की किंतु वह हमेशा नैतिक, उदारवादी और लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से ही होती थी।

विजयन आसानी से देश के सबसे महान कार्टूनिस्टों में शुमार किए जा सकते हैं। उनके कार्टून महज़ देखकर मुस्कराने के लिए नहीं थे बल्कि वे सोचने के लिए मजबूर करते थे, वे एक उत्तेजना पैदा करते थे, एक चुनौती पेश करते थे। उनमें विस्तार नहीं होता था। उनका शिल्प बेहद क्षिप्र, सारगर्भित, इकहरा और तीखा होता था और इबारतें चुटीली, पैनी और मारक होती थीं। इमरजेंसी के दौरान उन्होंने पूरी तरह राजनैतिक कार्टून बनाना छोड़ दिया था। इसके बावजूद कला कौमुदी में उनके बनाए गए कार्टून उस समय की परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

पालघाट के एक गाँव में एक पुलिस अधिकारी के यहाँ जन्में विजयन का साहित्यिक, अखबारी और शैक्षणिक जीवन बहुत उतार-चढ़ाव से भरा था। उन्होंने *शंकर्स वीकली, पैट्रिअट, हिंदू* और *स्टेट्समैन* से लेकर बहुत से मलयाली दैनिकों और *न्यूयार्क टाइम्स* और *फार ईस्टर्न एकॉनॉमिक रिव्यू* जैसी विदेशी पत्र-पत्रिकाओं के लिए कार्टून बनाए। उन्हें पद्मभूषण, केरल साहित्य अकादमी पुरस्कार और साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाज़ा गया। केरल और मलयालम का तो कोई पुरस्कार नहीं है जो उन्हें प्राप्त न हुआ हो।

विजयन सच्चे अर्थों में समय के कुचक्रों से आहत एक स्वप्नदर्शी और आदर्शवादी थे। इतिहास की दुरभिसंधियों और उससे उपजी हताशा को उन्होंने शब्दों और रेखाओं में दर्ज किया। वे मलयालम और भारतीय साहित्य के इतिहास में एक मोड़ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी तरह कार्टून कला में भी उनका स्थान मील के पत्थर की तरह है। उनकी विद्रोही रचनाशीलता बेहद आदिम ऊर्जा से युक्त थी जो एक साथ अपने विवेक और अपनी उच्छृंखलता का बहुत संवेदनशील उपयोग करती है।

कोई भी कृति जलाई नहीं जा सकती। उसको जलाना उसकी ज्वाला को बढाना है। रंगभूमि को जलाना अपने को नकारात्मक रूप से स्थापित करने वालों की एक हताश और मूर्खतापूर्ण क्रिया है।

- संपादक

प्रेमचंद के आलोचक दलित-प्रश्न से भटकाव

कात्यायनी

राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में दलित-प्रश्न को लेकर विचार और बहस का आज जो घनघोर अविराम क्रम जारी है, उसमें परम्परा के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न आना ही था। लेकिन क्षोभ की बात यह है कि सारी बहस बेहद सतही धरातल पर हो रही है और तर्क की वस्तुपरकता की जगह पूर्वाग्रही भावावेश का घटाटोप-सा छाया हुआ है। दलित-हितों के कुछ नये चौंक-चमत्कारवादी, गैर-दलित मसीहाओं के धुमगज्जर और कुछ पराजित-मन नवमार्क्सवादियों के, अतीत की ''गलतियों'' को लेकर ''पाप स्वीकृति'' की भावना से ओत-प्रोत हो जाने तथा दलितों का हृदय जीतने के लिए वैचारिक प्रश्नों और ऐतिहासिक तथ्यों को दरकिनार कर (मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के) विचित्र विचारधारात्मक समन्वयवादी खिचड़ी पकाने में मशगूल हो जाने के चलते स्थिति थोड़ी और जटिल हो गयी हैं, संजीदगी और चिन्ता के साथ सोचने-विचारने के माहौल में थोड़ी और गिरावट आ गयी है, कूपमण्डूकता और अविचारी-दुर्विचारी सतहीपन थोड़ा और बढ़ गया है।

हम समझते हैं कि इस बहस को थोड़ी और गहराई में ले जाने की ज़रूरत है। ख़ासकर जो दलित बुद्धिजीवी सच्चे अर्थों में दलित-मुक्ति और जाति के स्थायी उन्मूलन की किसी परियोजना को लेकर चिन्तित हैं, जिनकी चिन्ता शहरी मध्यवर्गीय परजीवियों के समाज में कामचलाऊ सामाजिक सम्मान पा लेने मात्र की नहीं है, जिनकी प्रतिबद्धता पाँच प्रतिशत दलित मध्यवर्ग के प्रति नहीं, बल्कि 95 प्रतिशत दलित सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा के प्रति है, उन्हें वर्तमान के साथ ही अतीत के प्रति भी एक द्वन्द्वात्मक वस्तुपरक रुख अपनाना होगा। दागिस्तानी लोक कवि **अबू तालिब** ('मेरा दागिस्तान' में रसूल हमज़ातोव द्वारा उद्धृत) के शब्दों में, 'यदि तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली चलाओगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा।' निरे क्रोध और भावोच्छ्वासों से या अमबेडकरवाद की दुहाई-मात्र देते हुए 'भोगे हुए यथार्थ' के यथातथ्य चित्रण भर से न तो किसी तरह की दलित-मुक्ति-परियोजना प्रकट होती है, न ही उस पर सोचने का कोई पूर्वाधार तैयार हो पाता है।

प्रेमचन्द फिर विवादों के घेरे में हैं। साहित्य में दलितों की रहनुमाई का दम भरने वाली एक संस्था ने 'रंगभूमि' पर दलितों की भावनाओं को आहत करने का आरोप लगाते हुए उसे जलाने की घोषणा की ही थी

कि मुद्राराक्षस ने अपने सुपरिचित बड़बोले अंदाज़ में फतवा दे डाला कि ''रंगभूमि का जैसा विरोध किया जा रहा है, उससे ज्यादा बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए'' ('हिन्दुस्तान' लखनऊ, 1 अगस्त 2004) यही नहीं, इसी वर्ष प्रेमचन्द जयन्ती पर लखनऊ में आयोजित एक गोष्ठी में और फिर 'राष्ट्रीय सहारा' (8 अगस्त, 2004) में प्रकाशित अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने प्रेमचन्द को न सिर्फ दलित विरोधी तथा वर्णाश्रम व्यवस्था और बालिका विवाह का समर्थक, बल्कि नाज़ीवाद का भी समर्थक सिद्ध कर डाला। अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जितने सस्ते और शातिराने ढंग से प्रेमचन्द की कुछ तात्कालिक टिप्पणियों के हवाले सन्दर्भों से काटकर दिये, वह शर्मनाक है और निन्दनीय भी। लेकिन ज़रूरत इस बात की है कि 'रंगभूमि'-दहन के दुस्साहस और मुद्राराक्षसी बड़बोलेपन की ताजा सनसनीखेज घटनाओं की पृष्ठभूमि में जाया जाये और यह देखा जाये कि दलित-प्रश्न को लेकर किस तरह कुछ दलितवादी लेखक प्रेमचन्द को पहले से ही कटघरे में खड़ा करते रहे हैं।

* *

प्रेमचन्द की कालजयी यथार्थवादी कहानियों की चाहे कोई भी सूची बनाई जाये, उसमें 'कफ़न', 'सद्गति' और 'ठाकुर का कुआँ'-दलितों के जीवन के दाहक-मारक यथार्थ की ये तीन कहानियां अवश्य ही शामिल होंगी। कतिपय दलित लेखक इन्हीं तीन कहानियों पर सर्वाधिक आपत्ति प्रकट करते रहे हैं। कुछ आपत्तियाँ मात्र यह कहने तक सीमित रही हैं कि प्रेमचन्द दलित जीवन के कई पहलुओं से अपरिचित थे, या, दया और सहानुभूति से वे आगे नहीं जा पाते, लेकिन कुछ ने तो उन्हें सवर्णवादी और दलित-विरोधी तक घोषित कर डाला। कुछ ने उन्हें गाँधीवादी बताते हुए उनके विचारों को उनके बोध एवं धारणा की सीमा बताया और यह घोषणा की कि अम्बेडकरवादी चिन्तन को आधार बनाये बिना दलित जीवन के यथार्थ को समझना और प्रस्तुत करना असम्भव है, या कि सिर्फ एक दलित ही अपनी ''स्वानुभूति'' के आधार पर दलित जीवन के यथार्थ का प्रमाणिक चित्रण कर सकता है। इन मसलों पर एक बार फिर सिलसिलेवार विचार करने की ज़रूरत है। यह ज़रूरत सर्वोपरि तौर पर इसलिए है कि दलित मुक्ति के प्रश्न पर सिर्फ दलितों का ही सर्वाधिकार सुरक्षित नहीं हो सकता, क्योंकि यह समूची उत्पीड़ित-शोषित भारतीय जनता की मुक्ति का एक बुनियादी और अनिवार्य प्रश्न है। दलित मुक्ति परियोजना जन मुक्ति की किसी व्यापक परियोजना के एक अंग के रूप में ही सार्थक हो सकती है और जन-मुक्ति की कोई भी परियोजना दलित-मुक्ति के प्रश्न को एजेण्डे पर लिये बिना अधूरी और अव्यावहारिक ही रहेगी। साथ ही, उपरोक्त मसलों पर सिलेसिलेवार विचार की ज़रूरत इसलिए भी है कि यथार्थवाद की अवधारणा की नानाविध भ्रामक और सतही समझों का विश्लेषण और उनकी आलोचना आज बेहद ज़रूरी है। दलित बुद्धिजीवियों को नाराज़ कर देने की भय-ग्रंथि से पीड़ित और दलित जनों को साथ लेने की सोच से विचारधारात्मक-सैद्धान्तिक मसलों पर भी लीपापोती करने वाले या 'नरो वा कुंजरों' की भाषा बोलने वाले मार्क्सवादियों ने भी यथार्थवाद की वैज्ञानिक अवधारणा पर तरह-तरह से कुत्सित समाजशास्त्रीय और उत्तरआधुनिक विखण्डनवादी विचारों की कालिख पोतने की कोशिश की है।

'कफ़न' कहानी पर दलित लेखकों का एक बड़ा हिस्सा यह आरोप लगाता रहा है कि घीसू और माधव-इन दो दलित चरित्रों को कामचोर, निठल्ला और हृदयहीन दिखलाकर प्रेमचन्द ने दलित जीवन के प्रति एकांगी, अपमानजनक और अयथार्थवादी रुख अपनाया है, कि ऐसा करके उन्होंने अपनी सवर्णवादी मानसिकता का परिचय दिया है... आदि-आदि! क्या सचमुच इस कहानी में प्रेमचन्द ने दलितों के प्रति अपमानजनक रवैया अपनाया है? क्या उनका मकसद यह दिखलाना था कि दलित होते ही ऐसे हैं? क्या कहानी का उद्देश्य घीसू और माधव को प्रतिनिधि दलित चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना है?

यदि इस आरोप को सच माना जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि **मक्सिम गोर्की** ने अपनी अधिकांश कहानियों और उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग को पर्याप्त लांछित-अपमानित किया है। उनकी कई कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में लम्पट-आवारा-पियक्कड़-कामचोर सर्वहारा चरित्र बहुतायत में देखने को मिलते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, ''मुझको लम्पट और आवारागर्द आम प्रथा से हटे हुए लोग प्रतीत होते थे। वे लोगों की रीति से भिन्न थे क्योंकि जाति की हानि तथा अपने वर्ग से निष्कासन के कारण उन्होंने अपनी पुरानी पृष्ठभूमि के सर्वाधिक विशिष्ट गुणों का विसर्जन कर दिया था'' ('मैंने लिखना कैसे सीखा')। विमानवीकृत (डीह्यूमनाइज़्ड) और लम्पट सर्वहारा चरित्रों का सृजन करते हुए गोर्की के प्रहार का निशाना सर्वहारा वर्ग नहीं, बल्कि अमानवीय (इनह्यूमन) शोषण की वह सामाजिक प्रणाली थी जो शोषितों से मानवीय जीवन की न्यूनतम शर्तें तक छीन लेती थीं और नतीज़तन उनके बीच से ऐसे विमानवीकृत, लम्पट चरित्र सामने आते थे जिनकी चेतना विघटित हो चुकी होती थी।

इस बात को समझने के लिए हमें **कार्ल मार्क्स** की कुछ बुनियादी दार्शनिक प्रस्थापनाओं तक वापस लौटना होगा। यह चर्चा लम्बी होने के कारण थोड़ी असुविधाजनक हो सकती है, लेकिन फिर भी यह नितान्त आवश्यक है। *'पवित्र परिवार'* नामक अपनी सुप्रसिद्ध कृति में मार्क्स ने लिखा था कि समाजवादी लेखक जब किसी सम्पत्ति के नाश की विश्व-ऐतिहासिक भूमिका सर्वहारा वर्ग की बताते हैं तो वे ऐसा सर्वहारा वर्ग को देवता मानने के चलते नहीं करते, बल्कि बात इसके उलट है। वह लिखते हैं : ''चूँकि पूर्ण रूप से गठित सर्वहारा वर्ग में सभी मानवीय चीज़ों से, मानवीय चीज़ों के **आभास** तक से पृथक्करण लगभग पूरा हो गया है; चूँकि सर्वहारा वर्ग के जीवन की अवस्थाओं में आज के समाज के जीवन की तमाम अवस्थाओं का अमानवीय रूप में समाहार है; चूँकि सर्वहारा में मनुष्य अपने को खो बैठा है, परन्तु साथ ही उसने इस खोने की सैद्धान्तिक चेतना हासिल ही नहीं की है, अपितु वह तात्कालिक, अब दूर न की जा सकने वाली, अब छुपायी न जा सकने वाली, सर्वथा अपरिहार्य **आवश्यकता-अनिवार्यता** की व्यावहारिक **अभिव्यक्ति**- के जरिए इस अमानवीयता के विरुद्ध सीधे विद्रोह करने के लिए विवश है, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि सर्वहारा अपने को स्वतंत्र कर सकता है तथा उसे ऐसा करना होगा। परन्तु वह अपने जीवन की अवस्थाओं का उन्मूलन किये बिना ऐसा नहीं कर सकता'' ('पवित्र परिवार')। मार्क्स के अनुसार, जो मानवीय आत्मपार्थक्य सम्पत्तिशाली वर्गों के चैन का और अपने अस्तित्व एवं शक्ति के आभास का सबब होता है, उसी में ''सर्वहारा वर्ग अपने को नष्ट हुआ देखता है और उसमें अपनी शक्तिहीनता तथा अमानवीय अस्तित्व की वास्तकिता देखता है।'' यथार्थ चित्रण के प्रति मार्क्स का यह दृष्टिकोण सामाजिक क्रान्ति और उसके वाहक वर्गों के प्रति भाववादी दृष्टिकोण के निषेध का परिचजायक था, यह **गेटे** और **हेगेल** तक के ''सौंदर्यपरक दौर'' के अंत का, ''कुरूप'' क्रान्ति द्वारा ''सुन्दर'' क्रान्ति की जगह ले लेने का (जैसाकि मार्क्स इसे कहना पसन्द करते थे) द्योतक था।

उन्नीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक में **एजेन सू** का प्रसिद्ध उपन्यास *'दि मिस्ट्रीज़ ऑफ पेरिस'* की काफ़ी चर्चा थी। वामपंथी हेगेलवादी **सेलिगा** ने उपन्यास में प्रस्तुत सामाजिक सम्सयाओं के पाखण्डपूर्ण नैतिक समाधानों की खूब प्रशंसा की थी। 'पवित्र परिवार' पुस्तक में मार्क्स और एंगेल्स ने कल्पनावादी (भाववादी) सौन्दर्यशास्त्र की आलोचना प्रस्तुत करते हुए इस उपन्यास की विस्तार से चर्चा की है। उपन्यास में एजेन सू ने अच्छे और बुरे के द्वन्द्व को अभिजात्य और ईमानदारी की अमूर्त स्थापना के प्रति अतिरिक्त आग्रह जताकर हल करने की कोशिश की थी। मूर्त को अमूर्त के अधीन करते हुए एजेन सू ने पात्रों की रचना इस तरह से की थी, मानों वे मात्र इस या उस विचार अथवा लेखकीय मन्तव्यों के प्रतिपादन मात्र के लिए बने हों। मार्क्स कुरूप सामाजिक ढाँचे की अमानवीय परिस्थितियों के विमानवीकारी (डीह्यूमनाइजिंग) प्रभावों के चित्रण के साथ ही जीवंत शक्तियों और चरित्रों के स्वत: विकास के पक्ष में थे। उन्होंने सू के भाववादी

नज़रिए की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट किया कि "दुनिया की जो अवस्था" व्यक्ति को अंधी सामाजिक का महज़ एक पुर्जा बनाकर छोड़ देती है, वह **हेगेल** के सौन्दर्यशास्त्र में वर्णित *"दुनिया की महाकाव्यात्मक अवस्था"* के सीधे विरोध में होती है। एजेन सू की अमूर्त आदर्शीकृत स्थापनाओं के उलट, मार्क्स ने ईमानदारी और सामाजिक रूप से "मान्य" सद्‌गुणों के खिलाफ़ अपनी आलोचना में उन चरित्रों का पक्ष लिया जो ऐसे गुणों के खिलाफ़ खड़े थे और सभ्य दुनिया के अनधिकृत पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। 'दि मिस्ट्रीज़ ऑफ पेरिस' में विभिन्न किस्म के जिन लम्पट सर्वहाराओं को चित्रित किया गया था, मार्क्स ने उनकी "विघटित चेतना" में पूँजीवाद का मानवद्रोही चरित्र और उसके विमानवीकारी प्रभावों को लक्षित किया। **मिखाइल लिफ्शित्ज़** के शब्दों में, "... मार्क्स को एक महान वर्ग के इन पतित प्रतिनिधियों में भी ऐसे गुण दिखाई पड़े जो पूँजीवादी सम्बन्धों की उबाऊ नीरसता की अपेक्षा कहीं ज्यादा ही कलाकार का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं" ('कार्ल मार्क्स का कला दर्शन')। मार्क्स का विचार था कि सर्वहारा वर्ग "मानवता का कोई ऐसा समूह नहीं है जो यांत्रिक ढंग से समाज के भार के नीचे दबा हुआ है, बल्कि यह ऐसा समूह है जो समाज के विघटन से पैदा हुआ है, और इसलिए यह अन्ततः एक ऐसी शक्ति बन जाता है जो "मौजूदा समाज के अस्तित्व की समस्त मानवीय परिस्थितियों का निषेध करता है।"

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'फेनामेनालोजी ऑफ माइण्ड'* में *"विघटित चेतना"* का विश्लेषण करते हुए हेगेल ने उन सामाजिक समूहों पर विचार किया है जो सामाजिक प्रगति के निषेधात्मक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन समूहों में गरीबी, पारिवारिक जीवन एवं आत्मिक मूल्यों का विघटन और भद्र समाज के नैतिक मूल्यों के प्रति घृणा का भाव ख़ास तौर पर देखने को मिलता है। ये समाज-बहिष्कृत लोग अपने अस्तित्व के "अमानवीय" स्वरूप और सामाजिक सम्बन्धों के अन्तरविरोधों को पहचानते हैं और वहाँ तक अधिकृत समाज से ऊपर उठ जाते हैं, जबकि अधिकृत समाज आभिजात्य और ईमानदारी के आड़ में सिर्फ़ अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा रहता है। **दिदेरो** के लघु उपन्यास 'रामो का भतीजा' के नायक की हेगेल ने इसी रूप में व्याख्या की थी और मार्क्स का भी उसके बारे में वही विचार था। हेगेल के अनुसार, *"विघटित चेतना"* जब खुद को पुरानी विश्व व्यवस्था के विघटन के उपज के रूप में पहचानने लगती है, तब वह अपने विरोधी में बदल जाती है। यह सारे सामाजिक संबंधों के छद्म और झूठ को समझने लगती है और *"क्रुद्ध चेतना"* बन जाती है। लेकिन चूँकि भाववादी द्वन्द्ववाद गति का विराम से, स्थायित्वका संगठनहीनता से और सामान्य सापेक्षता का सामान्य बोध से सामंजस्य स्थापित करता है, चूँकि वह अन्तरविरोधों के सतत् विकास में नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी प्रक्रिया के ठहराव में विरोधों की एकता का दर्शन करता है, इसलिए हेगेल का मानना था कि *"क्रुद्ध चेतना"* की क्रान्ति और आतंक-राज्य के रूप में अभिव्यक्ति के बाद *"नैतिकता"* का राज्य का जायेगा, जिसमें *"आत्मसजग आत्मा"* प्रबोधनकाल के अन्तरविरोध हल कर देगी। इसके विपरीत, मार्क्स का भौतिकवादी द्वन्द्ववाद "क्रुद्ध चेतना" से क्रान्तिकारी चेतना की ओर संक्रमण की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि सामाजिक अन्तरविरोधों का विकास निम्न श्रेणी के लोगों को स्वतः एक ऐसी क्रान्तिकारी रचनात्मक शक्ति में बदल डालता है जो "मौजूदा समाज के अस्तित्व की समस्त अमानवीय परिस्थितियों का निषेध करता है।" और फिर दुनिया के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में मेहनतकश स्वयं अपनी प्रकृति का भी पुनर्निर्माण करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में लिखी गयी मक्सिम गोर्की की बहुतेरी कहानियों के निम्नवर्गीय चरित्र "विघटित चेतना" वाले लम्पट सर्वहारा चरित्र हैं। 'वे तीन' उपन्यास 'तलछट' नाटक के सर्वहारा चरित्र और कुछ अन्य कहानियों के सर्वहारा पात्र "क्रुद्ध चेतना" वाले प्रतिनिधि पात्र है, जबकि 'दुश्मन' नाटक के ड्राइवर नील और "माँ" के पावेल व्लासोव के रूप में हम "क्रुद्ध चेतना" को क्रान्तिकारी चेतना में रूपान्तिरित होते देख सकते हैं।

विमानवीकरण और ''विघटित चेतना'' के बारे में मार्क्सवादी अवधारणा पर यह विस्तृत चर्चा शायद प्रसंगेतर प्रतीत हुई हो, पर 'कफ़न' के विश्लेषण के लिए इसके विस्तार में जाने की मजबूरी थी। 'कफ़न' के मुख्य पात्र घीसू और माधव अर्द्धसामंती समाज के सबसे निचले पायदान के पात्र हैं – वे पूँजीवादी समाज के सर्वहारा के पूर्वज वर्ग के सदस्य हैं। दारुण गरीबी, पारिवारिक मूल्यों का विघटन और जातिगत अपमान उनकी ऐसी नियति है, जिससे छुटकारा उन्हें दूर-दूर तक नहीं दीखता। जिस समाज में हाड़तोड़ मेहनत के बाद भी दो जून का भोजन नसीब नहीं और अपमान से किसी भी हाल में छुटकारा नहीं, उस समाज में काम बिना किये जीने और अपमान झेलने की आदत डालकर वे अधिकृत समाज की सारी मान्यताओं और रागात्मकता का निषेध प्रस्तुत करते हैं। उनका जीवन ही मानो सामाजिक-नैतिक नियमों की वस्तुगत, नकारात्मक आलोचना है।

कहानी का यह हिस्सा ख़ास तौर पर घीसू और माधव की जीवन स्थितियों और आत्मिक जगत को स्पष्ट कर देता है : ''जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत कुछ अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहां उसकी मण्डली के अन्य लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा नहीं उठाते!''

समाज-बहिष्कृत घीसू और माधव अपने अस्तित्व के ''अमानवीय'' स्वरूप और सामाजिक सम्बन्धों के अन्तरविरोधों को पहचानते हैं और अपनी ''आकाशवृत्ति'' के जरिए हाड़तोड़ मेहनत करते भी कुछ न पाने की स्थिति का निषेध करते हुए अधिकृत समाज से ऊपर उठ गये हैं। घीसू और माधव समूचे दलित मेहनतकश समाज के प्रतिनिधि या 'टाइप' चरित्र नहीं हैं। वे विमानवीयकरण की उस प्रक्रिया के प्रतिनिधि उदाहरण हैं जिसके मूल में गाँवों की प्राक्पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना में शताब्दियों से, बल्कि यूँ कहें कि सहस्राब्दियों से जारी दलितों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया की परिणति है। घीसू और माधव ''विघटित चेतना'' के प्रतिनिधि उदाहरण हैं। उनकी चेतना यूरोप के उन लम्पट सर्वहाराओं की ''क्रुद्ध चेतना'' की अवस्था तक भी अभी विकसित नहीं हुई है, जिनका व्यापक अस्तित्व, मध्ययुग के अंत के बाद, और सेक्युलर जागरूक सर्वहारा के उदय के पहले वहां देखने को मिलता है। भारतीय ग्राम समुदायों में सहस्राब्दियों से जारी दलित-उत्पीड़न को देखते हुए विमानवीकरण की इस विशिष्ट भारतीय परिघटना को सहज ही समझा जा सकता है। ''विघटित चेतना'' और विमानवीकरण की प्रक्रिया को घीसू-माधव जैसे प्रतिनिधि चरित्रों के जरिए दर्शाते हुए प्रेमचन्द ने वास्तव में समाज की उस अवस्था की ऐतिहासिक आलोचना प्रस्तुत की है जो व्यक्ति को अंधी सामाजिक शक्तियों का महज एक पुर्जा बनाकर छोड़ देती है और उससे मानव होने की बुनियादी शर्तों तक को छीन लेती है। लेकिन प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत सामाजिक व्यवस्था की अलोचना को कतिपय दलित लेखकों द्वारा समूचे दलित समाज की आलोचना या उसका अपमान समझ बैठना अनायास नहीं है।

प्रेमचन्द के आलोचक ये दलित लेखक वास्तव में सामाजिक परिघटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्धों की पड़ताल करने के बजाय सिर्फ सतह के यथार्थ को ही पकड़ने के अभ्यासी हैं। इनका यथार्थवाद कहीं-कहीं यदि यथार्थवाद लगता भी है तो वह दरअसल ''भोगे हुए यथार्थ'' का संकीर्ण अनुभववाद है या फिर

प्रकृतवाद है। 'दि मिस्ट्रीज़ ऑफ पेरिस' के विचारधारात्मक आधार और नवहेगेलपंथियों के भाववाद की संरचना की आश्चर्यजनक समानता का उल्लेख करते हुए मार्क्स ने कल्पनावादी (भाववादी) पद्धति और पूँजीवादी रोमांटिक पद्धति में इस समानता की चर्चा की थी कि "... असल में ये दोनों ही वास्तविक मनुष्यों को अमूर्त दृष्टिकोणों में बदल देते हैं।" वह एजेन सू पर यह आरोप लगाते हैं कि "उसने पात्रों को यूँ गढ़ा है, मानो वे अपने विचारों, अपनी क्रियाओं के सचेतन प्रेरकों और उन लेखकीय इरादों का प्रतिपादन करने के लिए ही बने हैं, जिनके कारण लेखक उन्हें इस या उस तरीक़े से कार्रवाई करता हुआ दिखाता है।" हिन्दी के अधिकांश दलित लेखकों की रचनाओं के बारे में ठीक यही बात कही जा सकती है, जो मार्क्स ने एजेन सू के बारे में कही है। उनके पात्र लेखकीय विचारों के यांत्रिक प्रवक्ता मात्र होते हैं और इसी मानसिकता से जब वे प्रेमचन्द के लेखन को देखते हैं तो 'कफ़न' में उन्हें सामाजिक व्यवस्था की आलोचना के बजाय समूचे दलित समुदाय का अपमान दिखाई देता है तथा 'सद्‌गति' और 'ठाकुर का कुआँ' में भी उन्हें प्रेमचन्द के समय के ग्रामीण समाज के निर्मम, घृणास्पद यथार्थ की जगह दलितों के प्रति प्रेमचन्द की सवर्णवादी मानसिकता झाँकती नज़र आती है।

यह अपेक्षा करना कि 'ठाकुर का कुआँ' के दलित पात्रों को प्रेमचन्द कहानी के दायरे के भीतर कुएँ से पानी भरने के सवाल पर महाड़ सत्याग्रह जैसा कोई आन्दोलन संगठित करते हुए दिखाते, या 'सद्‌गति' के दलित पात्रों को दुक्खी की लाश न उठाने जैसे निष्क्रिय प्रतिरोध से कुछ आगे बढ़कर मुखर प्रतिरोध करता हुआ दिखाते, यथार्थवाद की हत्या से कम कुछ भी नहीं होता। यह तत्कालीन यथार्थ के भाववादी-कल्पनावादी-रोमैण्टिक चित्रण से अधिक कुछ भी नहीं होता। प्रसंगवश, यह भी याद दिला देना यहाँ ज़रूरी है कि महाड़ सत्याग्रह भी अपने समय के दलित-प्रतिरोध की एक प्रतिनिधि घटना नहीं बल्कि एक प्रतीक-घटना था। दरअसल अपनी निम्नपूँजीवादी नकली क्रान्तिकारिता के चलते कल्पनावादी (भाववादी) पद्धति या पूँजीवादी रोमांटिक पद्धति का सहारा लेकर जो दलित मध्यवर्गीय लेखक हूबहू एजेन सू की तरह मनुष्यों को अमूर्त दृष्टिकोणों में बदल देते हैं और अपने पात्रों को यूँ गढ़ते हैं, मानों वे लेखकीय इरादों के प्रतिपादन के लिए ही बने हों, वे प्रेमचन्द से भी ऐसा ही करने की अपेक्षा करते हैं और ऐसा न होने पर उनके ऊपर दलित-विरोधी या सवर्णवादी या गाँधीवादी करुणावादी होने का ठप्पा लगा देते हैं। जो लेखक रचना के दायरे के भीतर ही घटनाओं को उनकी भावी तार्किक परिणति तक या किसी किस्म के सुकूनतलब काल्पनिक समाधान तक पहुँचा देते हैं, उनके आशावाद के खोल के भीतर गहन पराजय-बोध और पलायन की वृत्ति छिपी होती है। या फिर यह एक निम्नपूँजीवादी रोमांटिक प्रवृत्ति होती है, जिसकी परिणति अंततः पराजय-बोध और पलायन में ही होनी होती है। सत्तर के दशक में हिन्दी कथा-साहित्य की वाम धारा काफी हद तक इस रोमाण्टिक और यूरोपियन आशावादी अतिरेक को झेल चुकी है। आज दलित-साहित्य इसका शिकार है।

जनता का साहित्य अनिवार्यतः प्रयोजनमुखी होता है, लेकिन अत्यधिक प्रयोजनमूलकता भी यथार्थवाद का निषेध ही करती है। इस विषय पर मिन्ना काउत्स्की को लिखे गये अपने पत्र में एंगेल्स ने लिखा है : "...प्रयोजन को स्वयं परिस्थिति तथा कार्यकलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिए, विशेष रूप से लक्षित किये बिना, और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयारशुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध नहीं है। साथ ही इतना और कहना भी ज़रूरी है कि हमारे यहाँ विद्‌यमान अवस्थाओं के अन्तर्गत उपन्यास अधिकतर बुर्जुआ मण्डलियों के पाठकों को सम्बोधित किये जाते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से हमारी नहीं हैं। इसलिए समाजवादी प्रयोजनमूलक उपन्यास, मेरी दृष्टि में, उस समय अपने ध्येय की पूर्णतया पूर्ति करता है जब वह वास्तविक सम्बन्धों का सच्चा चित्रण कर इस सम्बन्धों के स्वरूप के बारे में हावी रहने वाले वह प्रचलित भ्रमों को मिटा देता है, बुर्जुआ दुनिया के

आशावाद को झकझोर देता है तथा अस्तित्वमान के आधार की शाश्वतता के बारे में शंका का समावेश करता है – भले ही लेखक ने इसके बारे में कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत न किया हो, भले ही उसने कभी-कभी कोई पक्ष तक न लिया हो'' (मिन्ना काउत्स्की के नाम एंगेल्स का पत्र, 26 नवम्बर 1885)।

* *

कई दलित लेखक दलित-जीवन विषयक प्रेमचन्द के लेखन की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि अपने राजनीतिक-सामाजिक विचारों में प्रेमचन्द गाँधीवादी थे, न कि अम्बेडकरवादी, इसलिए वे दलित जीवन के यथार्थ के वास्तविक चित्रण में सर्वथा अक्षम थे।

यह अपने आप में एक प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिविस्ट) दार्शनिक तर्क है। यदि ऐसा ही होता तो विचारों से राजतंत्रवादी बाल्ज़ाक पूँजीवादी समाज की निर्मम आलोचना के साथ ही, अपनी कृतियों में, अपने प्रिय अभिजातों के पतन की अपरिहार्यता को चित्रित नहीं कर पाते, न ही वह अपने कटुतम राजनीतिक विरोधी जनतंत्रवादी पात्रों को जनसाधारण के वास्तविक नायकों के रूप में प्रस्तुत कर पाते। एंगेल्स ने मार्गरेट हार्कनेस को लिखे गये अपने पत्र (अप्रैल, 1888) में अपनी वर्ग सहानुभूतियों और राजनीतिक पूर्वाग्रहों के विरुद्ध खड़े होने की इस परिघटना को *''यथार्थवाद की सबसे महती विजयों में से एक''* बताया है। वैरभावों से युक्त समाज में कला के वर्ग-स्वरूप पर गहन विचार प्रस्तुत करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने यह स्पष्ट किया था कि जिन बड़े लेखकों ने अपनी वर्ग-स्थिति और विचारों के बावजूद जीवन का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया, निस्सन्देह उनके ऊपर सत्तारूढ़ वर्गों के हितों एवं विचारों का दबाव पड़ता था और इस नाते उन्हें अपनी कृतियों में गम्भीर रियायतें भी देनी पड़ती थीं लेकिन उनकी कृतियों के अभिलाक्षणिक अन्तरविरोध उनकी मात्र व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक स्थिति के ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन के वास्तविक अन्तरविरोधों के भी विचारधारात्मक प्रतिबिम्ब होते थे।

फिर यह देखने का सवाल बचा रह जाता है कि अपने इस अन्तरविरोधों के बावजूद शेक्सपियर, गेटे और बाल्ज़ाक जैसे महान लेखक शोषण की पूँजीवादी प्रणाली की बुराइयों की प्रचण्ड कलात्मक शक्ति के साथ आलोचना करने में सफल कैसे हो सके? इसके कारणों की तलाश हमें मार्क्स की इस सुप्रसिद्ध स्थापना तक ले जाती है कि, ''पूँजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण के लिए कला तथा काव्य से शत्रुता रखता है'' ('बेशी मूल्य के सिद्धान्त')। इसकी व्याख्या करते हुए **क्रिलोव** लिखते हैं : ...शोषण की पूँजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही उन मानवतावादी आदर्शों के गहन अन्तरविरोध में निहित है, जो सच्चे कलाकारों को प्रेरणा दिया करते हैं। कलाकार में अपने आदर्शों तथा पूँजीवादी यथार्थ के अन्तरविरोध के बारे में जितनी ही अधिक चेतना होती है, पूँजीवादी सम्बन्धों की अमानवीयता के प्रति उसका विरोध भरा स्वर (उसका वर्ग मूल्य चाहे कुछ भी हो) उतना ही अधिक तीव्र तथा स्पष्ट होता है। कला के प्रति बुर्जुआ समाज की शत्रुता बुर्जुआ साहित्य तक में इस या उस रूप में पूँजीवाद की आलोचना को जन्म देती है, उसमें पूँजीवादी यथार्थ का नाटकीय त्रासदीपूर्ण टकरावों से भरे यथार्थ के रूप में चित्रण किया जाता है ('साहित्य और कला' : मार्क्स-एंगेल्स की भूमिका)।

दलित लेखकों द्वारा राजनीतिक विचारों के आधार पर की जाने वाली प्रेमचन्द की उपरोक्त आलोचना की अवैज्ञानिकता की चर्चा करने के साथ ही, इस तथ्यगत भूल का भी उल्लेख ज़रूरी है कि प्रेमचन्द एक गाँधीवादी थे। प्रेमचन्द की जिन रचनाओं पर गाँधीवादी भाववादी मानवतावाद का सर्वाधिक सघन प्रभाव बताया जाता है, वे असहयोग आन्दोलन और राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर गाँधी के नेतृत्व की स्थापना से पहले लिखी जा चुकी थीं। गाँधीवाद और अम्बेडकरवाद की विकास-प्रक्रिया के साथ-साथ प्रेमचन्द की चिन्तन-प्रक्रिया विकसित हुई थी और अपने आखिरी दौर तक कई मायनों में वे इसका अतिक्रमण कर चुके

थे। 1934 में 'जागरण' में दलित प्रसंग पर लिखे गये अपने अंतिम लेख में वह वर्णव्यवस्था और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदने को राष्ट्रीयता की पहली शर्त बताते हैं और न केवल विदेशी जुए से बल्कि विदेशी शासन से भी अधिक घातक ब्राह्मणवादी पाखण्ड के जुए से मुक्ति को स्वराज्य का उद्देश्य बताते हैं। 1936 में लिखित उनका लेख 'महाजनी सभ्यता' पूँजीवादी वर्ग-वैषम्य पर चोट करता हुआ वर्ग से वर्ग तक की उनकी विचार-यात्रा को दर्शाता है। प्रेमचन्द के चिन्तन का अन्तर्निहित अन्तरविरोध यह था कि किसानों की जागृति और राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधी की नेतृत्वकारी भूमिका से अभिभूत होते हुए भी वे वर्गीय सोच और वैज्ञानिक चिन्तन के पक्षधर थे और यह पक्षधरता क्रमशः ज्यादा से ज्यादा मुखर और विचारसम्मत होती चली गयी थी। वर्णाश्रम और सनातन धर्म के प्रति गाँधी की पक्षधरता के विपरीत उन्होंने ब्राह्मणधर्म की कटु आलोचना की थी। उनका आर्थिक चिन्तन गाँधी से ज्यादा से ज्यादा दूर होता चला गया था। गाँधीवाद के अमली रूप के अन्तरविरोधों और गाँधीवादी अभिजातों के आचरण को उजागर करने में उन्होंने कभी कोई छूट नहीं दी। अपने निजी जीवन में वे नास्तिक थे और हर तरह के धार्मिक कर्मकाण्ड के विरोधी थे। इन तथ्यों की पहले भी बारं-बार चर्चा होती रही है और हाल ही में **वीरेन्द्र यादव** ने भी अपने एक लेख 'कुपाठ और विरोध के शोर में प्रेमचन्द' (तद्‌भव, अगस्त 2004) में इनका विस्तार से उल्लेख किया है।

प्रेमचन्द के राजनीतिक विचारों में निहित अन्तरविरोधों की ऐतिहासिक विवेचना की जानी चाहिए, लेकिन तथ्यों के प्रति ईमानदार रुख अपनाना ज़रूरी है। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि किसी रचनाकार की रचना पर निर्णय उसके राजनीतिक विचारों के आधार पर नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि यह देखा जाना चाहिए कि उसके द्वारा किया गया सामाजिक यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन कितनी वस्तुपरकता के साथ सामाजिक अन्तरविरोधों को और उसके प्रमुख पक्षों को प्रतिबिम्बित करता है, समाज-विकास की गतिकी को वह किस हद तक आत्मसात् और प्रस्तुत कर पाता है!

* *

प्रेमचन्द को गाँधीवादी सिद्ध करने के अतिरिक्त दलित लेखकों और उनके कुछ गैरदलित बड़बोले समर्थकों की आलोचना का एक आधार-तर्क यह भी है कि दलित जीवन के यथार्थ का प्रामाणिक चित्रण केवल एक दलित ही कर सकता है। यदि सचमुच ऐसा ही होता तो अश्वेतों के जीवन और संवर्ष पर **हावर्ड फास्ट** *'फ्रीडम रोड'* जैसी महान कृति की रचना नहीं कर पाते और काउण्ट तोल्स्तोय रूसी किसानों के जीवन के प्रामाणिक चित्र नहीं प्रस्तुत कर पाते और न ही 'आन्ना कारेनिना' में वे स्त्री-प्रश्न को उतनी महान अभिव्यक्ति ही दे पाते। वर्ग-अपचयनवाद (क्लास-रिडक्शनिज़्म) की तर्ज़ पर ही यह एक किस्म का वर्ण-अपचयनवाद ही है। इसके हिसाब से सिर्फ दलित दलितजीवन पर, सवर्ण सवर्णजीवन पर, मज़दूर मज़दूरों के बारे में, मध्यवर्ग मध्यवर्ग के बारे में आधिकारिक ढंग से, उसके पक्ष से, लिख सकता है। ऊपर हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि किस प्रकार पूँजीवादी युग में सच्चे कलाकार अपनी रचनाओं में अपने राजनीतिक विचारों के साथ ही अपने वर्ग-मूलों का भी अतिक्रमण करते रहे हैं। लेकिन प्रेमचन्द की इस आधार पर की जाने वाली आलोचना की आलोचना को और व्यापक और बोधगम्य बनाने के लिए ज़रूरी है कि 'भोगे गये यथार्थ' 'अनुभव की प्रामाणिकता' जैसे पुराने, घिसे हुए नारों-फिकरों की एक बार फिर चर्चा की जाये, जिन्हें दलित लेखकों ने दशकों पुराने नयी कहानी आन्दोलन के मध्यमवर्गीय रोमांटिक सूत्रधारों से उधार लिया है। यथार्थ के वस्तुपरक अवगाहन के लिए उसका प्रत्यक्ष भोक्ता होना अनिवार्य शर्त है - यह संकीर्ण अनुभववाद वस्तुतः यथार्थवाद नहीं बल्कि प्रकृतवाद का बुनियादी तर्क है, जिसका दार्शनिक आधार बुर्जुआ प्रत्यक्षवाद का दर्शन है। यदि भोगे गये यथार्थ से दूरी लेकर, कुछ समय लेकर, उसके बारे में धारणा न बनाई जाये तो वह धारा वस्तुपरक नहीं हो सकती। निकट से किसी भी वस्तु या

परिघटना को खण्ड-खण्ड में ही जाना जा सकता है, समग्रता में नहीं। इसके बारे में कई बोध (परसेप्शन) बनाये जा सकते हैं, पर धारणा (कंसेप्शन) नहीं बनायी जा सकती। इसके लिए दक्-काल गत दूरी लेना आवश्यक होता है। इसके विपरीत, कई बार प्रेक्षक की स्थिति भोक्ता से भी अधिक वस्तुपरक हो सकती है। निस्संदेह, भोक्ता होने के बाद यदि हम प्रेक्षक की तरह दूरी ले सकें तो वह ज्यादा अनुकूल स्थिति होगी, लेकिन वस्तुपरक ढंग से धारणा बनाने की यह अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती।

सवर्ण जाति का एक सामाजिक कार्यकर्ता सही मायने में जातिच्युत होकर दलित खेत-मज़दूरों की बस्ती में जाकर काम करता है और उसके जीवन और संघर्षों से जुड़ता है तो उसके आर्थिक शोषण के साथ ही सामाजिक-जातिगत अपमान के बारे में वह उस दलित अफसर, प्रोफेसर या बुद्धिजीवी से अधिक जानता-समझता है जो दलित होने के दंश को अपने समाज में झेलने के बावजूद आम दलित मेहनतकशों के जीवन से काफी दूर हो चुका है। स्वानुभूति की प्रामाणिकता तभी हो सकती है, जब भोक्ता भोगी गई घटनाओं के वस्तुपरक विश्लेषण में सक्षम हो और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उक्त घटना की मूलकारक सामाजिक प्रक्रिया को समझ पाने में सक्षम वैज्ञानिक-ऐतिहासिक जीवन-दृष्टि और पद्धति भोक्ता के पास न हो। स्वानुभूति जीवन-दृष्टि का विकल्प नहीं हो सकती, न ही स्वानुभूति की बात करते हुए तदनुभूति (एम्पैथी) को सिरे से खारिज किया जा सकता है। स्वानुभूति पर अतिरिक्त बल देने के कारण ही दलित साहित्य और दलित राजनीति के पास आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया या आत्मरक्षा की मुद्रा तो है, इसी व्यवस्था से रियायतें हासिल करने के तर्क तो हैं, या दलितों के अलग गाँव बसाने या धर्मान्तरण जैसे यूटोपियाई विकल्प तो हैं, लेकिन मुक्ति की ऐसी कोई परियोजना नहीं है जो जातिप्रथा को जड़मूल से समाप्त करने का व्यावहारिक मार्ग सुझाती हो।

भोगे गये यथार्थ की प्रामाणिकता पर अतिरिक्त बल देने वाले कुत्सित समाजशास्त्रीय नजरिए की खतरनाक परिणतियों पर सोचने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से हम **ग्योर्गी लूकाच** की प्रसिद्ध पुस्तक **'समकालीन यथार्थवाद'** से एक लम्बा उद्धरण देना चाहेंगे, जहाँ उन्होंने यथार्थ-चित्रण की दो प्रविधियों - 'बाहर से' उद्‌घाटन और 'भीतर से' उद्‌घाटन की विस्तृत चर्चा की है :

''इसमें (यानी इन दो प्रविधियों में - का.) मानव चरित्र की सतही और गहरी पकड़ में भेद का सवाल नहीं है। स्विफ़्ट और साल्तिकोव-श्चेद्रिन जैसे महान व्यंग्यकारों ने हमेशा चरित्र को 'बाहर से' ही देखा। वास्तव में अपने व्यंग्य का निशाना बनी दुनिया की तमाम आत्मगत जटिलताओं में जाने से इंकार करना अच्छी व्यंग्यात्मक प्रातिनिधिकता की पूर्वशर्त है। लेकिन मैं जिस विरोध की बात कर रहा हूँ, वह अलग है। ''बाहर'' की पद्धति से एक लेखक व्यक्ति और व्यक्तिगत द्वन्द्वों पर आधारित एक प्रातिनिधिकता हासिल करता है और इस आधार से वह व्यापक सामाजिक अर्थवत्ता पर पहुँचता है। ''अन्दर'' की पद्धति सामाजिक अन्तरविरोधों के बीचोंबीच एक आर्किमिडियन बिंदु खोजने की कोशिश करती है और फिर अपनी प्रातिनिधिकता को इन अन्तरविरोधों के विश्लेषण पर आधारित करती है।''

''अनेक यथार्थवादी लेखक इन दोनों की पद्धतियों का प्रयोग करते हैं और ये दोनों पद्धतियाँ एक ही कलाकृति में साथ-साथ उपस्थित हो सकती हैं। डिकेंस इसका उदाहरण है। उसने अपने निम्नवर्गीय चरित्रों का उद्‌घाटन **अंदर से** किया है तथा उच्च और मध्यवर्गीय चरित्रों का **बाहर से**। हो सकता है डिकेंस एक अपवाद हो। लेकिन यदि हम परिवेश की सामाजिक उत्पत्तियों का अध्ययन करना चाहें तो इसका उदाहरण काफ़ी शिक्षाप्रद हो सकता है। यह स्पष्ट है कि एक लेखक का समाज का अपना अनुभव जिस वर्ग पर आधारित होगा, वह उसकी आंतरिक तस्वीर प्रस्तुत करने की कोशिश करेगा। वहीं दूसरे वर्गों को बाहर से देखा जायेगा। लेकिन यह केवल एक सामान्यीकरण है। मसलन, तोल्स्तोय की विश्वदृष्टि शोषित रूसी

किसान जनता के काफी करीब है। लेकिन वे निस्संदेह कुलीन और अभिजात वर्ग के कुछ हिस्सों का चित्रण अंदर से करते हैं।''

लूकाच ने आगे यह चर्चा की है कि सभी लेखक अपने निकटतम अनुभव की दुनिया को प्राय: अंदर से प्रस्तुत करते हैं लेकिन महान यथार्थवादियों के ''आंतरिक'' ज्ञान की पहुँच प्राय: इस सीमा का अतिक्रमण करती है। और हमें यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि प्रेमचन्द को महान यथार्थवादियों की इस कोटि में रखा जा सकता है।

लूकाच के उक्त लम्बे उद्धरण के पीछे हमारा मन्तव्य यही है कि भोगे गये यथार्थ की एकमात्र प्रामाणिकता की जो शर्त दलित जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए प्रस्तुत की जाती है और फिर जिस कसौटी पर प्रेमचन्द को भी खारिज कर दिया जाता है,उसके सतही, यांत्रिक, एकांगी और कुत्सित समाजशास्त्रीय चरित्र को भली भाँति पहचाना और समझा जाना चाहिए।

* *

लूकाच का कहना था कि, ''अन्य क्षेत्रों की तरह साहित्य में भी वर्तमान की आलोचनात्मक समझ ही अतीत की समझ की कुंजी है।'' वर्तमान समाज में दलित प्रश्न की केन्द्रीय अन्तर्वस्तु और इसके आधार को समझ पाने में दलित लेखकों की असफलता ही उन्हें प्रेमचन्द के युग के दलित प्रश्न को नहीं समझने देती और उन्हें प्रेमचन्द की अविवेकी आलोचना के मुकाम तक पहुँचा देती है। आज के पूँजीवादी समाज में दलित-प्रश्न का केन्द्रीय सारतत्व उजरती गुलामी (वेज-स्लेवरी) है। क्रमिक विकास के रास्ते (भूमि सम्बन्धों में प्रशियाई जुंकर टाइप रूपान्तरण के रास्ते से) विकसित भारत के रुग्ण-विकलांग पूँजीवाद ने क्रान्तिकारी जनवादी मूल्यों के सृजन-पोषण के बजाय सभी मध्ययुगीन औपनिवेशिक मूल्यों-संस्थाओं को अपना लिया। पहले के बंधुआ गुलाम दलितों का 95 प्रतिशत हिस्सा आज पूँजी का उजरती गुलाम है, जिसके बर्बर शोषण के साथ ही सामाजिक उत्पीड़न पार्थक्य और अपमान की पुरानी प्रक्रिया आज भी जारी है। मात्र पाँच प्रतिशत दलित आबादी पूँजीवादी सुधारों की प्रक्रिया में खुशहाल मध्यवर्ग में शामिल हो गयी है जो आर्थिक आधार पर अपने को ठीक-ठाक महसूस करती है, लेकिन सामाजिक अपमान और पार्थक्य को शिद्दत से महसूस करती है और इसलिए इस प्रश्न पर जोर-शोर से आवाज़ उठाती हुई दलित उत्पीड़न के आर्थिक आधार के विश्लेषण का मुखर विरोध करती है या उसके प्रति उपेक्षा का रुख अपनाती है। यह पाँच फीसदी खुशहाल मध्यवर्गीय दलित आबादी यह नहीं समझ पाती कि जब तक 95 प्रतिशत सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा दलित आबादी उजरती गुलामी की बेड़ियों से मुक्त नहीं होगी (और ऐसा वह अन्य जातियों के मेहनतकशों के साथ मिलकर ही कर सकती है) तब तक दलित मध्यवर्ग के सामाजिक अपमान और पार्थक्य की स्थिति को भी समाप्त नहीं किया जा सकता। यानी पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष के एजेण्डे पर दलित प्रश्न की उपस्थिति अनिवार्य है और दलित प्रश्न को पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष से जुड़ना ही होगा। वर्तमान समय में दलित प्रश्न की इस केन्द्रीय कड़ी को नहीं पकड़ पाने वाले दलित लेखक औपनिवेशिक प्राक्-पूँजीवादी संरचना में भी दलित प्रश्न के सारतत्व को नहीं पकड़ पाते। ब्रिटिश भारत में दलित-उत्पीड़न का मूल आधार वह अर्द्धसामंती भूमि-सम्बन्ध था जिसके अन्तर्गत बँधुआ-बेगार दलितों की सहस्राब्दियों पुरानी गुलामी यथावत् मौजूद रही। निस्सन्देह ब्राह्मणवाद की वैचारिक-सामाजिक शक्ति उनकी स्थिति को बनाये रखने वाली सबसे प्रचण्ड मनोगत शक्ति थी, लेकिन इस ब्राह्मणवाद का आधार भी प्राक् पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों की निरन्तरता में ही मौजूद था। मार्क्सवादियों पर आर्थिक अपचयनवाद की तोहमत लगाते हुए अम्बेडकरवादी दलित लेखक ब्राह्मणवाद की आलोचना और दलित जीवन का यथातथ्य चित्रण करते हुए न तो अतीत के सन्दर्भ में सामन्ती भूमि-सम्बन्धों को, न ही आज के सन्दर्भ में पूँजीवादी उजरती गुलामी को,

चर्चा-आलोचना के केन्द्र में लाते हैं। दलित जीवन के आर्थिक पहलू को यदि उसकी रचना कहीं छूती भी है तो उत्पादन-प्रक्रिया के किसी अलग-थलग ब्योरे के रूप में या फिर इस तरह के बचकाने काल्पनिक समाधान के रूप में कि दलितों को अपने अलग गाँव बसाने चाहिए, जैसा कि मोहनदास नैमिशराय की एक कहानी में दिखलाया गया है। ऐसा इसलिए कि डा. अम्बेडकर ने भी कभी यह समाधान सुझाया था। इसी पोली-दलदली वैचारिक ज़मीन पर खड़े होकर हिन्दी के दलित लेखक प्रेमचन्द की आलोचना करते हैं और मुद्राराक्षसों की बिरादरी उनकी हौसला-अफजाई करती है। ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम व्यवस्था और दलितों के सामाजिक अपमान-पार्थक्य की निर्मम आलेचना प्रेमचन्द भी करते हैं, लेकिन वे यहीं तक रुके नहीं रहते। वे उन अर्द्धसामंती भूमि-सम्बन्धों का भी विरोध करते हैं जो उनके समय में ब्राह्मणवादी मूल्यों-संस्थानों का बुनियादी आधार था। प्रेमचन्द जहाँ दलित जीवन के यथार्थ को सीधे विषय नहीं बनाते, वहां भी वे भूमि सम्बन्धों पर सवाल उठाते हुए और रैडिकल भूमि-सुधार की बात करते हुए काश्तकार किसानों की समस्या के साथ ही दलित प्रश्न के समाधान की परियोजना भी प्रस्तुत करते नज़र आते हैं। प्रेमचन्द ने जाति के उन्मूलन के प्रश्न को व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में और पूँजीवादी-जनवादी क्रान्ति की व्यापक परियोजना के एक बुनियादी संघटक अवयव के रूप में देखा, जबकि आज के अधिकांश दलित लेखक उसे एक अलग-थलग, स्वतंत्र-स्वायत्त सामाजिक प्रश्न के रूप में देखते हैं और उनकी रचनाएँ लम्बे समय से उत्पीड़न के यथातथ्य ब्यौरों-विवरणों, क्रोध और आवेश की अभिव्यक्तियों, प्रतिरक्षात्मक उपक्रमों और यूटोपियाई समाधानों के मुकाम पर ठिठकी हुई हैं। ठहराव के जिस मुकाम पर वे खड़े हैं, वहाँ से, आश्चर्य नहीं कि ज्यादा उग्र क्रान्तिकारी दलितवादी बनने के लिए कुछ लोग 'रंगभूमि'-दहन की घोषणा कर डालें। और फिर बची-खुची कोर-कसर पूरी करने के लिए मुद्राराक्षस जैसे लोग हैं ही।

* *

जब भी आलोचना और विरोध की किसी धारा का वैचारिक आधार लम्बे समय तक कमज़ोर बना रहेगा। और उस पर पुनर्विचार की कोशिश नहीं होगी तो उसकी तार्किक परिणति के तौर पर ऐसा कोई विचारहीन लेकिन आत्मघाती प्रहसन घटित हो सकता है जैसा 'रंगभूमि-दहन-प्रसंग' और प्रेमचन्द के विरुद्ध मुद्राराक्षसी कुत्सा-वमन के रूप में घटित हुआ है।

'रंगभूमि' का विरोध करने वाले दलित साहित्य अकादमी के कर्ताधर्ताओं का कहना है कि उपन्यास में जाटव समुदाय के लोगों को 'चमार' सम्बोधित करके उन्हें अपमानित किया गया है। इन लोगों को शायद यह पता भी नहीं कि बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश में इस जाति के लोग आज भी खुद की जाति चमार या हरिजन ही बताते हैं। 'जाटव' जातिनाम से वे प्राय: परिचित भी नहीं। प्रेमचन्द की कथाभूमि जो जनपद है और 'रंगभूमि' में सामाजिक संरचना को बताने के लिए या फिर किसी पात्र द्वारा सम्बोधन के रूप में ही 'चमार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रेमचन्द का दोष यह था 1925 में पहली बार चमार दलित जाति के सूरदास को उन्होंने नायक बनाया और संघर्षशील जनता की अथक संघर्षशीलता का उसे प्रतीक बनाया। उस समय न तो दलित सम्बोधन अभी चलन में आया था, न ही हरिजन शब्द ही उतना लोकप्रिय हुआ था।

वीरेन्द्र यादव ने ऊपर उल्लिखित अपने लेख में यह बेहद प्रासंगिक प्रश्न उठाया है कि जिस समय 'निर्मला' उपन्यास को पाठ्यक्रम से बाहर निकालने वाले भगवाधारी गिरोह के मुखपत्र 'पांचजन्य' को सहसा प्रेमचन्द की चिन्ता सताने लगी है और उन्हें 'राष्ट्रवाद' का आग्रही बताते हुए अपनाने की कोशिशें तेज हो गयी हैं, ठीक उसी समय प्रेमचन्द को सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त, दलित-विरोधी, नाजी समर्थक सिद्ध करते हुए उन्हें दलितों-मेहनतकशों से छीनकर साम्प्रदायिक फासीवाद के पाले में धकेलने वालों के असली चेहरों की शिनाख्त की जानी चाहिए। अपनी मौलिक घोषणाओं को सिद्ध करने के लिए मुद्राराक्षस

ने तथ्यों में जो भयंकर शातिराना तोड़-मरोड़ किया है उसे वीरेन्द्र यादव ने बहुत अच्छी तरह से उजागर किया है, इसलिए उन बातों को यहाँ दुहराने से बेहतर यही होगा कि मित्रों से आग्रह किया जाये कि वे उस लेख को अवश्य पढ़ें। यही नहीं, मुद्राराक्षस के पैंतरापलट को भी वीरेन्द्र यादव ने अच्छी तरह से एक्सपोज़ किया है। दलितों के प्रति गैरज़रूरी अपमानजनक संबोधन और उनके जीवन के यथार्थ को शहरी मध्यवर्गीय चश्मे से देखकर किये गये विकृत-अपमानजनक वर्णन के लिए तो वास्तव में मुद्राराक्षस की कुछ कृतियों को जलाने का काम दलित साहित्य अकादमी के सूरमाओं को करना चाहिए था। गौरतलब यह भी है कि मुद्राराक्षस 'रंगभूमि' का और बड़े पैमाने पर विरोध करने का ''सद्विचार'' ठीक उसी समय उचार रहे हैं जबकि विजय मोहन सिंह प्रेमचन्द पर 'गोदान' उपन्यास में भूमि और किसानों की वास्तविक समस्या से दूर होकर गोदान की भावुक धार्मिक भूमि पर उतर आने का लांछन लगा रहे हैं और नन्दकिशोर नवल राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि के ''दुराग्रह'' को छोड़कर, मानवीय संवेदना के व्यापक दायरे के मद्देनज़र जैनेन्द्र, अज्ञेय और निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य को भी प्रेमचन्द की परम्परा में समाविष्ट करने का आग्रह कर रहे हैं।

विज्ञान और दर्शन की एक सामान्य पद्धति यह है कि चीज़ों की वास्तविक पहचान के लिए अन्य चीज़ों से उनके रिश्तों की, उनके अन्तर्सम्बन्धों की पहचान-पड़ताल की जाती है। प्रेमचन्द आज एक ही समय में कुछ नयी व्याख्याओं व पुनर्मूल्यांकनों के शिकार हो रहे हैं, कुछ नये विरोधों के निशाना बन रहे हैं और कुछ ऐसी परम्पराओं से उनके जुड़ावों के आविष्कारों हो रहे हैं, जिनके बारे में अब तक कोई सोच भी नहीं सकता था। यह सब कुछ ऐसे समय में हो रहा है जब प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की विभाजक रेखाओं को हर स्तर पर मिटाने और धूमिल करने का खेल हो रहा है और तरह-तरह से विचारधारा के प्रश्न को दरकिनार किया जा रहा है। इसलिए यह समझना कोई कठिन नहीं कि हमले का निशाना प्रेमचन्द नहीं बल्कि जनता की संस्कृति है, उसके मुक्ति संघर्ष की धारा है। जो लोग प्रेमचन्द को दलितों की ऐतिहासिक परम्परा से काटकर अलग करना चाहते हैं वे दलित-संस्कृति और दलित-मुक्ति की किसी भी परियोजना के ऐसें शत्रु हैं जो भीतर से घात करते हैं।

* *

कात्यायनी एक जाना माना नाम है। सक्रिय कार्यकर्ता, विचारक और कवि है। लखनऊ में रहती है।

प्रेमचंद के दलित

तेज सिंह

मार्क्सवादियों के दबाव में गत वर्ष संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने बड़े जोर-शोर से घोषणा की थी कि देशभर में पूरे साल प्रेमचन्द की एक सौ पच्चीसवीं जयन्ती के अवसर पर कार्यक्रम आयोजित किये जाएंगे। इस घोषणा पर ठीक से कितना अमल हुआ, यह तो नहीं बता सकते लेकिन ठीक 31 जुलाई 2004 को दिल्ली में प्रेमचन्द के साथ साहित्यिक दुर्घटना जरूर हुई थी। जंतर-मंतर पर पूर्व घोषणा के अनुसार जब कुछ दलित संगठनों ने प्रेमचन्द की चर्चित रचना 'रंगभूमि' को जलाया तब राजेन्द्र यादव के 'हंस' द्वारा आयोजित प्रेमचन्द की एक सौ पच्चीसवीं जयन्ती के अवसर पर हुई गोष्ठी में इस साहित्यिक दुर्घटना को लेकर कुछ दलितों और ग़ैर-दलित साहित्यकारों में जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई। यह इस अर्थ में नई बात थी कि पहली बार किसी विश्वप्रसिद्ध कथाकार की रचना को जलाया गया था।

निस्संदेह, प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य की नींव हैं और उनकी रचनाएं इस नींव की ठोस पत्थर जिनपर उनके विरोधियों ने कच्ची-पक्की ईटों से हमला बोल दिया। लेकिन प्रेमचन्द और उनकी रचनाएं सामाजिक यथार्थ की मज़बूत जमीन पर बनी थीं कि उनकी हमलावरी कच्ची-पक्की ईंटें टूटकर इधर-उधर बिखर गयीं और प्रेमचन्द का कुछ भी न बिगाड़ पाईं। क्योंकि इन ठोस पत्थरों की नींव पर ही प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं की एक अलग और विशिष्ट पहचान बनाई। इसी तरह इन रचनाओं में आए चरित्रों की भी अपनी अलग और विशिष्ट पहचान होनी चाहिए। ठीक जैसे सवर्ण समुदायों में 'ब्राह्मण' और दलित समाज में 'जाटव' - लेकिन प्रेमचन्द की नज़रों में च। प्रेमचन्द को इन दोनों समुदायों के लोगों से विशेष लगाव है और यह लगाव आकस्मिक नहीं बल्कि भारत के जातियों में विभाजित समाज की कुछ खास वजहों से है। इसलिए इन दोनों समुदायों के लोग प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में प्रतिनिधि चरित्रों के रूप में आए हैं जिन्हें प्रेमचन्द ने एक-दूसरे के पक्के विरोधी यानी जानी दुश्मन के रूप में आमने-सामने रखकर विकसित किया है। इन दोनों का पक्का विरोध भी जातिव्यवस्था को लेकर ही है।

इसलिए इन दोनों समुदायों के लोगों ने प्रेमचन्द पर गम्भीर आरोप लगाए हैं कि उन्होंने उनको बुरी नीयत और गलत तरीके से अपने साहित्य में चित्रित किया है। सबसे पहले ब्राह्मणों ने ही प्रेमचन्द पर ऐसे आरोप लगाकर उनका विरोध करना शुरू कर दिया था लेकिन अब उस विरोध में दलित भी शामिल हो गए

हैं। प्रेमचन्द ने कभी सपने में भी नहीं सोचा होगा कि एक-दूसरे के पक्के दुश्मन (ब्राह्मण और दलित) आज उनके इतने विरोधी हो जाएंगे। खासतौर पर दलित वर्ग के कुछ विशेष बुद्धिजीवी। यह भी सही है कि सबसे पहले ब्राह्मणों ने ही प्रेमचन्द का कड़ा विरोध करते हुए उन्हें ब्राह्मण-विरोधी घोषित किया था। यह सब प्रेमचन्द के समय में ही उनके सामने शुरू हो गया था। प्रेमचन्द ने खुद इस संबंध में कई जगह पर लिखा है।

मुझे याद है जब प्रेमचन्द की जन्म शताब्दी मनाई जा रही थी तो दिल्ली यूनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग की ओर से सन् 1980 में आयोजित गोष्ठी में एक वक्ता ने डॉ. नगेन्द्र और जैनेन्द्र कुमार की उपस्थिति में प्रेमचन्द पर ऐसे आरोप लगाए थे कि उन्होंने अपनी रचनाओं में कायस्थों और पटवारियों का तो पक्ष लिया है लेकिन ब्राह्मणों का गलत ढंग से चित्रण करके मज़ाक उड़ाया है। हालांकि उसी समय इस वक्तव्य का तीव्र विरोध हुआ था जिस तरह आज 'रंगभूमि' के जलाए जाने पर हुआ है।

प्रेमचन्द के जन्मदिन और उनकी जयन्तियों ने ही उनके विरोधियों को बार-बार ऐसे अवसर उपलब्ध कराए हैं जिन पर आज चर्चा हो रही है। लेकिन दलितों को ऐसे अवसर बहुत बाद में ही जाकर मिले। उस समय भी नहीं मिले जब 31 जुलाई 1992 को 'हंस' की ओर से 'दलित चेतना : विशिष्ट सन्दर्भ प्रेमचन्द' विषय पर नई दिल्ली में एक आयोजन हुआ था जिसकी वज़ह से प्रेमचन्द दलित-विमर्श के केन्द्र में आए थे। लेकिन जब ग़ैर-दलितों ने प्रेमचन्द के साहित्य में जबरदस्ती दलित चेतना के बीच खोजने शुरू किये तो दलितों ने विरोध करना शुरू कर दिया। यही वह बिन्दु है जहां से प्रेमचन्द दलितों के निशाने पर आने लगे। दलित साहित्य के विकास के बावजूद जब ग़ैर-दलित विद्वानों द्वारा जानबूझकर दलित साहित्य का विरोध करते हुए उनके स्थान पर प्रेमचन्द सहित अन्य ग़ैर-दलित साहित्यकारों के साहित्य को दलित साहित्य में स्थान देने की पुरजोर कोशिशें की जाने लगी तो दलितों ने उनके विरोधस्वरूप प्रेमचन्द सहित अन्य ग़ैर-दलित साहित्यकारों पर निशाना साधना शुरू कर दिया। प्रेमचन्द बड़े साहित्यकार थे और उनके साहित्य के विरोध का अर्थ था उनके सभी समर्थकों को विचलित कर देना।

डॉ. विमलकीर्ति ने अक्टूबर, 1993 में नागपुर शहर में 'अखिल भारतीय हिन्दी दलित लेखक साहित्य-सम्मेलन' का आयोजन करके दलित लेखकों को विचार-विमर्श का अच्छा अवसर दिया। इस अवसर का लाभ उठाते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने खूब सोच-समझकर अपना पहला निशाना प्रेमचन्द पर ही साधा और उनकी प्रसिद्ध कहानी 'कफन' को दलित विरोधी सिद्ध करके ग़ैर-दलित साहित्य पर भी अनेक सवाल दागे। इन सवालों पर सबसे तीखी प्रतिक्रिया 'समकालीन जनमत' पत्रिका में हुई। ओमप्रकाश वाल्मीकि का आरोप था कि प्रेमचन्द ने 'कफ़न' कहानी च को बदनाम करने के लिए ही लिखी है। यह अलग बात है कि प्रेमचन्द पर ऐसा आरोप लगाने वाले खुद ओमप्रकाश वाल्मीकि आज च को बदनाम करने वाली 'शवयात्रा' जैसी दलित विरोधी कहानी लिख रहे हैं।

लगभग एक दशक बाद पुन: अम्बेडकरवादियों को प्रेमचन्द की एक सौ पच्चीसवीं जयन्ती ने फिर वही अवसर दे दिया जिसकी वे तलाश में थे। भारतीय दलित साहित्य अकादमी के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित संगठनों के सहयोग से 31 जुलाई 2004 को प्रेमचन्द की बहुचर्चित रचना 'रंगभूमि' को जलाकर अपना विरोध जाहिर कर दिया। उनका मत है कि प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में चालीसों बार आपत्तिजनक जातिसूचक शब्द 'चमार' का प्रयोग करके जाटव समुदाय के लोगों को अपमानित किया। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि मुंशी प्रेमचन्द से हमारी कोई व्यक्तिगत दुश्मनी नहीं है, पर अपनी रचनाओं में दलित व शूद्र समाज के लोगों का जो चरित्रहरण उन्होंने किया है, हम उसके खिलाफ हैं। क्योंकि प्रेमचन्द ब्राह्मण को 'गरीब पंडित जी' कहकर सम्बोधित करते हैं, वहीं शूद्र को 'सूरदास चमार।'

उनकी दृष्टि में यह प्रेमचन्द को जातिवादी, वर्णवादी और ब्राह्मणवादी रवैया रहा है। खासतौर पर उनकी आपत्ति 'कफन' और 'रंगभूमि' आदि प्रसिद्ध रचनाओं को लेकर है। डॉ. सुमनाक्षर की दृष्टि में 'कफन' तो च जाति का खुला चरित्रहनन है जब बाप-बेटे पत्नी के मर जाने पर उनके कफन के लिए पैसे मांगकर लाते हैं और उसकी दारू पी जाते हैं। इसी तरह प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में सूरदास को बेकार, बेईमान हरामखोर और अधर्मी दिखाकर दलित व शूद्रों का खुला अपमान किया है और जो उनके मान-सम्मान पर सीधा प्रहार करता है।

डॉ. सुमनाक्षर ने प्रेमचन्द पर एक और गम्भीर आरोप लगाया है कि प्रेमचन्द ने उच्चवर्ण ब्राह्मणों की वाहवाही लूटने और उनसे अपनी रचनाओं को 'साहित्य' के रूप में मान्यता लेने के लिए ही अछूत व दलित वर्ग को चरित्रहीन, संवेदनहीन, निर्लज्ज, निर्जीव, निरात्मा, निगुरा, नीच-कमीन दिखाकर ऐसा चरित्रहनन किया है जिससे ब्राह्मणों ने उन्हें उपन्यास सम्राट की उपाधि से नवाजा था।

इन्हीं सब कारणों से कुछ अम्बेडकरवादी लेखकों ने प्रेमचन्द और उनकी रचनाओं को दलित विरोधी सिद्ध करना शुरू कर दिया। प्रश्न उठता है कि क्या ब्राह्मणों ने भी प्रेमचन्द को इन्हीं सब कारणों से ब्राह्मण विरोधी रचनाकार कहा है या उसके कुछ और ठोस कारण रहे हैं, जिन पर अभी तक चर्चा नहीं की गई है। अगर प्रेमचन्द ब्राह्मण विरोधी हैं तो उन्हें कम-से-कम दलित समर्थक जरूर होना चाहिए। एक प्रेमचन्द को ब्राह्मणवादी मानते है तो दूसरे उन्हें ब्राह्मण-विरोधी। इसे दर्शनशास्त्र में वितण्डावाद कहते हैं। यह कैसे सम्भव है कि एक ही समय में एक लेखक ब्राह्मणवादी भी हो और ब्राह्मणविरोधी भी। या तो वह ब्राह्मणवादी होगा या फिर ब्राह्मणविरोधी।

अगर कुछ अम्बेडकरवादियों की यह बात मान भी ली जाए कि प्रेमचन्द ब्राह्मणवादी थे तो फिर उन्हें ब्राह्मणों की वर्णव्यवस्था का भी समर्थक होना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणवाद का मुख्य आधार तथाकथित हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था ही है। लेकिन प्रेमचन्द ने वर्णव्यवस्था का कभी समर्थन ही नहीं किया तो फिर वे ब्राह्मणवादी कैसे हो गए? इसलिए प्रेमचन्द के दलित और ब्राह्मण-संबंधी विचारों को तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना चाहिए तभी हम प्रेमचन्द के अंतर्विरोधों और उससे उत्पन्न अनेक समस्याओं की ठीक-ठीक पहचान कर सकेंगे। प्रेमचन्द के सामाजिक-विसंगतियों से संबंधित विचारों को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से पूरी तरह काटकर देखने पर हम वही गलती करेंगे जो कुछ अम्बेडकरवादी लेखकों द्वारा प्रेमचन्द और डॉ. अम्बेडकर को आमने-सामने रखकर की गई हैं।

डॉ. अम्बेडकर सन् 30, तक दलित आन्दोलन को उन ऊंचाइयों तक ले जाने में सफल हो गए थे जहां वे दावे के साथ कह सकते थे कि वे ही दलित वर्ग के एक मात्र प्रतिनिधि हैं। लेकिन समस्या यह थी कि गांधी हिन्दुओं के साथ-साथ दलितों का भी प्रतिनिधित्व करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने डॉ. अम्बेडकर की चुनौती को खत्म करने के लिए अछूतोद्धार आन्दोलन चलाकर मंदिर प्रवेश को मुख्य मुद्दा बनाया। प्रेमचन्द भी यहां तक आते-आते अछूत समस्या पर गम्भीरता से विचार करने लगे थे। लेकिन इस समस्या के समाधान का कोई निश्चित हल उन्हें नहीं सूझ रहा था। गांधी के अछूतोद्धार आन्दोलन से प्रभावित होकर 'हंस' और 'जागरण' में इस समस्या पर विचार कर रहे थे और कहानियों में भी उन विचारों को अभिव्यक्ति दे रहे थे।

यही वजह है कि प्रेमचन्द हिन्दू समाज में व्याप्त सामाजिक-भेदभाव के प्रबल समर्थकों-ब्राह्मण, पोंगापंडित और कट्टर सनातनधर्मियों के कामों की कटु आलोचना कर रहे थे। जब अछूतोद्धार कार्यक्रम के तहत बनारस गए गांधी का काशी के शास्त्राभिमानी पंडितों ने काले झंडे दिखाकर स्वागत किया तब प्रेमचन्द ने शास्त्रों के बल पर हिन्दू जाति की रक्षा करने का दावा करने वाले इन पोंगापंडितों पर कटाक्ष करते हुए लिखा कि 'काशी की जनता खूब जानती है कि सनातनधर्मी और वर्णाश्रम धर्म के नाम पर होहल्ला मचाकर

देश की सामाजिक जागृति और राजनीति की प्रगति में बाधा पहुंचाने और रोड़े अटकाने वाले काशीस्थ पंडित कितने पानी में हैं। काशी की जनता यह भी देखती है कि वे लोग शास्त्रों के बल पर कहां तक हिन्दू जाति की रक्षा कर रहे हैं।'[1]

उस समय प्रेमचन्द गांधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम से प्रभावित होकर उन्हें हिन्दू जाति का सच्चा रक्षक समझते हुए मंदिर प्रवेश का विरोध कर रहे इन काशीस्थत पंडितों को चेतावनी दे रहे थे कि 'यदि विश्वनाथ जी का मंदिर अछूतों के लिए नहीं खुलेगा तो अछूत भाइयों के साथ मिलकर करोड़ों हिन्दू इस काशी में दूसरे मंदिर का निर्माण करके उसी में विश्वनाथ का आवाहन-पूजन करेंगे, क्योंकि विश्वनाथ किसी एक जाति या सम्प्रदाय के देवता नहीं हैं, यह तो प्राणिमात्र के पिता और नाथ हैं; उन पर सबका दखल-कब्जा बराबर-बराबर है।'[2] लेकिन विश्वनाथ मंदिर पर अपना एकाधिकार मानने वाले काशी के पंडित प्रेमचन्द के इस तर्क से सहमत नहीं थे और 'वर्णाश्रम स्वराज्य संघ' की ओर से दो ढाई सौ संस्कृत के छात्रों को इकट्ठा करके नारे लगवा रहे थे कि 'अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है।' इस जुलूस में पुरी के शंकराचार्य के शामिल होने पर भी प्रेमचन्द बहुत आहत हुए थे।

इसके बावजूद प्रेमचन्द गांधी की ही तरह दलितों के मंदिर प्रवेश से अछूत समस्या का समाधान खोज रहे थे जबकि उस समय अम्बेडकर मंदिर-प्रवेश से अछूत समस्या के समाधान की अवधारणा को ही खारिज़ करके आगे बढ़ चुके थे। एक तरफ काशी के पंडित अछूतों के मंदिर-प्रवेश को पाप मानकर गांधी के अछूतोद्धार आन्दोलन का विरोध कर रहे थे तो दूसरी तरफ प्रेमचन्द अभी भी अछूतों के लिए मंदिर प्रवेश पर अड़े हुए थे जिसका परिणाम यह निकला कि दलित पंडित-पुरोहितों द्वारा और ज्यादा अपमानित और प्रताड़ित होने लगे। 'मंदिर' कहानी में पांडे-पुरोहितों द्वारा दलितों को प्रताड़ित और अपमानित करने की घटना चरम पर पहुंच जाती है। 'मंदिर' कहानी की सुखिया का यही अपराध था कि वह अपने एकमात्र बीमार बच्चे को इस उम्मीद के साथ ठाकुर को छुआने मंदिर के अन्दर चली गई थी कि उसके स्पर्श से बच्चा ठीक हो जाएगा। लेकिन पंडित-पुरोहित की दृष्टि में सुखिया ने अब 'अनर्थ कर दिया' था जो 'मंदिर में जाकर ठाकुर जी को भ्रष्ट कर आई।' इससे उत्तेजित ठाकुर के भक्तों ने सुखिया को लातों और घूसों से मारना शुरू कर दिया। एकाएक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी जोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूटकर गिर गया और मर गया। तब दांत पीसकर सुखिया ने मंदिर-प्रवेश का ही नहीं मंदिर के ठाकुर जी में भी अनास्था और अविश्वास प्रकट करके अपना आक्रोश व्यक्त किया - 'पापियों, मेरे बच्चे के प्राण लेकर दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुर जी को छूत लग गई?...मेरे छूने से ठाकुर जी अपवित्र हो जाएंगे। मुझे बनाया, तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुर जी को छूने नहीं आऊंगी। ताले में बन्द रखो, पहरा बैठा दो।'[3]

इसके बावजूद प्रेमचन्द उसके बेटे के हत्यारे इन धर्म के ठेकेदारों और उनके ठाकुर जी पर अनास्था प्रकट करने वाली सुखिया को भगवान के दरबार में फरियाद के लिए प्रेरित करते हैं। उसके प्राण देने पर प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं - 'माता तू धन्य है। तुझ जैसी निष्ठा, तुझ जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है।'[4] प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द ऐसी निष्ठा, श्रद्धा और विश्वासभरी सदाशयता वाली टिप्पणी से दलितों को कौन-सा सामाजिक सुख पहुँचाना चाहते थे सिवाय सामाजिक प्रताड़ना, अपमान और निर्मम मौत के। प्रेमचन्द के ऐसे मंदिर प्रवेश से दलितों को क्या फायदा हुआ जिसमें उन्हें अपनी जान तक गंवानी पड़े। प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द दलितों को ईश्वरभक्त बनाकर क्यों उन्हें आस्थावाद की ओर ढकेल रहे थे जबकि दलितों का पूरा चिंतन ईश्वर विरोध पर टिका हुआ है और अनास्थावादी दर्शन पर आधारित है। मंदिर और उसमें स्थापित ईश्वररूपी हिन्दू देवी-देवताओं पर दलितों की कोई आस्था नहीं रही है और न ही

विश्वास रहा है। दलित बहुत पहले ही ईश्वर की निरर्थकता सिद्ध कर चुके हैं।

'मंदिर' कहानी सन् 27, में प्रकाशित हुई थी और प्रेमचन्द सन् 32 में उसी तरह काशी के ब्राह्मणों के दोहरे धार्मिक मानदंडों को बड़ी ईमानदारी से उद्घाटित कर रहे थे कि 'अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं... दक्षिणा लेंगे, इसमें कोई पाप नहीं, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जाएंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है'...[5] अन्तत: प्रेमचन्द 'ऐसे ठाकुर को दूर से ही नमस्कार' करके दलितों के मंदिर प्रवेश की गांधी अवधारणा से ही छुट्टी कर लेते हैं। 'मंदिर' में प्रेमचन्द के ऐसे विचार कथा-सरंचना में जगह-जगह समाए हुए हैं। पांच साल के अन्तराल में ही प्रेमचन्द का गांधी और उनके अछूतोद्धार आन्दोलन से मोहभंग हो गया था। 'हंस' 26 दिसम्बर 1932, के अंक में 'मंदिर प्रवेश ही एक समस्या को हल करेगा' शीर्षक सम्पादकीय में प्रेमचन्द लिखते हैं – 'हरिजनों की समस्या मंदिर प्रवेश से हल होने वाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएं धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं... असल समस्या तो आर्थिक हैं।'[6]

रचनाकर्म के अंतिम दौर में प्रेमचन्द अछूत समस्या के कुछ-कुछ ऐसे ही समाधान की तरह कदम बढ़ा चुके थे और मानने लगे थे कि अछूतों की समस्या केवल सामाजिक समस्या ही नहीं है बल्कि वह आर्थिक समस्या भी है। इस तरह ब्राह्मणवाद दलितों की सामाजिक-आर्थिक उन्नति और प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। इसलिए उन्होंने ब्राह्मणों के दोहरे सामाजिक पाखंड और धार्मिक कर्मकांड पर निरंतर प्रहार किए। मुझे लगता है कि ब्राह्मण प्रेमचन्द को दो कारणों से ब्राह्मणविरोधी बता रहे थे। एक, प्रेमचन्द गांधी के अछूतोद्धार आन्दोलन से प्रभावित होकर ब्राह्मणों के पवित्र मंदिरों में दलितों का प्रवेश करा रहे थे जिससे उनके पवित्र मंदिर अपवित्र हो रहे थे और दूसरा, प्रेमचन्द अपनी रचनाओं और पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में ब्राह्मणों के सामाजिक-धार्मिक पाखंड को उद्घाटित करके पंडितों का चरित्रहनन करके मजाक़ उड़ा रहे थे। कम से कम उस समय ब्राह्मणों को ऐसा ही लग रहा होगा। शायद प्रेमचन्द को ब्राह्मण-द्रोही बताने के पीछे ये ही दो कारण रहे होंगे।

प्रेमचन्द ने जनवरी 1934 के 'हंस' में 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं' नामक लेख में श्रीयुत ज्योति प्रसाद 'निर्मल' द्वारा उनकी की कहानियों को ब्राह्मण-द्रोही बताए जाने पर लिखा था कि इन कहानियों को छापने वाले सभी सम्पादक ब्राह्मण थे और उन्होंने उन पर कोई प्रतिवाद नहीं किया था। तब प्रेमचन्द की जिन दो कहानियों पर खासतौर पर उन्होंने जो आपत्ति की थी, वे 'ब्रह्मभोज' (शायद 'ब्रह्म का स्वांग') और 'सत्याग्रह' आदि हैं। प्रेमचन्द ने उसी लेख में अपना स्पष्टीकरण दिया कि 'हमने चेष्टा की है कि पाठक के मन में उनके प्रति द्वेष न उत्पन्न हो, हां, परिहास द्वारा उनकी मनोवृत्ति दिखाई है।'[7]

ब्राह्मणों के सामाजिक-धार्मिक पाखंड का सबसे सटीक उदाहरण 'ब्रह्म का स्वांग' कहानी है जिसकी स्त्री पात्र वृंदा (ब्राह्मण) को लगता है कि अपने निजी बन्धुओं के सिवाय अन्य ब्राह्मणों का भी पकाया भोजन न करने वाली महान ब्राह्मण जाति 'कायस्थों, बनियों, मुसलमानों' और दलितों के साथ बैठकर खाना खाने से 'अधोगति को ही नहीं पहुंच गई है' बल्कि ब्राह्मण 'इसे जातीय गौरव, जातीय एकता का हेतु समझता है' जो उसकी नज़र में ठीक नहीं है। इसलिए उस 'सुपात्र ब्राह्मण की कन्या' को लगता है कि 'हमारे विचारों, का हमारे सिद्धांतों का, यहां तक कि हमारे धर्म का भी कुछ मूल्य नहीं रहा।'[8] ग़ैर-हिन्दुओं सहित दलितों केसाथ खाने-उठने-बैठने से उसे हिन्दुओं के सिद्धातों, विचारों और धर्म का अवमूल्यन नज़र आता है। इस पर पति पुरुष ने धर्मोपदेश दिया – 'यह कितना घोर अन्याय है कि हम सब एक ही पिता की सन्तान होते हुए एक-दूसरे से घृणा करें, ऊंच-नीच की व्यवस्था में मग्न रहे... यथार्थ में हम सब एक

हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग-अलग घरों में जाकर भिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान आत्मा पृथक-पृथक जीवों में प्रवृष्ट होकर विभिन्न नहीं होती...।' इस कथन को सुनकर उस सुपात्र ब्राह्मण कन्या को ऐसा धर्म-ज्ञान प्राप्त हुआ कि वह दलितों के साथ उठने-बैठने के अलावा दान-धर्म भी करने लगी। पतिपुरुष ने उसे समझाया कि वे सब बातें कहने-सुनाने के लिए हैं, व्यवहार में लाने के लिए नहीं हैं तो उसने पुराने धर्मोपदेशों की याद दिलाई तो पतिपुरुष का ब्राह्मणवादी-संस्कार आखिरकार जाग ही उठते हैं और वह वर्णव्यवस्था का समर्थन करने लगता है कि 'यदि ईश्वर की इच्छा होती कि प्राणिमात्र को समान सुख प्राप्त हो तो उसे सबको एक दशा में रखने से किसने रोका था? वह ऊंच-नीच का भेद होने ही क्यों देता है?... तो इतनी महान सामाजिक व्यवस्था उसकी आज्ञा के बिना क्यों भंग हो सकती है।' प्रेमचन्द इसके बाद तुरन्त पत्नी स्त्री की मनोदशा का चित्रण इस प्रकार करते हैं – 'मेरे चित्त की क्या दशा हुई, वर्णन नहीं करती। मैं आवाक् रह गई। हा स्वार्थ! हा मायांधकार! हम ब्रह्म का भी स्वांग बनाते हैं।'[9] इस तरह प्रेमचन्द ब्राह्मणवाद पर भयंकर चोट करते हैं।

ब्रह्म से ब्राह्मण बने ब्राह्मणों के सामाजिक-धार्मिक पाखंड का दूसरा रूप प्रेमचन्द की 'सत्याग्रह' कहानी में देखा जा सकता है जिसमें हिज एक्सेलेंसी वाइसराय के बनारस आने के विरोध में कांग्रेसियों ने हड़ताल का आह्वान किया तो राजभक्त राजा ने नैतिक बल के आधार पर उसका जवाब खोजने के लिए एक ऐसे ब्राह्मण की जरूरत महसूस की जो 'व्रत करें कि दुकानें न खुली तो मैं प्राण दे दूंगा', के सिद्धांत पर अमल करे। राजभक्त राजा से रुपये लेकर पंडित मोटेराम शास्त्री ने इसी आधार पर अनशन शुरू कर दिया लेकिन एक ही रात में शरीर और मन जवाब देने लगा। कांग्रेसी मंत्री के प्रताप से मोटेराम शास्त्री को इस धर्म-संकट से मुक्ति मिली – 'भाड़ में जाए बाजार और व्यापार। यहां किसी की चिन्ता नहीं। जब धर्म नहीं रहा तो मैंने ही धर्म का बीड़ा थोड़े ही उठाया है।' इससे उन्हें 'अलौकिक आनन्द' मिला 'जो धन के ढेरों से प्राप्त नहीं हो सकता।'[10]

प्रेमचन्द 'गोदान' में भी ऐसे ब्राह्मणों के सामाजिक-धार्मिक पाखंड का रहस्य उद्घाटित करते हुए बताते हैं कि ब्राह्मणों की एक खास विशेषता यह है कि अपवित्र और भ्रष्ट होकर भी अपने आपको धर्म-भ्रष्ट नहीं मानता, क्योंकि वह तिलक लगाकर पोथी बांचने लगता है, धर्म-संस्कार करके, अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखता है तथा 'नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित कर लेता है।' ऐसी स्थिति तब आती है जब हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में पहली बार दलित ब्राह्मणों के सामने चुनौतीपूर्ण प्रस्ताव रखते हैं – 'हम या तो आज मातादीन को च बना देंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे... तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते तो मुदा हम तुम्हें च बना सकते हैं।' प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि ब्राह्मण तो दलितों को ब्राह्मण बनाने से रहे क्योंकि ब्राह्मणों में 'वह सामर्थ्य नहीं है' जो दलितों में है। इसलिए प्रेमचन्द के दलित 'तो फिर तुम भी च बन जाओ' कहते ही मातादीन के मुंह हड्डी डालकर उसका धर्म भ्रष्ट ही नहीं करते बल्कि एक ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व भी नष्ट कर डालते हैं। प्रेमचन्द आर्य समाजियों की तरह दलितों के गले में जनेऊ डाल शुद्धिकरण का ब्राह्मणी पाखंड नहीं कर रहे थे बल्कि ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व नष्ट कर रहे थे। लेकिन मं. दातादीन ने 'मातादीन को कई सौ रुपए खर्च करने के बाद अन्त में काशी के पंडितों ने फिर से उसे ब्राह्मण बना दिया।'[11]

तब निश्चिततौर पर ब्राह्मणों को ऐसी घटनाएं अपमानजनक लग रही होंगी जिसके कारण वे प्रेमचन्द को ब्राह्मण-द्रोही बता रहे थे जबकि वही बातें दलितों को बड़ी ही क्रांतिकारी लग रही होंगी। इसलिए इससमय प्रेमचन्द ने काशी के ऐसे ही चूड़ामणियों, मार्तण्डों, विद्यावाचस्पतियों और त्रिपुंडधारी ब्राह्मणों के विषय में ठीक ही लिखा था कि 'हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक विशाल जोक की भांति उसका खून चूस रहा है और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे

बड़ी बाधा है।'[12] ऐसी स्थिति में निश्चिततौर पर ब्राह्मण प्रेमचन्द को ब्राह्मण विरोधी सिद्ध करने में कोई कसर क्यों छोड़ेंगे। लेकिन प्रेमचन्द पर ब्राह्मण विरोधी होने का आरोप लगाने वालों को यह भी सोचना चाहिए कि प्रेमचन्द का विरोध ब्राह्मण व्यक्ति से नहीं है बल्कि ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों, कर्मकांडों, पाखंडों और आचरणों से ही रहा है जिन्हें टकेपंथी पुजारी, पुरोहित और पंडित सदियों से अपनाते आए हैं। ऐसे ही ब्राह्मणवादी, कर्मकांडी, पाखंडी टकेपंथी दल के पंडे-पुरोहितों को प्रेमचन्द ने 'हिन्दू जाति का कलंक बताया था।'[13]

प्रश्न उठता है कि अगर प्रेमचन्द ब्राह्मण व्यक्ति के बजाय ब्राह्मणवाद के विरोधी थे तो उन्हें जरूर दलितों का समर्थक होना चाहिए। क्योंकि अम्बेडकरवादी लेखकों का सारा साहित्य ब्राह्मणवाद-विरोधी चेतना के आधार पर विकसित हुआ है; वैसे भी ब्राह्मणवाद का मुख्य आधार वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद ही है। इसलिए प्रेमचन्द ने इस वर्णव्यवस्था और जातिवादी समाजव्यवस्था का कभी भी समर्थन नहीं किया है। यह सही है कि प्रेमचन्द अपने रचनाकर्म के अंतिम दिनों तक वर्णवादी सीमाओं के दायरे से पूरी तरह बाहर नहीं निकल पा रहे थे। वे अपनी अन्तिम रचनाओं और लेखों तक में वर्णव्यवस्था और उसके घोर समर्थकों से दलितों की बार-बार तुलना कर रहे थे। इसके बावजूद उनके युग की सीमाओं के अन्दर ही प्रेमचन्द की रचनाओं का पुर्नपाठ या पुर्नव्याख्या की जानी चाहिए। यह सही है कि पृथक-निर्वाचन के विरोध में किए गए गांधी के आमरण अनशन को प्रेमचन्द 'महान तप' के रूप में देखकर लिख रहे थे कि अगर यह साम्प्रदायिक निर्णय ले लिया गया तो राष्ट्र का विभाजन हो जाएगा। प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द को ऐसा क्यों लग रहा था? लेकिन उन्हें यह जरूर लग रहा था कि भारतीय राष्ट्र उस आदर्श मानव शरीर की भांति है 'जिसके मुंह, हाथ, उदर और पांव ये चार अंग हैं। इनमें से किसी एक अंग के विच्छेद हो जाने से देह अपंग या निर्जीव हो जाएगा। हमारे शूद्र भाई इस देहरूपी राष्ट्र के पांव ही कट जाएं तो देह की क्या गति होगी?'[14] प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द भारतीय राष्ट्र की तुलना उस आदर्श मानव शरीर से क्यों कर रहे थे जो वर्णव्यवस्था के सामाजिक ढांचे के आधार पर बना है? फिर यह दलितों लिए आदर्श मानव शरीर कैसे हो सकता है? वह इसलिए कि दलितों के 'देवता भी वही हैं जो सब हिन्दुओं के हैं। आदर्श वही है; विश्वास वही हैं, दृष्टिकोण वहीं हैं।' और अंततः उन्होंने निष्कर्ष निकाल ही लिया कि वर्णव्यवस्था पर आधारित 'हिन्दुत्व उनके अणु-अणु में भरा हुआ है।'[15]

प्रश्न उठता है कि क्या भारत के दलित ऐसे ही वर्णवादी थे जैसे प्रेमचन्द 19 दिसम्बर, 1932 के 'हंस' में प्रकाशित 'महान तप' नामक लेख में बता रहे थे। लेकिन मज़ेदार बात यह है कि इस कथन के ठीक 6 महीने बाद प्रेमचन्द के 'हिन्दुत्व' की अवधारणा बदल जाती है और उन्हें 'हिन्दुत्व अब कहीं नज़र आता है, तो गुंडों में, जो कभी-कभी हरिजनों-समाजों में विघ्न डालने की चेष्टा करते हैं; पर मुंह की खाते हैं।'[16] आज के हिन्दुत्ववादियों से तुलना करने पर प्रेमचन्द सही ठहरते हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के समय में 'हिन्दुत्व की अवधारणा' जल्दी-जल्दी बदल रही थी और तब के पक्के वर्णवादी और जातिवादी ताकतों के साथ जुड़कर हिन्दू फासीवाद को जन्म दे रही थी और जो आज हिन्दू साम्राज्य का विस्तार करके हिन्दुत्ववादियों (ब्राह्मणवादियों) की मुख्य विचारधारा बन गई है। इसलिए प्रेमचन्द का 'हिन्दुत्व' आर.एस.एस. या उसके सहयोगी संगठनों का हिन्दुत्व नहीं है और न ही गांधी के हिन्दुत्व की तरह, जिसमें हिन्दू साम्राज्यवाद की समस्त जड़ें फैली हुई हैं।

कभी प्रेमचन्द के सबसे बड़े समर्थक रहे मुद्राराक्षस आज प्रेमचन्द को आधे-अधूरे उद्धरणों के द्वारा दलित विरोधी सिद्ध करने पर तुले हैं। उन्होंने प्रेमचन्द का आधा-अधूरा उद्धरण देकर बताया है कि - 'अछूतों की आदतें गन्दी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म करते हैं, आदि।' जबकि प्रेमचन्द का पूरा उद्धरण इस प्रकार है - 'कहा जाता है कि अछूतों की आदतें गन्दी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म

करते हैं, आदि। क्या जितने सछूत हैं, वे रोज स्नान करते हैं, क्या कश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज नहाते हैं? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है, जो जाड़ों में महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं। यह इसी अन्याय का प्रायश्चित है कि संसार के अन्य देशों में हिन्दू-मात्र को अछूत समझा जाता है। फिर शराब क्यों ब्राह्मण नहीं पीते। इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण - और वह भी तिलकधारी निकल जाएंगे।'[17] प्रेमचन्द ने यह बड़े पते की बात कही है कि भारत के सभी हिन्दुओं (सवर्ण) को अछूत की नज़रों से देखा जाता है। उसका एकमात्र कारण यही है कि अपने ही देश के दलित-पिछड़ों को अछूत समझकर बुरा बर्ताव करते हैं। अछूत होने की पीड़ा का अहसास विदेशियों ने ही कथाकथित हिन्दुओं को कराया है। विदेशियों की नज़रों में वे हमेशा ही एक अछूत रहे हैं।

यह सही है कि प्रेमचन्द में अनेक अन्तर्विरोध हैं, अनेक वैचारिक उलझनें हैं, अनेक कमजोरियां हैं; लेकिन वे दलित विरोधी कथाकार कदापि नहीं हैं। कुछ आधे-अधूरे प्रसंगों-सन्दर्भों या कुछेक कहानियों या कुछ उपन्यासों के आधार पर आप प्रेमचन्द को दलित विरोधी सिद्ध करेंगे तो आप प्रेमचन्द और उनके साहित्य के साथ अन्याय ही करेंगे। कुछ अम्बेडकरवादी लेखक जो प्रेमचन्द को दलित विरोधी मानते हैं, उन्हें प्रेमचन्द की रचनाओं का पुर्नपाठ कर लेना चाहिए। अगर पुर्नपाठ न भी कर सके तो एक बार उन्हें पढ़ जरूर लेना चाहिए। ज्यादा पढ़ने में कष्ट हो रहा हो तो दलित समाज से संबंधित कुछेक रचनाएं ही पढ़ लेनी चाहिए। मसलन, प्रेमचन्द की 'घासवाली' कहानी को ही लें जो दिसम्बर 1929 में प्रकाशित हुई थी, जिसे एक-दो प्रसंगों के द्वारा समझा जा सकता है। पहला प्रसंग-शादीशुदा युवक जमींदार चैनसिंह अपने खेतों में खड़ा घास खोदकर आने वाली दलित मुलिया के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसकी तरफ बढ़ा तो 'मुलिया जरा भी नहीं डरी, जरा-भी नहीं झिझकी, झौआ जमीन पर गिरा दिया' और बोली - 'मुझे छोड़ दो, नहीं मैं चिल्लाती हूं।' इस पर प्रेमचन्द लिखते हैं - 'मुलिया के चेहरे का रंग, उसका क्रोध, वह अभिमान देखकर उसके छक्के छूट गए।' दूसरे दिन फिर रास्ते में चैनसिंह को मुलिया मिली तो कहने लगा 'मैं शोहदा था, लुच्चा था, लेकिन जबसे तुझे देखा है, मेर मन से सारी खोट मिट गई।' तब मुलिया ने अपनी निर्भयता, कर्मठता और संघर्षशीलता का परिचय देते हुए अवहेलना भरे शब्दों में कहा - 'फिर भी अगर मेरा आदमी तुम्हारी औरत से इसी तरह बातें करता तो तुम्हें कैसा लगता? तुम उसकी गर्दन काटने के लिए तैयार हो जाते कि नहीं! बोलो! क्या समझते हो कि महावीर च है तो उसकी देह में लहू नहीं है, उसे लज्जा नहीं है, अपने मर्यादा का विचार नहीं है।'

यह प्रेमचन्द का सकारात्मक दलित विमर्श है जिसमें उन सारी सामन्ती-अर्द्ध-सामंती परंपराओं और मूल्यों के विरुद्ध एक दलित स्त्री का विद्रोह सकारात्मक आयाम ग्रहण करने लगता है और मुलिया अपनी जातीय पहचान के आधार पर सवर्णों की जातीय श्रेष्ठता के दंभ को तोड़ डालती है। उसे नेक सलाह देती है कि घाट किनारे जाकर सुन्दर औरतों से ऐसी ही दया क्यों नहीं मांगते? क्योंकि 'वहां जाते तुम्हारी छाती दहलती है। मुझसे दया मांगते हो, इसलिए न कि मैं चमारिन हूं, नीच जाति हूं और नींच जाति की औरत जरा-सी घुड़की-धमकी वा जरा-सी लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जाएगी। कितना सस्ता सौदा है। ठाकुर हो न, ऐसा सस्ता सौदा क्यों छोड़ने लगे।'[18] यहां प्रेमचन्द वर्णव्यवस्था के उस जातिशास्त्र का विखंडन करते है जिसमें सवर्णों को दलित समुदाय की स्त्रियों पर बलात्कार करने का अधिकार दे रखा है।

ऐसे हैं प्रेमचन्द के दलित जो ब्राह्मणवाद को चुनौती देते हैं। इसके बाद दूसरा प्रसंग - प्रेमचन्द बड़े घरों की औरतों की सच्चाई से पाठकों को अवगत कराने के लि दलित मुलिया को ही सामने लाते हैं - 'मैं भी रोज बाजार जाती हूं। बड़े-बड़े घरों का हाल जानती हूं। मुझे किसी बड़े घर का नाम बता दो, जिसमें कोई साईस, कोई कोचवान, कोई कहार, कोई पंडा, कोई महाजन न घुसा बैठा हो। यह सब बड़े हैं।' फिर वह

अपने परस्पर दलित स्नेह, विश्वास और एकनिष्ठता की चर्चा करती है, 'बेचारे गरीब आदमियों के लिए यह बातें कहां? मेरे आदमी के लिए संसार में जो कुछ है, मैं हूं। वह किसी दूसरी मिहरिया की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता।... मैं च भी इतनी नीच नहीं हूं कि विश्वास का बदला खोट से दूं। हां, वह अपने मन की करने लगे, मेरी छाती पर मूंग दलने लगे, तो मैं भी उसकी छाती पर मूंग दलूंगी।'[19] पुरुष अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध ऐसी सवर्ण स्त्रियों में तो कम-से-कम नहीं है। प्रेमचन्द यह अच्छी तरह जानते हैं कि ऐसी चारित्रिक-विनम्रता और विद्रोही चेतना दलित स्त्रियों में ही देखने में आती है।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्यिक आदर्श के बारे में साफ-साफ लिखा है कि जहां भी धूर्त्तता और पाखंड और सबलों का निर्बलों पर अत्याचार देखो तो उसे समाज के सामने ईमानदारी से रखो। इसलिए उन्होंने गरीबों का खून चूसने वाले पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी आदि का भी वैसा ही चित्रण किया है जैसा समाज में उन्होंने देखा और पाया है। यही वज़ह है कि प्रेमचन्द गरीब, किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्रों के सबसे बड़े हितैषी कहे जाते हैं क्योंकि उन्होंने 'उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है।' लेकिन प्रेमचन्द का यह साहित्यिक आदर्श, सच्चाई और सेवाभाव दलितों को उन अमानवीय परिस्थितियों की ओर ले जाता है जहां से उन्हें शोषण-उत्पीड़न और अत्याचारों से मुक्ति नहीं मिलती बल्कि 'सद्गति' के दुखी की तरह उनकी 'लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कोए' नोंचने के लिए छोड़ दिया जाता है। ऊपर से प्रेमचन्द की यह टिप्पणी कि दुखी की 'यही जीवनपर्यंत की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था' से कोई राहत नहीं मिलती। तो प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द दलितों को ऐसी स्थितियों में क्यों रखते हैं, जहां उन्हें अपमानित किए जाने की गुंजाइश बनी रहती है?

इससे यही लगता है कि प्रेमचन्द कई बार दलितों को अमानवीय परिस्थितियों की उन अतिरंजित सीमाओं तक ले जाते हैं जहां वे खुद सामाजिक अन्तर्विरोधों के शिकार होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें सवर्णों का एक पक्ष तो याद रहता है लेकिन दलितों के दूसरे पक्ष को पूरी तरह विस्मृत कर देते हैं। कम से कम 'सद्गति' और 'कफन' में ऐसी ही कुछ अन्तर्विरोधी स्थितियां दिखाई देती हैं। 'सद्गति' का दुखी दलित अपनी बेटी की सगाई के लिए साइत-सगुन निकलवाने पं. घासीराम के घर जाकर बेगारी करते-करते मर जाता है। हालांकि प्रेमचन्द को बेगारी के नियम-कायदों की विस्तृत जानकारी है जिसे गोंड के द्वारा व्याख्यायित करवाते हैं कि अगर बेगार करवाता है तो 'जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है तो थोड़ी बहुत मजूरी देता है। यह उनसे भी बढ़ गये, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।'[20] इसके बावजूद प्रेमचन्द दलितों को मुफ्त में बेगारी कराते दिखाते हैं और मरने तक बेगारी करवाते हैं। आखिर क्यों? यहां तक कि दलित अपने परिवार-बिरादरी की लाश न उठाकर गीदड़ और गिद्ध तथा कुत्ते और कौव्वों को नोचने के लिए छोड़ देते हैं। यहां तक आते-आते प्रेमचन्द अमानवीयता की हदें छूने लगते हैं। प्रेमचन्द भले ही फिर गोंड का सहारा लेकर अपना तर्क गढ़ लें कि - 'खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहक़ीक़ात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली। पंडित जी होंगे, तो अपने घर के होंगे। लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़े जाओगे।'[21] उधर पंडित ने भी 'च को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की; पर च के दिल में पुलिस का रोब छाया हुआ था, एक भी न मिनका।'[22] अगर इन कथनों में थोड़ी-सी भी सच्चाई होती तो पंडित दुखी की लाश को रस्सी से बांधकर बाहर खेत में न डाल आता। उसे भी पुलिस-कचहरी का डर होना चाहिए था, लेकिन नहीं, वह तो निरापद है। इसमें सवर्ण विद्वानों को प्रेमचन्द की दलितों के प्रति कौन-सी संवेदना और सहानुभूति दिखाई देती है जो प्रेमचन्द को भी दलित साहित्य में शामिल करके दलित साहित्यकार घोषित करना चाहते हैं। प्रेमचन्द का साहित्य दलित-विमर्श का साहित्य है, न कि दलित चेतना का है।

अगर प्रेमचन्द को दलितों से थोड़ी-सी भी सहानुभूति होती तो वे ऐसे विचित्र तर्क देते हैं जो दलितों

के गले नहीं उतरते हैं कि 'ब्राह्मण च की लाश कैसे उठाते। भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है। कहीं कोई दिखा दे।'... 'पर लाश उठाने कोन च नहीं आया', क्यों नहीं आया? पुलिस का डर जो ठहरा।

'कफ़न' कहानी में भी प्रेमचन्द ऐसी ही अमानवीय स्थितियां गढ़ते-गढ़ते अविश्वसनीयता के स्तरों तक पहुंच जाते हैं। प्रेमचन्द कहानी की शुरुआत में ही लिखते हैं - 'चमारों का कुनबा था और सारे गांव में बदनाम।' कुनबे का मतलब होता है दो-तीन पीढ़ियों के परिवार। जब परिवार इतना बड़ा हो तो फिर घीसू बुधिया के कफन के लिए जमींदार और गांव के बनिए-महाजनों के पास पैसे मांगने नहीं जाएगा। सचमुच में यह दलितों के लिए अपमानजनक स्थिति है। जब प्रेमचन्द दलित घूसी को अपने भाई-बन्धुओं से गुजारिश न कराके गांव के जमींदार और साहूकार-बनियों के पास पैसे मांगने भेज देते हैं तो यह न दलित-विमर्श है न दलित-अस्मिता की पहचान। प्रेमचन्द ने ऐसी स्थितियां अपनी कल्पना शक्ति के बल पर गढ़ ली हैं। जबकि सन् 36 तक आते-आते डॉ. अम्बेडकर का आन्दोलन इतना आगे बढ़ चुका था कि दलितों में दलित वर्ग के रूप में चेतना जागृत हो गई थी। अगर यह मान भी लिया जाए कि गांवों में डॉ. अम्बेडकर की वर्गीय चेतना नहीं पहुंच सकी होगी तो कम से कम उनमें जातीय चेतना के बीज तो पहले से ही मौजूद रहे होंगे जिसके आधार पर उस जातीय चेतना को दिखाया जा सकता था। 'कफ़न' का पुर्नपाठ करने पर लगता है कि प्रेमचन्द में दलितों के प्रति जो सहानुभूति पहले दिखाई देती थी, वह बात की कहानियों में गायब होने लगती है। फिर दलित इतने गरीब भी नहीं रहे हैं कि वे अपने परिवार/कुनबे के एक सदस्य के लिए कफ़न का भी इन्तजाम न कर पाएं।

इन्हीं अविश्वसनीय स्थिति के कारणों से ही कुछ अम्बेडकरवादी लेखकों ने 'कफ़न' और 'सद्गति' को दलित विरोधी कहानी करार दिया था। इसके बावजूद प्रेमचन्द ने 'कफ़न' में एक बड़े पते की बात कही है जो प्रेमचन्द की अन्य किसी कहानी में देखने में नहीं आई है। वह है -दलितों को शोषित किसानों की अपेक्षा ज्यादा विचारवान मानना। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने लिखा है कि 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।'[23] किसानों को विचार-शून्य बताने वाले प्रेमचन्द घीसू को एक विचारवान दलित के रूप में चित्रित करते हैं कि 'हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचार-शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था।'[24] घीसू किसानों की अपेक्षा इसलिए ज्यादा विचारवान था कि 'अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती, और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।'[25] घीसू-माधव जैसे इन दलित चरित्रों को एक मार्क्सवादी ने 'लुम्पन सर्वहारा' बताकर अपनी यांत्रिक मार्क्सवादी समझ का ही परिचय दिया है। उसका तर्क है कि खुद मेहनत न करना और किसानों की कमजोरियों का फायदा उठाना - ग्रामीण लुम्पन सर्वहारा में दो विशेषताएं घीसू और माधव में भरपूर मात्रा में हैं[26] जबकि ये दोनों चरित्र 'ग्रामीण लुम्पन सर्वहारा' नहीं बल्कि वे उस श्रमजीवी वर्ग से आते हैं जिनके श्रम को सामन्ती-अर्द्ध सामन्ती ताकतें हड़प लेती हैं। इस तरह घीसू माधव किसानों की नहीं जमींदारों की कमजोरियों का फायदा उठाकर श्रम के बेजा इस्तेमाल होने से बच जाते हैं। ऐसे मार्क्सवादी यह भूल जाते हैं कि जब श्रमजीवी वर्ग के लोगों को श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता तो वह श्रम से जी चुराकर 'श्रम से अलगाव' की स्थिति में आ जाते हैं। इस तरह सामंती उत्पादन पद्धति में बदलाव लाकर सामाजिक संबंधों को बदल देते हैं।

अगर प्रेमचन्द के दलित घीसू और माधव इतने विचारवान हैं तो 'दूध का दाम' का मंगल और 'ठाकुर का कुआं' की गंगी भी कम विचारवान नहीं है। यह अलग बात है कि प्रेमचन्द उन्हें ऐसी परिस्थितियों

में डाल देते हैं कि वे विद्रोही कदम उठाते-उठाते अन्ततः यथास्थितिवाद की ओर लौट आते हैं। 'दूध का दाम' के मंगल और 'ठाकुर का कुआं' की गंगी की यही स्थिति है। उनमें वर्णव्यवस्था के जातिवादी शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष करने की चेतना तो है लेकिन उससे निकलने का कोई ठोस रास्ता उनके पास नहीं है।

शायद प्रेमचन्द के भी पास नहीं था अगर होता तो वे निश्चित तौर पर दलित-पिछड़ों को सामंती-अर्द्ध सामंती शोषण-उत्पीड़न से उन्हें मुक्ति का कोई रास्ता सुझाते। हल्की-सी अधिकार चेतना जगाकर ही न रह जाते हैं। जब बाबू महेशनाथ का बेटा सुरेश मंगल से सवार-सवारी खेलने का प्रस्ताव रखता है तो मंगल के मन में शंका उठती है कि 'मैं बराबर घोड़ा ही रहूंगा, कि सवारी भी करूंगा।' इस पर सुरेश उसे जातिवादी समाजव्यवस्था का पाठ पढ़ाकर अपनी पीठ पर बैठाने से इनकार कर देता है तो मंगल भी कड़ा हो जाता है कि 'मैं कब कहता हूं कि मैं भंगी नहीं हूं, लेकिन तुम्हें मेरी ही मां ने दूध पिलाकर पाला है। जब तक मुझे भी सवारी करने को न मिलेगी मैं घोड़ा न बनूंगा। तुम लोग बड़े चवड़ हो। आप तो मजे से सवारी करोगे और मैं घोड़ा ही बना रहूंगा।'[27] घोड़ा न सही पर उस मंगल की हालत उस टामी कुत्ते जैसे हो गई थी जिसे 'कभी किसी ने डंडा मारा, चिल्ला उठा, फिर जरा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुंचा।' यहकैसी विडंबना है कि जिस परिवार के एकमात्र लाड़ले को दूध पिलाकर जीवित रखा, आज उसी मां के बेटे मंगल को दूध के दाम में जूठन मिल रही है। इस तरह प्रेमचन्द मंगल की विद्रोही चेतना को मारकर उसे यथास्थितिवादी बना देते हैं और सामन्ती-समाज की जूठन खाने के लिए विवश कर देते हैं 'देखा, पेट की आग ऐसी होती है। यह लात की मारी हुई रोटियां भी न मिलतीं, तो क्या करते।'[28]

प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द क्यों यथास्थितिवाद का समर्थन कर रहे थे? जबकि यथास्थितिवाद का अर्थ परिस्थितियों से समझौता ही होता है। तो क्या प्रेमचन्द समझौतावादी थे? अगर समझौतवादी नहीं होते तो 'दूध का दाम' का मंगल भी परिस्थितियों से समझौता नहीं करता। क्या ठीक यही स्थिति 'ठाकुर का कुआं' की गंगी की नहीं है? प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि भारत की ग्रामीण समाजव्यवस्था पूरी तरह वर्णव्यवस्था की नींव पर टिकी हुई है और दलित गंगी वर्णव्यवस्था की इस नींव को खोदने की बजाय उसी का हिस्सा बनकर रह जाती है। यह प्रेमचन्द का कैसा सामंतवाद विरोध है जो गंगी के बीमार पति जोखू को बदबूदार पानी पीने के लिए विवश कर देता है। दूसरा स्वच्छ पानी कहां से आएगा? जोखू का ठीक सवाल है? गांव में ठाकुर और साहू के दो कुएं हैं। क्या उनसे एक लोटा पानी नहीं भरने देंगे? वर्णव्यवस्था के जातिवादी चरित्र से जोखू भलीभांति परिचित है। इसलिए गंगी का भ्रम तोड़ता है कि 'हाथ-पांव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके। ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पांच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है। हम तो मर भी जाते हैं तो कोई दुआर पर झांकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे।'[29] यह वर्णव्यवस्था का सामाजिक चरित्र है जिसमें सभी वर्ण अपने-अपने काम-धंधों से बंधे हैं।

जिस कुएं का पानी सारा गांव पीता है। किसी के लिए रोक नहीं, सिर्फ ये बदनसीब नहीं भर सकते। ऐसे ही गांवों से प्रेमचन्द को मोह रहा है, जहां दलितों को अपने जनवादी और लोकतांत्रिक अधिकारों से जबरदस्ती बेदखल किया जाता है। इसके बावजूद प्रेमचन्द का मरते दम तक गांवों से मोहभंग नहीं हुआ। गंगी ग्रामीण समाज-व्यवस्था के जातिवादी ढांचे को तोड़ना चाहती है 'हम क्यों नीच हैं और यह लोग क्यों ऊंच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं? यहां तो जितने हैं, एक से एक छंटे हैं।' इन छंटे हुए लोगों के चरित्र को गंगी अच्छी तरह जानती हैं - 'कभी गांव में आ जाती हूं, तो रसभरी आंखों से देखने लगतेहैं। जैसे सबकी छाती, पर सांप लोटने लगता है, परन्तु घमंड यह कि हम ऊंचे हैं।'[30] इसके बावजूद गंगी ने 'देवताओं को याद करके' कलेजा मजबूत किया और घड़ा कुएं में डाल दिया लेकिन ठाकुर साहब

के शेर से भी अधिक भयानक मुंह को देख कर दलित की विद्रोही चेतना यथास्थितिवाद में बदल जाती है – 'घर पहुंचकर देखा कि जोखू लोटा मुंह से लगाए वही मैला-गन्दा पानी पी रहा है।'[31] यह एक दलित की विद्रोही चेतना का सबसे निष्कृष्टतम रूप है जो हमें प्रेमचन्द की ऐसी ही अन्य रचनाओं में भी दिखाई देता है। प्रेमचन्द इन स्थितियों से बच नहीं सकें, ऐसी क्या मजबूरी थी?

ऐसे ही हैं प्रेमचन्द के दलित-गरीब, निर्धन, निरीह, सहज, सरल, कमजोर मगर धर्मनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ, आदर्शवादी, ईमानदार और कभी विचारवान, बुद्धिमान, संघर्षशील, विद्रोही और क्रांतिकारी, पर कभी-कभी प्रगतिशील तो कभी समझौतावादी-ठीक अपने सृजनकर्ता प्रेमचन्द की तरह, समझौतावादी। कहा जाता है कि प्रेमचन्द मूलतः मानवतावादी लेखक हैं। उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द कुछ भी हो सकते हैं – प्रगतिशील, क्रांतिकारी या समझौतावादी पर यह सच है कि वे गांधीवादी लेखक कदापि नहीं हैं। इसके बावजूद ग़ैर-दलितों की तरह कुछ अम्बेडकरवादी भी उन्हें और उनके सारे साहित्य को गांधीवाद के खाते में डालकर निश्चिंत हो जाते हैं।

अगर प्रेमचन्द गांधीवादी लेखक हैं तो फिर उन्हें वर्णव्यवस्था का सबसे बड़ा समर्थक, हिन्दूवादी लेखक होना चाहिए और गांधी की ही तरह यह कहना चाहिए कि वे सनातनधर्मी, वर्णवादी और परम्परावादी लेखक हैं। प्रेमचन्द ने कभी नहीं कहा और न ही कहीं लिखा ही है कि वे वर्णव्यवस्था के समर्थक सनातनधर्मी लेखक हैं। तथाकथित हिन्दुओं की जातिवादी समाजव्यवस्था का विरोध करने वाले प्रेमचन्द वर्णवादी लेखक हो सकते। प्रेमचन्द हिन्दू हैं और इस नाते उस धर्म में भी हैं लेकिन वे हिन्दूवादी नहीं हैं। अगर हिन्दूवाद ही हिन्दुओं का धर्म है तो प्रेमचन्द उस धर्म और उसके पाखंड और कर्मकांड के खिलाफ थे। जो विद्वान लोग पूना पैक्ट के आधार पर प्रेमचन्द को गांधीवादी मान लेते हैं, वही विद्वान लोग उन्हें डॉ. अम्बेडकर विरोधी मानकर प्रेमचन्द के विरोध में खड़ा कर देते हैं। पूना पैक्ट पर गांधी का समर्थन करने पर प्रेमचन्द न तो गांधीवादी हो जाते हैं और न डॉ. अम्बेडकर विरोधी। सच्चाई यह है कि पूना पैक्ट करके गांधी की जान बचाने वाले डॉ. अम्बेडकर का आभार प्रकट करने के लिए प्रेमचन्द ने 'हंस' के मुख्य पृष्ठ पर डॉ. अम्बेडकर का फोटो छापकर ऐसा आदर्श स्थापित किया जो आज तक किसी ग़ैर-दलित पत्र या पत्रिका ने नहीं किया है। यह काम प्रेमचन्द ने उस समय किया था जब देशभर के सवर्ण डॉ. अम्बेडकर से घृणा कर रहे थे और विरोध भी। इसलिए प्रेमचन्द डॉ. अम्बेडकर के विरोधी नहीं थे और न ही दलित विरोधी। ठीक उसी तरह प्रेमचन्द ब्राह्मण व्यक्ति-विशेष के भी विरोधी न थे लेकिन ब्राह्मणवाद के पक्के विरोधी थे। ब्राह्मणों के जातिशास्त्र का विखंडन करने के बावजूद उनके जातिशास्त्र के आधार पर ही सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या-पुर्नव्याख्या कर रहे थे। इस प्रक्रिया में प्रेमचन्द ब्राह्मणों को दलितों के आमने-सामने रखकर सामाजिक सम्बन्धों की नई व्याख्या भी कर रहे थे। विभिन्न समुदायों के लोगों के लिए जातिसूचक शब्दों का इस्तेमाल भी ब्राह्मणी जातिशास्त्र के अनुसार ही कर रहे थे। प्रेमचन्द पूरी तरह से वर्णवाद की सीमाओं के संकीर्ण दायरे से बाहर नहीं निकल पाए थे। ब्राह्मणों से अन्य समुदायों के लोगों की तुलना के पीछे भी यही कारण रहा है।

इसके बावजूद प्रेमचन्द ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एकवाद, जनवाद, जनसत्तावाद, लोकमतवाद और जनतावाद जैसी अवधारणाओं पर सबसे पहले विचार किया था और इन लोकतांत्रिक और जनवादी अवधारणाओं पर लंबे समय तक चिंतन-मनन करके अपनी साम्यवाद की अवधारणा पर पहुंचे थे। साम्यवाद की अपनी इस अवधारणा में प्रेमचन्द उस राष्ट्रीयता का सपना देख रहे थे जिसमें जन्मगत वर्णों की गंध तक नहीं होती। उनकी राष्ट्रीयता में श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, 'जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन।'[32]

प्रेमचन्द का यही यूटोपिया है जो सामाजिक यथार्थ की ठोस जमीन पर खड़ा हुआ है जिसे मैं प्रेमचन्द

का सामाजिक यूटोपिया कहना चाहूंगा। प्रेमचन्द के इस सामाजिक यूटोपिया में सभी समुदायों के लोग शामिल होकर प्रेमचन्द के साम्यवाद के निर्माण का रास्ता प्रशस्त करेंगे। जैसे प्रेमचन्द वैसे ही उनका सामाजिक यूटोपिया। सचमुच प्रेमचन्द ऐसे ही थे।

सन्दर्भ

1. विविध-प्रसंग, खंड-3, पृ-443
2. विविध-प्रसंग, खंड-3, पृ-444
3. मंदिर-मानसरोवर, खंड-5, पृ. 13
4. वही, पृ. 13
5. विविध-प्रसंग, खंड-3, पृ. 455
6. विविध-प्रसंग, खंड-3, पृ. 455
7. विविध-प्रसंग, खंड-3, पृ. 972
8. मानसरोवर, भाग-8, पृ. 130
9. वही, पृ. 137-138
10. मानसरोवर, भाग-3, पृ. 307
11. गोदान
12. विविध-प्रसंग, भाग-3, पृ. 471
13. वही, पृ. 470
14. विविध-प्रसंग, भाग-3, पृ. 438
15. वही, पृ. 439
16. 8 मई 1933, वही, पृ. 963
17. वही, पृ. 449
18. मानसरोवर, भाग-1, पृ. 300
19. वही, पृ. 301
20. सद्गति, मानसरोवर, भाग-4, पृ. 23
21. वही, पृ. 25
22. वही, पृ. 25
23. 'कफ़न' प्रेमचन्द निर्वाचित कहानियां, पृ. 85-86
24. वही, पृ. 85
25. प्रेमचन्द निर्वासित कहानियां - पृ.86
26. कांति मोहन, प्रेमचन्द और अछूत समस्या, पृ. 171
27. मानसरोवर, भाग-2, पृ. 204
28. वही, पृ. 210
29. मानसरोवर, भाग-1, पृ. 135-136
30. वही, पृ. 136
31. वही, पृ. 138
32. हंस, जनवरी 1934, 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं' शीर्षक लेख, विविध-प्रसंग, भाग-3, पृ.473

तेज सिंह दलित चिंतन को आगे बढ़ाने वाले प्रमुख लेखकों में हैं। वे ''अपेक्षा'' नाम की एक जरूरी पत्रिका के संपादक हैं। दिल्ली में रहते हैं।

नाइजीरिया के जनतांत्रिक आंदोलन में लेखकों और बुद्धिजीवियों की भूमिका

आनंद स्वरुप वर्मा

अफ्रीका महाद्वीप की एक खास विशिष्टता रही है कि यहां दमन के खिलाफ प्रतिरोध की कमान संभालने में यहां के लेखकों और बुद्धिजीवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने न केवल अपनी रचनाओं के जरिए लोगों को उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने के लिए उद्वेलित और प्रेरित किया बल्कि कहीं कहीं तो लेखन के साथ-साथ राजनीति में भी सक्रिय भूमिका निभाते रहे। यही वजह है कि यहां आपको **क्वामे न्क्रूमा, सेकू तूरे, अगोस्तिनो नेता, लियोपोल्ड सेडोर सेंगोर, अमिल्कर कबराल** जैसे महत्वपूर्ण बुद्धिजीवी दिखायी देंगे जिन्होंने अपने देश को उपनिवेशवादियों से मुक्त कराने में एक महत्वपूर्ण भूमिका तो निभायी ही, इनमें से अधिकांश ने मुक्ति के बाद अपने देश का नेतृत्व भी किया।

वर्ष 1960 को अफ्रीका वर्ष के रुप में याद किया जाता है क्योंकि इस वर्ष में इस महाद्वीप के 17 देशों को आजादी मिली। ब्रिटिश उपनिवेशवाद का लगभग सफाया हो गया। एक के बाद एक देश उपनिवेशवादी चंगुल से मुक्त हुए। 1961 में सिएरा लिओन और तांगान्यिका को आजादी मिली, 1962 में रवांडा, बुरुंडी तथा उगांडा आजाद हुए, 1964 में न्यासालैण्ड ने मलावी गणराज्य का रूप लिया और उत्तरी रोडेशिया जांबिया के नाम से एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आया। इसके साथ ही तांगान्यिका और जंजीबार को मिलाकर तांजानिया नामक देश का गठन हुआ। 1965 में गैंबिया और 1966 में बोत्सवाना तथा लेसोथे अस्तित्व में आए।

1960 अफ्रीका के लिए 'परिवर्तन की हवा' लेकर जरूर आया लेकिन 10 वर्ष के अंदर ही यानी 1970 आते आते स्पष्ट हो गया कि इन देशों में नवऔपनिवेशिक दौर शुरू हो गया है। नाइजीरिया, घाना, कांगो, जेयरे, बेनिन, तत्कालीन अपर वोल्टा, सिएरा लिओन, निजेर, चाड, सोमालिया और टोगो में किसी न किसी रूप में सैनिक शासन की शुरुआत हो चुकी थी और केन्या, जांबिया, आइवरी कोस्ट, मलावी, गिनी तथा कैमरून में एक दल की या एक व्यक्ति की तानाशाही कायम हो गयी थी। सेंट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक में जनरल बोकासा ने खुद को 'सम्राट' घोषित कर अपना निरंकुश रूप और भी ज्यादा प्रकट कर दिया।

इन सारी स्थितियों के कारण आजादी से जनता का जो मोहभंग हुआ, उसकी सबसे सशक्त अभिव्यक्ति साहित्य में हुई। सत्ताधारियों को सबसे ज्यादा खतरा लेखकों और बुद्धिजीवियों से दिखायी देने लगा क्योंकि

सत्ता की निरंकुशता के खिलाफ जनता की चेतना उन्नत करने में इन लेखकों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो गयी।

समूचे उपमहाद्वीप में लेखकों की स्थिति अत्यंत खतरनाक जीव जैसी हो गयी। तानाशाह चाहे जैसा भी हो, उसकी निगाह में हर कलाकृति एक खतरनाक दस्तावेज थी। संस्कृतिकर्मी को वह अपना प्रमुख दुश्मन समझता था।[1]

लेखकों के लिए यह बहुत कठिन समय था। या तो वे सत्ता के पक्ष में लिखें या जेल जाने के लिए तैयार रहें। सरकारी दमन से बचने के लिए कइयों को अपना देश छोड़ कर कहीं और शरण लेना पड़ा। 'साहित्यिक शरणार्थियों की सूची लम्बी होती चली गयी और इस अजीबोगरीब हालात में एक तानाशाह पड़ोसी तानाशाह के देश के लेखक को अपने यहां शरण दे रहा था। इस प्रकार डेविड रुबादरी और ओकोट पी बीटेक ने क्रमशः मलावी और उगांडा छोड़कर नाइजीरिया में शरण ली। जेल से छूटने के बाद वोले सोयिंका नाइजीरिया से बाहर चले गये और कुछ समय के लिए घाना में बस गये। उपन्यासकार आइ क्वी अरमा को घाना छोड़कर सेनेगल में बसना पड़ा और सेम्बेन ओस्मान को सेनेगल छोड़कर पेरिस को अपना आवास बनाना पड़ा। कैमरे लाये ने अपना देश गिनी छोड़ दिया और माली में जा बसे। नूरुद्दीन फाराह को सोमालिया से भागना पड़ा और काफी समय तक भटकने के बाद उन्होंने अपने बसने के लिए नाइजीरिया को चुना। मोंगो बेटी ने पेरिस में जाकर शरण ली।[2] केन्या के प्रसिद्ध उपन्यासकार न्गुगी वा थ्योंगो को अपना देश छोड़ना पड़ा और वह अमेरिका में जाकर बस गये।

पुर्तगाल शासित उपनिवेश अंगोला, मोजांबीक और गिनी बिसाऊ 1974 तक गुलाम बने रहे। रोडेसिया और दक्षिण अफ्रीका में अल्पमत गोराशाही की समाप्ति क्रमशः 1980 और 1994 के एक लंबे संघर्ष के बाद ही संभव हो सकी। दक्षिण अफ्रीका को काफी उथल पुथल के दौर से गुजरना पड़ा। यहां गोराशाही के खिलाफ पहले अहिंसात्मक संघर्ष चला पर शार्पविले हत्याकांड के बाद वहां के शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक संघर्ष संघर्ष ने सशस्त्र संघर्ष का रास्ता अपना लिया।

दक्षिण अफ्रीका की बेहद अमानवीय और क्रूरतम स्थितियों से सारी दुनिया को परिचित कराने में वहां के लेखकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सरकार विरोधी लेखन के कारण जितनी बड़ी संख्या में दक्षिण अफ्रीकी लेखकों को निर्वासित जीवन बिताना पड़ा वह अपने आप में एक रेकार्ड है। रंगभेद नीति के कारण दुनिया के अधिकांश देशों ने दक्षिण अफ्रीका का बहिष्कार कर दिया था और उस देश के साथ बाहरी दुनिया का किसी भी तरह का संबंध नहीं था पर अलेक्स ला गुमा, रिचर्ड रीव, एस्किया म्पाशेले (एजकिएल म्फालेले) पीटर अब्राहम्स आदि की कहानियों और उपन्यासों ने तथा डेनिस ब्रूटस, लीविस न्कोसी, माजिसी कुनेने आदि की कविताओं ने वहां की दारुण स्थिति से सारी दुनिया को परिचित कराया और रंगभेद विरोधी संघर्ष और जनतंत्र के पक्ष में विश्व जनमत तैयार करने में मदद पहुंचायी। अलेक्स ला गुमा तो अपने जीवन के अंतिम समय तक अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस और दक्षिण अफ्रीकी कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य के रूप में लेखन के साथ-साथ राजनीतिक कर्म में भी लगे रहे। इनमें से सभी लेखकों की रचनाएं दक्षिण अफ्रीका में प्रतिबंधित थीं पर विदेशों में धड़ल्ले से छप रही थीं और अनेक रूपों में चुपके चुपके दक्षिण अफ्रीकी पाठकों तक पहुंच ही जाती थीं।

उस काल की कविताओं में निर्वासित जीवन का दर्द देखा जा सकता है। अनेक कवियों ने निर्वासन के अनुभवों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया। डेनिस ब्रूटस ने अपनी एक कविता 'अॅवर एलाइज आर एक्जाइल्स' में उन लेखकों की पीड़ा का चित्रण किया जिन्हें मजबूरी में अपना वतन छोड़कर किसी अजनबी देश में जिंदगी बिताने के लिए मजबूर होना पड़ा था। उन्होंने लिखा - निर्वासन ही हमारा संगी है/वह धरती

जहां हम लौट नहीं सकते/हमारी लाशें अभिशप्त हैं परदेश में सड़ने के लिए। एक अन्य जगह उन्होंने लिखा – 'मुझे रोक दिया गया है/लंदन और पेरिस में/एम्सटर्डम और रोटर्डम में/म्यूनिख और फ्रैंकफर्ट में/वारसा और रोम में/और फिर भी मेरा हृदय रोता रहता है अपने देश के लिए।' (पृ. 94) उनके काव्य संकलन 'स्टब्बर्न होप' में इस तरह की अनेक कविताएं संकलित हैं।

काले लेखकों ने ही नहीं बल्कि एलेन पेटन, नेदीन गार्डीमर और एथोल फ्यूगार्ड जैसे गोरे लेखकों ने भी गोराशाही के दमन का जोरदार ढंग से चित्रण किया हालांकि काले लेखकों को प्राय: इनके एप्रोच को लेकर रिजर्वेशन रहे। 1970 में इन पंक्तियों के लेखक से एक साक्षात्कार के दौरान अलेक्स ला गुमा ने एलेन पेटन के विश्वविख्यात उपन्यास 'क्राई द बिलवेड कंट्री' के उदारवादी एप्रोच पर अपनी आपत्ति का इजहार किया था। इसी प्रकार एथोल फ्युगार्ड के नाटक 'सिज्वे बंसी इज डेड' का जब पहली बार लंदन में मंचन हुआ तो अश्वेत राजनीतिक कार्यकर्ताओं के एक वर्ग ने इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की कि 'सिज्वे बंसी मरा नहीं है... वह एकदम जीवित है और संघर्ष कर रहा है।' इन सबके बावजूद दक्षिण अफ्रीका के बुद्धिजीवियों ने अपने देश के मुक्ति संघर्ष को आगे बढ़ाने में जोरदार भूमिका निभायी।

लेखकों और बुद्धिजीवियों की भूमिका के मामले में पुर्तगाल शासित अफ्रीकी उपनिवेशों में जो दृश्य देखने को मिला वह अन्यत्र दुर्लभ है। अंगोला मोजांबीक और गिनी बिसाउ में हम देखते हैं कि यहां उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की पूरी कमान ही बुद्धिजीवियों के हाथ में थी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यहां मुक्ति आंदोलनों का नेतृत्व करने वाले राजनीतिक संगठनों से पूर्व सांस्कृतिक संगठन अस्तित्व में आए जिनका आगे चलकर मुक्ति संगठन में रूपांतरण हो गया। दरअसल पुर्तगाली तानाशाह सालाजार के शासनकाल में दमन इतना तेज था कि राजनीतिक कार्यों की गुंजाइश ही खत्म हो गयी थी। 1948 में अंगोला के कुछ बुद्धिजीवियों ने एक संस्था बनायी- 'आओ अंगोला को ढूंढें' (लेट अस डिस्कवर अंगोला) और 1951 के आसपास एक आंदोलन विकसित हुआ- 'अंगोला के युवा बुद्धिजीवियों का आंदोलन' (मूवमेंट आफ दि यंग इन्टेलेक्चुअल्स आफ अंगोला) और उन्हीं दिनों पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन में पढ़ रहे अंगोला, मोजांबीक और गिनी बिसाउ के नौजवानों ने मिलकर एक साहित्यिक सांस्कृतिक पत्रिका निकाली – 'मेसेज' जिसमें अंगोलाई अस्मिता की चर्चा होती थी। यहीं अगोस्तिनो ने तो, मार्सेलिनो डॉस सेन्तोस (अंगोला) एडुवार्डो मोंडालेन (मोजांबीक) और अमिल्कर कबराल (गिनी बिसाउ) की दोस्ती हुई। इन लोगों ने ही आगे चलकर अपने अपने देशों के मुक्ति संगठनों एम पी एल ए (अंगोला जनमुक्ति आंदोलन), फ्रेलिमो (मोजांबिक मुक्ति मोर्चा) और पी ए आई जी सी (गिनी बिसाउ और केपवर्डे की आजादी की पार्टी) की स्थापना की। अगोस्तिनो नेतो के अनुसार एम पी एल ए अपने देश की जनता को स्वतंत्र और आधुनिक बनाने में लगा था। इसके लिए उसने दोहरी क्रांति का सहारा लिया – एक तो परंपरागत ढांचे के विरुद्ध जो अब उनके लिए बेमानी था और दूसरा औपनिवेशिक शासन के खिलाफ।[3] अफ्रीकी मामलों के विशेषज्ञ बेसिल डेविडसन का कहना है कि इन आंदोलनों के स्थापित प्रवक्ताओं ने बार-बार सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन की जरूरत को रेखांकित किया। इस संदर्भ में गिनी बिसाउ के क्रांतिकारी बुद्धिजीवी अमिल्कर कबराल ने जोर देकर कहा – 'विदेशी प्रभुत्व के आगे नतमस्तक लोगों द्वारा उत्पीड़न, दमन, अपमान और विश्वासघात झेलने के बाद अफ्रीकी संस्कृति ने गांवों में, जंगलों में तथा उत्पीड़न के शिकार लोगों के दिलों में पनाह ली। इसने अनेक अग्नि परीक्षाओं को झेला और मुक्ति संघर्षों को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि इसने फिर से नये जीवन के लिए अपने को क्षमतावान बना लिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुक्ति के लिए संघर्ष संस्कृति का महज प्रतिफल नहीं है बल्कि यह संस्कृति का नियामक भी है।'[4]

लेकिन नाइजीरिया की स्थिति इन देशों से भिन्न थी। यहां कोई सशस्त्र मुक्ति युद्ध नहीं चल रहा था। यहां केन्या के माउ माउ विद्रोह जैसा देशव्यापी किसान आंदोलन भी नहीं था। यहां आजादी की जो लड़ाई

थी वह विभिन्न संवैधानिक सम्मेलनों, प्रस्तावों, अपीलों आदि के रास्ते आगे बढ़ी थी। यहां उपनिवेशवादियों ने 1916 के बाद जनता पर करों का बोझ इतना जबर्दस्त डाल दिया कि वे मजबूर होकर अपनी परंपरागत फसलें छोड़कर उन फसलों की खेती करने लगे जिनसे तुरत नगद पैसा मिल सकता था। इसी के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर लोग शहरों की तरफ जाने लगे जहां निर्माण कार्य में या खदानों में उन्हें काम मिल जाता था। इसके फलस्वरूप खजूर के तेल, कोको, मूंगफली आदि की खेती में काफी वृद्धि हुई और अनाज की पैदावार पर बुरा असर पड़ा। इन नीतियों के खिलाफ कई इलाकों में किसानों के छोटे मोटे विद्रोह हुए। कई स्थानों पर पुलिस को गोली भी चलानी पड़ी। खासतौर पर वारी प्रांत में किसानों का टैक्स विरोधी आंदोलन काफी तेज रहा। 1920 के दशक में भी ओनित्सा और कालाबार प्रांतों में खदान मजदूरों ने हड़ताल की। उत्तरी नाइजीरिया के मुस्लिम बहुल प्रांतों में भी काफी अशांति रही।

नाइजीरिया में पहली बार राजनीतिक पार्टी 'नाइजीरियन नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी' का गठन 1922 में हुआ। ब्रिटिश गर्वनर क्लिफर्ड द्वारा तैयार एक संविधान के तहत वहां लेजिस्लेटिव काउंसिल के चुनाव में इस पार्टी को तत्कालीन राजधानी लेगोस की सभी तीन सीटों पर विजय मिली।[5] इस अवधि में नाइजीरिया के बुद्धिजीवी काफी सक्रिय थे और 1933 में 'लेगोस यूथ मूवमेंट' की स्थापना के साथ इनकी सक्रियता ने एक ठोस रूप लिया। इस संगठन ने विभिन्न जातीय समूहों (इबो, योरुबा, इजा आदि) को एक मंच पर लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1936 में इस संगठन ने अपना नाम बदलकर 'नाइजीरियन यूथ मूवमेंट' कर लिया। इसने अपना एक 'युवा घोषणापत्र' प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि 'संगठन का मुख्य लक्ष्य नाइजीरिया में रहने वाले विभिन्न जातीय समूहों को लेकर एक संयुक्त राष्ट्र का विकास करना है... एकता की हमारी प्रक्रिया को आघात पहुंचाने वाली हर प्रवृत्ति का हम डटकर सामना करेंगे।'[6] नाइजीरिया में इबो, योरुबां और हाउजा फेलानी जातीय समूहों के बीच पिछले कई दशकों से जो आपसी खींचतान चल रही है उस संदर्भ में अगर देखें तो यह घोषणा पत्र बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी पूरी अवधारणा एक मिले जुले राष्ट्र की है। उस समय के बुद्धिजीवियों ने, जिनमें नामदी अजिकिवे का नाम प्रमुख है और जिन्हें आगे चलकर स्वतंत्र नाइजीरिया के प्रथम राष्ट्राध्यक्ष बनने का गौरव प्राप्त हुआ, महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[7]

1960 में नाइजीरिया को आजादी मिली लेकिन यह उत्तर औपनिवेशिक काल निरंतर उथल पुथल से भरा रहा। आजादी के अभी छ: वर्ष ही गुजरे थे कि देश में पहली सैनिक क्रांति हुई और इसके अगले वर्ष से ही देश एक भीषण गृह युद्ध की चपेट में आ गया। 1966 से 1999 तक के 33 वर्षों में से लगभग 24 वर्ष देश सैनिक तानाशाही के अंतर्गत रहा। तरह तरह के दमन, उत्पीड़न और बदहाली के बावजूद इस दौर में ऐसी ढेर सारी रचनाएं आयीं जिन्होंने देश और देश से बाहर के लोगों का ध्यान आकर्षित किया। यहां के लेखकों, पत्रकारों तथा अन्य बुद्धिजीवियों के दमन के खिलाफ प्रतिरोध की संस्कृति विकसित करने, सैनिक तानाशाही के प्रति नफरत पैदा करने और जनतंत्र के मूल्य को समझाने पर जोर दिया। चीनुआ एचेबे के उपन्यास 'ए मैन आफ दि पीपुल' ने तो एक तरह से 1966 के सैनिक क्रांति की भविष्यवाणी ही कर दी थी। एचबे ने इस उपन्यास को 1965 में पूरा किया था और 1966 के शुरुआती दिनों में इसका प्रकाशन हुआ। आजादी के बाद नाइजीरिया की राजनीति में जिस तरह भ्रष्टाचार और लूट खसोट का बोलबाला होने लगा था उससे एचेबे इस नतीजे पर पहुंचे कि अफ्रीका के अन्य देशों की तरह यहां भी सैनिक क्रांति की आशंका बढ़ती जा रही है। 1966 की सैनिक क्रांति के बाद जनता ने महसूस किया कि केवल राजनीतिक पार्टियां ही सत्ता में आने के बाद भ्रष्टाचार में लिप्त नहीं हो जातीं – सैनिक सरकारें भी वही करती हैं। 1974 में एचेबे ने अपने एक लेख में लिखा – 'प्राय: 'ए मैन आफ द पीपुल' को राजनीतिज्ञों के भ्रष्टाचार की कहानी के रूप में वर्णित किया जाता है। मैं इसे राजनीतिक भ्रष्टाचार चित्रित करने वाला उपन्यास कहना चाहूंगा। इसमें मैंने राजनीतिज्ञों का चित्रण इसलिए किया है क्योंकि 1964-65 में जब मैं इस उपन्यास को लिख रहा था तो इसके पात्रों के रूप

में वे ही सुलभ थे। अगर इसे मैं आज लिखता तो ये सारे पात्र सेना की वर्दी में होते।'[8]

चीनुवा एचेबे की ही तरह वोले सोयिंका ने अपने नाटक 'ए डांस आफ दि फॉरेस्ट' में देशवासियों को आने वाले खतरों के प्रति आगाह किया है।[9]

बिआफ्रा युद्ध हो या 12 जून 1993 के जनतांत्रिक चुनावों को रद्द करने की कार्रवाई का विरोध या सानी अबाचा के बर्बरतम सैनिक शासन के प्रतिरोध का सवाल–नाइजीरिया के लेखकों, पत्रकारों और कुछ अपवादों को छोड़कर बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग ने अत्यंत सकारात्मक भूमिका निभायी है। बिआफ्रा युद्ध के समय वोले सोयिंका, चीनुआ एचेबे, क्रिस्टाफर ओकिग्बो, केन सारो वीवा आदि लेखकों ने इस ऐतिहासिक घड़ी में सक्रिय हस्तक्षेप किया हालांकि इनके राजनीतिक और वैचारिक आग्रह भिन्न थे। इस दौर के एक अत्यंत प्रतिभाशाली कवि क्रिस्टाफर ओकिग्बो ने तो कलम के स्थान पर बंदूक उठा ली और युद्ध क्षेत्र में जाकर शहादत दी। अली मजरुयी ने ओकिग्बो पर जो आरोप लगाया है कि 'उन्होंने नाइजीरिया के आदर्श को बिआफ्रा की विचारधारा के अधीन रख दिया' अथवा यह कि 'उन्होंने यह तय किया कि वह सबसे पहले इबो हैं और बाद में साहित्यकार'[10] उससे आप सहमत हों या असहमत लेकिन एक बात तो साफ है कि ओकिग्बो ने अपनी प्रतिबद्धता के समक्ष अपने प्राणों का मोह नहीं किया।

नोबुल पुरस्कार विजेता वोले सोयिंका ने हमेशा और हर तरह का जोखिम उठाते हुए अपने देश के सैनिक शासकों की भर्त्सना की तथा जनतंत्र के पक्ष में आवाज उठायी। बिआफ्रा युद्ध योरुबा सत्ताधारियों के दमन के खिलाफ इबो लोगों का संघर्ष था जो तीन वर्षों तक चला। सरकार ने इसे 'अलगाववादी' घोषित कर दिया था। वोले सोयिंका स्वयं योरुबा हैं लेकिन उन्होंने बिआफ्रा युद्ध के दौरान संघीय सरकार की नीतियों की तीखी आलोचना की और युद्ध के खिलाफ खड़े हो गये।[11] उन्होंने बिआफ्रा की यात्रा की और इबो लोगों के सैनिक कमांडर ओजुक्वू से भेंट की और 'मूर्खतापूर्ण अलगाववादी रवैये' के खिलाफ उन्हें समझाने की कोशिश की। अपनी इस कोशिश में असफल होने के बाद उन्होंने संयुक्त राष्ट्र से अपील की कि वह युद्धरत दोनों पक्षों को हथियारों की बिक्री पर प्रतिबंध लगाये। इन सबका नतीजा यह हुआ कि अत्यंत यंत्रणादायक स्थितियों में सोयिंका को 27 महीनों तक जेल में डाल दिया गया। जेल से छूटने के बाद उन्होंने 'ए मैन डायड' शीर्षक ने अपने जेल संस्मरण लिखे जो काफी लोकप्रिय हुए। 21 अक्टूबर 1998 को 'दि न्यूज' के पत्रकारों से बातचीत में उन्होंने गृह युद्ध की समाप्ति पर जारी अपने वक्तव्य की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि 'नाइजीरिया का गृह युद्ध अभी समाप्त ही हुआ था कि मैंने कहा कि युद्ध समाप्त नहीं हुआ है। यह ऐसा युद्ध है जो समाप्त नहीं होगा। बिआफ्रा के लोग कभी भी अपनी मांग नहीं छोड़ेंगे। लोगों ने इसे समझा नहीं। यह युद्ध मैदान में समाप्त हो गया था लेकिन हम सभी जानते हैं कि आज भी यह युद्ध लड़ा जा रहा है।'

बिआफ्रा युद्ध से पहले भी 1964 में उन्हें उस समय गिरफ्तार किया गया था जब इबादान के एक रेडियो स्टेशन में वह बंदूक लेकर घुस गये थे और चुनाव से संबंधित सरकार प्रवर्तित एक समाचार को पढ़ रहे समाचार वाचक से उन्होंने माइक छीन लिया था और अपनी बात कही थी।

27 महीने की जेल के बाद उन्होंने जेल जीवन और अमानवीय स्थितियों पर जो संस्मरण लिखे उनसे सैनिक शासन के प्रति एक नफरत पैदा होती है। उनकी इस पुस्तक ने आम आदमी की चेतना उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसी पुस्तक में उन्होंने ग्रीस के एक प्रोफेसर जार्ज मंगाकिस को उद्धृत किया है जो फासीवादी तानाशाहों की जेल में थे – 'जब कोई तानाशाही आपके देश पर थोपी जाती है तो एकदम पहले दिन से ही आपको जो पहला एहसास होता है वह है अपमान का एहसास। आपको उस अधिकार से वंचित कर दिया जाता है जिसके तहत आप अपने जीवन और भाग्य के बारे में कुछ सोच सकते हैं। अपमान का यह एहसास दिनोंदिन बढ़ता जाता है और आपको महसूस होता है कि आपके मनुष्य होने का कोई अर्थ

नहीं रह गया।'[12]

फेमी ओसोफिसान नाटककारों की उस पीढ़ी के रचनाकार हैं जो सोयिंका के बाद आयी है। अपने नाटकों के जरिए उन्होंने अपने देश के लोगों को स्वर देने का प्रयास किया है और यह बताना चाहा है कि इतिहास का जनतांत्रीकरण कितना जरूरी है और समाज के हर स्तर पर जनता की भागीदारी कितनी महत्वपूर्ण है। 31 जुलाई 1997 को उन्होंने इबादान विश्वविद्यालय के कला संकाय में एक भाषण के दौरान कहा कि 'हमारे राष्ट्र ने उस समय एक बुनियादी गलती की जब हमने सैनिकों को सत्ता की कुर्सी पर बैठने की इजाजत दी और अपने हाथों को भी खून से रंग दिया। लेकिन यह ऐसा अपराध नहीं है जिसमें सुधार न किया जा सके। यह तय है कि जब तक वे सत्ता में बने रहेंगे हमारे घाव कभी भरेंगे नहीं। अगर आतंक को समाप्त करना है तो इन सैनिक तानाशाहों को सत्ता से बेदखल करना होगा।'[13] ध्यान देने की बात है कि जिस समय फेमी ओसोफिसान ने यह वक्तव्य दिया अब तक का सबसे क्रूर तानाशाह सानी आबाचा सत्ता की गद्दी पर बैठा था।

अबाचा का आतंक जिस समय चरम पर था उन्हीं दिनों मजबूरी में देश छोड़कर बाहर गये बुद्धिजीवियों ने एक गुप्त रेडियो स्टेशन की स्थापना का निर्णय लिया। इससे पहले 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में कुछ राजनीति शास्त्रियों ने और मानव अधिकारियों ने (मसलन जूलियस इहोनबरे, कायोडे फायमी, सोला अदेयेये, कोले शेटिमा, बोलाजी अलूको, देबो अकानो, ताजुद्दीन अब्दुल रहीम, ओलू ओगीबे, दनबल दांजू आदि) ने विदेश में एक ग्रुप का गठन किया ताकि वे तानाशाही का सशक्त ढंग से विरोध कर सकें। 1994 में नेशनल डेमोक्रेटिक कोलीशन का गठन हुआ और उसके बाद सैनिक सरकार का दमन चक्र बहुत तेज हो गया। देश के अंदर से बड़ी संख्या में राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भाग कर बाहर जाना पड़ा।[14]

1995-96 में बुद्धिजीवियों के इस समूह ने यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट फार नाइजीरिया (यू डी एफ एन) का गठन किया जिसकी अध्यक्षता वोले सोयिंका को सौंपी गयी और इस मोर्चे के उपाध्यक्ष प्रमुख राजनीतिकशास्त्री जूलियस इहोनबरे बने। इन वर्षों के दौरान जनतंत्र समर्थक बुद्धिजीवियों के अनेक संगठन बनते टूटते रहे। तानाशाह सानी अबाचा का दमन तेज होता जा रहा था और इसने अब मीडिया को अपना प्रमुख निशाना बनाया था। 1994 के उत्तरार्द्ध में नाइजीरिया के कुछ बुद्धिजीवियों ने एक गुप्त रेडियो स्टेशन की स्थापना की ताकि जनता को वास्तविकता की जानकारी दी जा सके और आंदोलन के लिए प्रेरित किया जा सके। इस रेडियो स्टेशन की पहुंच बहुत कम थी लेकिन जून 1995 तक इन लोगों ने ज्यादा शक्तिशाली शार्टवेब पर काम करने वाला एक रेडियो स्टेशन स्थापित कर लिया।[15] इस स्टेशन का नाम पहले 'रेडियो डेमोक्रेसी इंटरनेशनल' रखा गया लेकिन आगे चलकर इसका नाम नाइजीरिया के प्रमुख जनतांत्रिक नेता मसूद अबिओला (जिनकी सानी अबाचा की जेल में संदिग्ध परिस्थितियों में मौत हो गयी थी) की पत्नी कुदिरत अबिओला के नाम पर 'रेडियो कुदिरत' रखा गया। स्मरणीय है कि कुदिरत अबिओला को 4 जून, 1996 को सानी अबाचा के गुंडों ने दिन दहाड़े लेगोस के एक चौराहे पर गोलियों से भून दिया था। इस रेडियो स्टेशन की स्थापना में वोले सोयिंका ने प्रमुख भूमिका निभायी थी। इनके साथ देश के अनेक राजनीतिशास्त्री थे जो निर्वासित जीवन बिता रहे थे।

कोई भी तानाशाह अगर किसी चीज से सबसे ज्यादा घबराता है तो वह है - ईमानदार बुद्धिजीवी, लेखक और पत्रकार। 'जो लोग सच पर पर्दा डालना चाहते हैं उन्हें हमेशा ही सबसे ज्यादा खतरा पुस्तकों तथा हर तरह के लेखन से रहा है।'[16] फेमी ओसोफिसान के शब्दों में 'पुस्तकें वह हथगोला हैं जो लेखकों द्वारा तानाशाहों और अत्याचारियों पर फेंकी जाती हैं। जब ये फटती हैं तो इनसे उम्मीद के टुकड़े निकल कर इधर उधर छिटकते हैं। यही वजह है कि पुस्तकों को उन लोगों द्वारा हमेशा एक खतरा समझा जाता है जो

यह नहीं चाहते कि जनता का विकास हो।'[17] वोले सोयिंका ने अपने एक लेख में अबाचा को 'हीन भावना से ग्रस्त एक मनोरोगी' कहा था और बताते हैं कि इस जुमले को अबाचा अपनी मौत तक भूल नहीं सका और तिलमिलाता रहा। इब्राहीम बबंगीडा से लेकर सानी अबाचा के शासनकाल तक लगातार पत्रकारों पर दमन चलता रहा लेकिन हर तरह के उत्पीड़न और दमन का सामना करते हुए नाइजीरिया के पत्रकारों ने बड़ी वीरता के साथ तानाशाहों का प्रतिरोध किया। यह एक ऐसा विषय है जिस पर अलग से लिखे जाने की जरूरत है।

नाइजीरिया के बुद्धिजीवियों ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए संघर्ष पर जोर देकर जो किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था के लिए एक अनिवार्य शर्त है, एक मिसाल कायम की। केन सारो वीवा ने अपने लेखों, कविताओं, उपन्यासों आदि के जरिए 'ओगोनी' लोगों के संघर्ष को मजबूती दी जो बहुराष्ट्रीय तेल कंपनी 'शेल' के खिलाफ आंदोलन चला रहे थे। इस कंपनी ने संघीय सरकार के साथ साठ गांठ करके नाइजर डेल्टा क्षेत्र में जनता के स्वास्थ्य और पर्यावरण की परवाह किये बिना तेल निकालने का काम जारी रखा। केन सारो वीवा ने अपने क्षेत्र की जनता की तकलीफ को महसूस किया और उनके संघर्ष को संगठित रूप देने के लिए 'मोसाप' (मूवमेंट फॉर दि सर्वाइवल ऑफ ओगोनी पीपुल) नामक संगठन की स्थापना की और अपने जीवन को बलिदान कर दिया। सानी अबाचा की सरकार ने एक साजिश के तहत केन सारो वीवा को हत्या के जुर्म में गिरफ्तार किया, मुकदमें, की फर्जी कार्रवाई हुई और विश्वभर के नेताओं की अपील को ठुकराते हुये 10 नवम्बर 1995 को उन्हें फांसी पर लटका दिया।

अपने मुकदमें के दौरान केन सारो वीवा ने कहा – 'मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो यह दलील देते हुए कि सैनिक सरकारें तो दमनकारी होती ही हैं अन्याय और उत्पीड़न का विरोध करने से अपने को बचाता रहूं। कहीं भी सैनिक हुकूमत अकेले काम नहीं करती। उसे राजनीतिज्ञों, वकीलों, न्यायाधीशों, विद्वानों और व्यापारियों के एक गिरोह का समर्थन प्राप्त रहता है और यह गिरोह दावा करता है कि वह अपना कर्तव्य निभा रहा है। ये लोग पेशाब में तरबतर पतलूनें पहने रहते हैं और धोने में डरते हैं। माई लॉर्ड, आज हम सभी कठघरे में खड़े हैं – हमने अपनी हरकतों से इस देश को दुर्दशा के कगार पर पहुंचा दिया है और इसदेश के बच्चों का भविष्य तबाह कर दिया है।'[18]

केन सारो वीवा का यह कथन सही था कि सैनिक हुकूमतें अकेले काम नहीं करतीं। नाइजीरिया के एक राजनीति शास्त्री जिब्रीम इब्राहिम के अनुसार राजनीतिशास्त्र के प्रमुख प्रोफेसरों और विद्वानों की एक बड़ी तादाद को जनरल बबंगीडा ने उस कार्यक्रम से जोड़ा जिसका मकसद देश में नागरिक और जनतांत्रिक शासन बहाल करना बताया जाता था। बबंगीडा ने अपनी एक सलाहकार परिषद बनायी जिसमें उसने देश के तीन प्रमुख प्रोफेसरों – जोनाह एलेग्वु अली याहिया और याहिया अलीयू को शामिल किया। अनेक विद्वानों को लेकर एक राजनीतिक ब्यूरो की स्थापना की गयी। अनेक विद्वानों ने इस सैनिक जनरलों की प्रशस्ति में लंबे लंबे लेख भी लिखे।[19]

मई 1999 में राष्ट्रपति ओबसांजो के नेतृत्व में एक जनतांत्रिक सरकार की स्थापना हुई। 2003 के चुनाव में यह सरकार दुबारा सत्ता में चुन कर आई। वर्षों की सैनिक तानाशाही के बाद और खास तौर पर सानी आबाचा के भ्रष्ट और बर्बर शासनकाल के बाद किसी असैनिक सरकार के गठन से जनता के अंदर काफी उत्साह पैदा हुआ लेकिन इस नई सरकार के कार्यकलापों से उसे निराशा ही हुई। राष्ट्रपति ओबसांजो की छवि एक जनतांत्रिक राजनेता की बजाय असैनिक तानाशाह के रूप में स्थापित होने लगी। एक ऐसे तानाशाह के रूप में जो उपन्यासकार फेस्टस इयायी के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के इशारों पर काम करता हो। नाइजीरिया के एक प्रमुख बुद्धिजीवी और राजनीतिशास्त्री डॉ. अबूबकर मोमो ने

ओबसांजो को तानाशाह बताते हुए लिखा – 'जो सरकार कहती कुछ हो और करती कुछ हो उस पर किसी भी तरह विश्वास नहीं किया जा सकता और जिस सरकार पर विश्वास न किया जा सके उसके साथ कैसा सुलूक किया जाना चाहिए? उसकी पीठ पर लात मारकर उसे हटा देना चाहिए। ओबसांजो को गलतफहमी है कि उनकी हैसियत सबसे ऊंची है और कोई उनकी आलोचना नहीं कर सकता। वह गांव के किसी स्कूल के हेडमास्टर की तरह बर्ताव करते हैं क्योंकि उनका दिमाग एक सैनिक तानाशाह का दिमाग है। उनकी हरकतों को हम यूं ही नहीं होने देंगे। मैंने बार बार कहा है कि सैनिक शासन में ही तानाशाही नहीं होती। हिटलर कोई सैनिक शासक नहीं था। वह जर्मनी की सोशलिस्ट पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़कर आया था लेकिन इतिहास में उसके जैसा बर्बर तानाशाह पैदा नहीं हुआ। इसलिए हमें खुद को इस धोखे में नहीं रखना चाहिए कि यहां जनतंत्र है। नाइजीरिया में किसी भी तरह का जनतंत्र नहीं है। यहां पूरी तरह एक राष्ट्रपति की तानाशाही है। हमें इस सच्चाई को बखूबी समझना चाहिए।'[20] यहां यह बताना जरूरी है कि मौजूदा राष्ट्रपति ओबसांजो सेना के भूतपूर्व जनरल हैं जो फरवरी 1976 से अक्टूबर 1979 तक देश के सैनिक तानाशाह रह चुके हैं। सेना से अवकाश लेने के बाद वह राजनीति में आये और 'पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी' (पीडीपी) का गठन किया। इस पार्टी में भी लगभग डेढ़ सौ ऐसे लोग सक्रिय हैं जो अवकाश प्राप्त सैनिक अधिकारी हैं।

वोले सोयिंका, चीनुआ एचेबे, गैब्रियल ओकारा आदि के बाद की पीढ़ी (दूसरी पीढ़ी) के प्रसिद्ध कवि नीयी ओसुन्दरे ने राष्ट्रपति ओबसांजो के नाम एक खुले पत्र में लिखा – 'कुशासन की जो दयनीय गाथा इस अभागे देश के साथ जुड़ी हुई है उसकी कड़ी में आप सबसे उद्दंड, सबसे ज्यादा असंवेदनशील, अत्यंत घृणित और बेहद पाखंडी शासक साबित हुए हैं।'[21] अपने पत्र में उन्होंने आगे लिखा कि 'आप जब सत्ता में आये उस समय एक लीटर पेट्रोल की कीमत 21 नायरा थी जो कुछ जगहों में 42 नायरा और कहीं कहीं तो 80 नायरा तक पहुंच गयी है। आपको इतने में भी संतोष नहीं हुआ तो आपने 1.50 नायरा की इस पर लेवी लगा दी। औसत साइज की 3 याम की गांठें 1999 में 80 नायरा में मिलती थीं जो अब 300 नायरा की हो गयीं हैं। उस समय 3200 नायरा में एक बोरी चावल मिलता था जो अब 4800 नायरा हो गया है। 1999 में एक बोरी सीमेंट 550 नायरा की थी जिसकी कीमत आज 1000 नायरा हो गयी है।'

नाइजीरिया के लेखक और बुद्धिजीवी आम आदमी की समस्याओं को लेकर बराबर अपनी चिंता जाहिर करते ही रहते हैं साथ ही वे इस बात से भी बहुत चिंतित हैं कि सरकार किस प्रकार लगातार अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के एजेंडा को लागू करने में लगी है और जनता के हितों की बिल्कुल परवाह नहीं कर रही है। नाइजीरिया का स्थान दुनिया के 5 प्रमुख पेट्रोल उत्पादक देशों में है लेकिन भ्रष्टाचार का आलम यह है कि इस देश का एक भी तेल शोधक कारखाना सही सलामत नहीं है और कच्चा तेल अमेरिका खरीदता है जिसे शोधित करने के बाद वह ऊंचे दाम पर नाइजीरिया को बेचता है। यहां के लेखकों ने बार बार इस सवाल को उठाया है कि इस समस्या से कैसे निपटा जाये।

दरअसल नाइजीरिया की समस्याओं की जड़ यहां की समूची व्यवस्था में है जिसका पूरी तरह सैनिकीकरण हो गया है। सेना को जब महसूस होता है कि जनता अब सेना से ऊबने लगी है तो सैनिक तानाशाह अपनी वर्दी उतारकर सत्ता की कुर्सी पर जा बैठते हैं। यही वजह है कि सत्ता के हर क्षेत्र में एक सैनिक मानसिकता दिखायी देती है। यह समस्या इतनी गहरी हो गयी है कि सैन्यवाद ऊपर से छन कर नीचे जनता तक भी पहुंच चुका है जिसने समाज के अंदर एक खास तरह की असहनशीलता पैदा कर दी है। सरकार और जनता के बीच जो सामाजिक अनुबंध होता है वह पूरी तरह टूट चुका है लेकिन आप इसकी शिकायत नहीं कर सकते। अगर आपको बिजली चाहिए तो आपको एक जेनरेटर रखना ही होगा, पानी

चाहिए तो बोरिंग कराये बगैर काम नहीं चल सकता, सुरक्षा चाहिए तो आपको निजी सुरक्षा गार्ड रखने होंगे। ऐसी स्थिति में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि सरकार के होने का अर्थ क्या है।

उपन्यासकार फेस्टस इयायी ने अपने एक लेख में लिखा कि हममें से सबके अंदर एक अबाचा मौजूद है।[22] अभी कुछ ही महीने पूर्व सरकार की असहनशीलता और उद्दंडता उस समय देखने को मिली जब प्रख्यात उपन्यासकार चीनुआ एचेबे ने सरकार द्वारा घोषित देश के सर्वोच्च सम्मान को यह कहकर लेने से इनकार कर दिया कि जो सरकार जनता की समस्याओं के प्रति इस कदर संवेदनहीन हो उस सरकार द्वारा दिये गये सम्मान को मैं ग्रहण नहीं कर सकता। एचेबे के इस बयान से तिलमिलाकर राष्ट्रपति भवन से राष्ट्रपति के विशेष अधिकारी फेमी फॉनी कायोडे ने एक बयान जारी किया जिसमें एचेबे से कहा गया था कि 'आप कितने भी बड़े और दमदार व्यक्ति क्यों न हों, कितने भी विख्यात लेखक क्यों न हों अगर आपको लगता है कि इस देश को आपको सम्मानित करने का अधिकार नहीं है तो निश्चित रूप से आपको भी इस देश में रहने का अधिकार नहीं है।' इस बयान पर नाजीरिया के बौद्धिक जगत में जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और अखबारों ने तीखे सम्पादकीय लिखे। बयान के साथ यहभी कहा गया था कि चूंकि एचेबे काफी दिनों से देश से बाहर हैं इसलिए उन्हें इस बात की जानकारी नहीं है कि हाल के वर्षों में यहां कितनी प्रगति हुई है। यही बात जनवरी 2000 में उस समय कही गयी थी जब वोले सोयिंका ने राष्ट्रपति ओबसांजो की नीतियों की आलोचना की थी। उस समय भी ओबसांजो की पार्टी पीडीपी ने वक्तव्य जारी कर रहा था कि चूंकि सोयिंका प्राय: अमेरिका रहते हैं इसलिए देश की स्थितियों से अनभिज्ञ हैं। इसी के साथ उन्हें यह चेतावनी भी दी गयी थी कि वह 'विघटनकारी हरकतों' से बाज आएं।

नाइजीरिया के समकालीन साहित्य में हम दो तरह की प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से देख सकते हैं - एक तो आजादी से मोहभंग की स्थिति जिसमें देश के समूचे राजनीतिक और सामाजिक ढांचे पर तीखा प्रहार है। दूसरी प्रवृत्ति समूची स्थिति को एक वर्गीय दृष्टिकोण से देखने की है। चीनुआ एचेबे ने प्राचीन नाइजीरियायी समाज का बहुत शानदार चित्रण 'थिंग्स फॉल अपार्ट' उपन्यास में किया है जिसमें बताया है कि किस तरह परंपरागत समाज को तोड़ने में इसाई मिशनरियों ने अपनी भूमिका निभायी। उनके बाद के उपन्यासों 'ए मैन आफ द पीपुल' से लेकर 'आंटहिल्स आफ सवान्ना' में भ्रष्टाचार और सैन्यीकरण में दम तोड़ते नाइजीरिया के तस्वीर दिखायी देती है। उनकी पीढ़ी के अन्य रचनाकार मसलन वोले सोयिंका, सिप्रन एक्वेंसी, टी एम अलूको,आदि तथा जे.पी. क्लार्क, ओकारा, जैसे कवियों ने इन्हीं स्थितियों का चित्रण किया है। लेकिन 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1950 के दशक में पैदा लेखकों की 'दूसरी पीढ़ी' अब उन स्थितियों पर कोफ्त करने की बजाय इन स्थितियों से निजात पाने के तरीके पर विचार कर रही है। ओडिया ओफेमन और नीयी ओसुन्दरे जैसे कवियों तथा फेमी ओसोफिसान और फेस्टस इयायी जैसे नाटककारों और उपन्यासकारों ने नाइजीरिया जैसे वर्ग समाज में मौजूद अंतर्विरोधों को पहचानने का प्रयास किया है। अपनी रचनाओं के जरिए उन्होंने यह जानना चाहा है कि क्या वजह है कि तेल से प्राप्त भारी मुनाफे का सारा लाभ मुट्ठीभर लोगों को मिल रहा है और व्यापक जनता दिनों दिन कंगाल होती जा रही है। इन लेखकों को मोटे तौर पर वामपंथी माना जाता है लेकिन वामपंथ को लगभग हिकारत की दृष्टि से देखने वाले वोले सोयिंका ने भी अपनी चर्चित पुस्तक 'दि मैन डायड' की भूमिका में जवाबी हिंसा के खतरे का संकेत दिया है। उन्होंने लिखा है कि - 'राजनीति में हिंसा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। इन सभी का अंतिम सिरा राजनीतिक लक्ष्य की ओर होता है। कहने का मतलब यह कि ऐसी राजनीतिक कार्रवाइयां जो उस राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल सभी लोगों के लिए यहां तक कि उस प्रक्रिया को शुरू करने वालों के लिए भी एक बंद गली का निर्माण करती है उससे जो हिंसा पैदा होती है वह अपने आप में एक जवाबी हिंसा को जन्म देती है।'[23]

फेमी ओसोफिसान ने अपने नाटक 'वन्स अपान फोर राबर्स' में हथियार बंद डकैतियों पर रोशनी डाली है जो नाइजीरियायी समाज में गृहयुद्ध के बाद अर्थात 1970 के बाद एक आम परिघटना को गयी थी। अपने इस नाटक में उन्होंने तीन बातों पर जोर दिया है - 1. सशक्त डकैती उस व्यवस्था का प्रतिफल है जो असमानता पर टिकी हुई है, 2. सशस्त्र डकैती तथा इससे जुड़ी सामाजिक समस्याओं का समाधान एक ऐसी क्रांति के जरिये संभव है जिसमें उत्पादन संबंधों को फिर से परिभाषित किया जाय और असमानता तथा हमलावर प्रतिद्वंद्विता के स्रोतों को समाप्त किया जाय, और 3. जिस हिंसा से सत्ता इन डकैतों का मुकाबला कर रही है उससे और भी ज्यादा हिंसा भड़केगी और इसमें वे लोग भी शामिल होंगे जो राज्य के आतंकवाद को दूर करने की वस्तुगत स्थितियों से वंचित है।[24] इस नाटक में एक डाकू कहता है - 'बहुत सारे ऐसे नागरिक हैं जिनसे यह पूछा जाना चाहिए कि उनके पास यह दौलत कहां से आयी और उनके मजदूर इतने कंगाल क्यों हैं। ऐसी स्थिति का केवल एक ही समाधान है।' (पृष्ठ 17)

इसी प्रकार फेस्टस इयायी के प्रसिद्ध उपन्यास 'वायलेंस' में एक पात्र पूरी शिद्दत के साथ कहता है कि 'मेरी समझ से हिंसा की कार्रवाई तब होती है जब किसी व्यक्ति को शिक्षा पाने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है, नौकरी पाने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है, न तो वह खुद ठीक से खा पाता है और न अपने परिवार को खिला पाता है, जब उसे सस्ती दर पर और जरूरत पर दवा नहीं मिलती। प्राय: हम यह नहीं समझ पाते कि जिस समाज में हम रह रहे हैं या जिस आर्थिक और इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था को हम आज अपने देश में लागू कर रहे हैं वह लोगों को हर रोज बर्बर बना रही है और मनुष्यता का बलात्कार कर रही है। प्राय: हम नहीं जानते कि इन निम्न और सीमित अवसरों वाले लोग जब प्रतिक्रिया जाहिर करते हैं तो वे काफी हद तक हिंसा का ही जवाब हिंसा से दे रहे होते हैं। तो भी मैं यह नहीं चाहूंगा कि मुट्ठी भर लोग हथियार उठा लें और किसी व्यक्ति को लूट लें। मैं समझता और महसूस करता हूं कि हमारे समाज के सभी उत्पीड़ित लोगों को हथियार उठा लेना चाहिए ताकि इस मौजूदा दमनकारी व्यवस्था को उखाड़ फेंका जा सके। इस व्यवस्था ने पहले ही साबित कर दिया कि यह हिंसा के जरिये काम करती है।'[25]

देखा जाय तो स्थिति बहुत भयंकर है। यद्यपि देश में सैनिक शासन नहीं है लेकिन समूचे तंत्र का सैन्यीकरण हो गया है। आखिर रास्ता क्या है? क्या नाइजीरिया किसी हिंसात्मक उथल पुथल की ओर बढ़ रहा है?

अपने विचारों और कविताओं के कारण पुरानी और नई पीढ़ी के रचनाकारों में समान रूप से लोकप्रिय और नयी पीढ़ी के बीच अत्यंत सम्मानित कवि ओडिया ओफेमन के पास इसका उत्तर है - 'हमारे सामने एक अनकही कहानी पसरी हुई है। यह कहानी हिंसा की संस्कृति के बारे में है जो उन सभी साधनों के मूल में है जिनके जरिये नाइजीरियायी समाज के भीतर बेहतरी के लिए परिवर्तन का प्रयास किया जा सकता है। बहुत सीधी सी बात है कि अगर नाइजर डेल्टा अथवा देश के किसी अन्य हिस्से की जनता को महज इसलिए न्याय नहीं मिल पा रहा क्योंकि उसके पास इतनी ताकत नहीं है कि वह अपनी मांग के प्रति सम्मान की भावना की अपेक्षा करे या इसलिए क्योंकि चुनावी प्रक्रिया को उन लोगों ने अगवा कर लिया है जिन्हे इस जनता ने अपना प्रतिनिधि नहीं चुना तो इस मान्यता का आधार तैयार होता है कि जो लोग हिंसा का रास्ता अख्तियार कर सकते हैं वही इस नाइजीरियाई व्यवस्था में अपना अधिकार पा सकते हैं। हमारी यह चिंता स्वाभाविक है कि अगर यह मान्यता आगामी 2007 के चुनावों में भी स्थान पा गयी तो हो सकता है कि ये चुनाव कभी सम्पन्न ही न हों।'26

ओडिया ओफेमन की यह टिप्पणी गौर करने लायक है जो उन सब लोगों को सजग करेगी जो जनतंत्र के प्रति संवेदनशील हैं।

टिप्पणियां :

1. अदेबायो विलियम्स का लेख 'लिटरेचर इन दि टाइम ऑफ टाइनेरी' जो 1999 में कोडेसरिया, सेनेगल से प्रकाशित पुस्तक 'गवर्नेंस एण्ड डेमोक्रेटाजेशन इन वेस्ट अफ्रीका' में संकलित है। देखें पृ. 78
2. वही, पृ. 70
3. बेसिल डेविडसन, 'इन दि आई ऑफ दि स्टॉर्म : अंगोलाज पीपुल', 1974, पेंग्विन, पृ. 261
4. बेसिल डेविडसन, 'दि सर्च फॉर अफ्रीका', 1994, जेम्स करी लिमिटेड, लंदन, पृ. 261
5. नाइजीरिया के एक गवर्नर के नाम पर बना 'क्लिफर्ड कांस्टीट्यूशन' 1922 में लागू हुआ था। इसमें 46 – सदस्यीय लेजिस्लेटिव कांउसिल के गठन का प्रावधान था। इन काउंसिल में अफ्रीकियों को 10 सीटें दी गयी थीं जिनमें से 4 पर चुनाव होने थे। उपनिवेश के प्रशासनिक केंद्र लेगोस से 3 और कालाबार से 1 प्रतिनिधि चुने गये।
6. एल.एन. प्रिबित्कोवस्की, 'ए हिस्ट्री ऑफ अफ्रीका', 1968, यू एस एस आर अकाडेमी ऑफ साइंसेज, मास्को, पृ. 295
7. वही, पृ. 297
8. कोलावले ओगुंगबेसन द्वारा संपादित 'न्यू वेस्ट अफ्रीकन लिटरेचर', में उद्धृत, पृ. 11
9. अदेबायो विलियम्स, 'लिटरेचर इन दि टाइम ऑफ टाइरेनी', पृ. 69
10. अली मजरूई, 'दि ट्रॉयल ऑफ क्रिस्टॉफर ओकिग्बो, हाइनमैन', पृ. 14
11. वही, पृ. 64
12. वोले सोयिंका, 'दि मैन डायड', संस्करण 2002, स्पेस्ट्रम बुक्स, पृ. 14
13. फेमी ओसोफिसान, 'इन्सीडियस ट्रेजन्स', 2001, पोपोन इफा पब्लिशर्स, इबादान, पृ. 21
14. कायोदे फायेमी और पीटा अगाबेसे (सं.), 'दि बेस्ट इज येट टु कम', 2002, सीडीडी, नाइजीरिया, पृ. 26
15. वही, पृ. 29। रेडियो कुदिरत और वोले सोयिंका की भूमिका का विस्तार से जानकारी के लिए 4 दिसंबर 2004 के 'इंडेपेंडेंट' (लेगोस) में प्रकाशित कायोदे फायमी का इंटरव्यू देखें।
16. वोले सोयिंका, 'दि मैन डायड' पृ. 9
17. फेमी ओसोफिसान, 'लिटरेचर एण्ड दि प्रेशर ऑफ फ्रीडम', 2001, ओपोन इफा रीडर्स, पृ. 191
18. 'केन सारो-वीवाज लास्ट वर्ड्स', 2004, मोसोप पब्लिकेशंस, पृ. 78
19. देखें जिब्रीन इब्राहिम का लेख 'पोलिटिकल साइंटिस्ट्स एण्ड दि सबवर्सन ऑफ डेमोक्रेसी इन नाइजीरिया' जो 'दि स्टेट एण्ड डेमोक्रेसी इन अफ्रीका' में संकलित है, 1997, अफ्रीका वर्ल्ड प्रेस, पृ. 117
20. 'दि गार्डियन', लेगोस, 1 अक्टूबर 2004
21. 'दि गार्डियन', लेगोस, 24 फरवरी 2004
22. फेस्टस इयायी का लेख 'ऑफ मान्सटर्स एण्ड डेमन्स इन दि नाइजीरियन यूनिवर्सिटी', दि स्कॉलर, मार्च 2002
23. वोले सोयिंका, 'दि मैन डायड', पृ. 21
24. चीदी अमूटा, 'दि थ्योरी ऑफ अफ्रीकन लिटरेचर', 1989, जेड प्रेस लंदन, पृ. 168
25. फेस्टस इयायी, 'वायलेंस', 1979, लांगमैन, इबादान, पृ. 185
26. ओडिया ओफेमन, 'टेकिंग नाइजीरिया सीरियसली', वैंगार्ड, 25 अक्टूबर 2003

प्रस्तुत आलेख 'सेंटर फॉर दि स्टडीज ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज' (सी एस डी एस) की एक फेलोशिप के अंतर्गत नाइजीरिया प्रवास के दौरान लिखा गया।

पहल 79 में आनंद स्वरूप वर्मा और हमने वायदा किया था कि क्रमशः नाइजीरिया और अन्य अफ्रीकी देशों के साहित्य और विचार को प्रकाशित करेंगे। इस अंक से यह शुरूआत हुई है। अगले अंग में एक दुर्लभ साक्षात्कार पढ़ा जा सकेगा।

हिन्दी प्रदेश : टूटा बिखरा देश

सच्चिदानन्द सिन्हा

(सच्चिदानंद सिन्हा छात्र जीवन से ही समाजवादी आन्दोलन से जुड़े। प्रारंभ में मजदूर और किसान आन्दोलनों में सक्रिय रहे। चार दशक से अधिक से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं। इनकी हर रचना पाठक के सोच का दायरा विस्तृत करती है। इतिहास के गहन अध्येता और गंभीर चिंतक होने के कारण उनकी रचनाओं में व्यक्त विचार कई आयामों में प्रकट होता है। उनके तथ्य देश और काल के संदर्भ में समग्रता के साथ जुड़े रहते हैं। प्रकाशित पुस्तकें हैं : समाजवाद के बढ़ते चरण, ज़िन्दगी सभ्यता के हाशिये पर, उपभोक्तावादी संस्कृति, भारतीय राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता, मानव सभ्यता और राष्ट्र-राज्य, नक्सली आन्दोलन का वैचारिक संकट, वर्त्तमान विकास की सीमाएँ, संस्कृति विमर्श, (अंग्रेजी में-) द इन्टरनल कॉलोनी, सोशलिज्म एण्ड पावर, द बिटर हार्वेस्ट, इमरजेंसी इन पर्सपेक्टिव, द परमानेंट क्राइसिस ऑफ इंडिया, केओस ऐंड क्रियेशन, कास्टसिस्टम: मिथ्स रिएलिटी चैलेंज, द एडवेंचर्स आफ लिबर्टी, कएलिशन इन पॉलिटिक्स, द अन्-आर्म्ड प्रोफेट एण्ड सोशलिज्म, ए मेनिफेस्टो फॉर सर्वाइवल। वर्त्तमान में ग्राम : मनिका, जिला : मुजफ्फरपुर में रहते हैं।

बारहवाँ 'राजबहादुर पाठक स्मृति' व्याख्यान 'हिन्दी प्रदेश : टूटा बिखरा देश' 4 जून 2005 को भोपाल में प्रस्तुत किया गया था। आलेख में मार्क्स और रोजा लक्जमबर्ग के पूँजीवाद के फैलने के सिद्धान्तों का भारत के संदर्भ में सारगर्भित उल्लेख इसे महत्वपूर्ण दस्तावेज़ बनाता है। यह आलेख हमें इटारसी के साथी कश्मीर उप्पल से प्राप्त हुआ है।)

– संपादक

मनुष्य की निजी पीड़ा की अनुभूति समान व्याधि से ग्रसित दूसरों की पीड़ा से हमेशा अधिक गहरी होती है। दरअसल आदमी का अहं ही उसकी सामाजिक और सार्विक चेतना का प्रस्थान बिंदु लेता है। इसलिए स्वाभाविक है कि हम हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्र के लोग इस क्षेत्र के बड़े भाग की दैन्य और अराजक स्थिति से आहत महसूस करे। इससे अपनी पीड़ा में अकेला होने का अहसास भी होता है। लेकिन यह भी एक आम अनुभव है कि किसी बीमारी का इलाज काफी आसान हो जाता है जब हम इसके चरित्र से परिचित हो जाते हैं। इससे हमें इलाज के दूसरों द्वारा अपनाये गये पिछले उपायों की जानकारी होती है जिसकी रोशनी में हम अपने इलाज की तरकीब ढूँढ़ते हैं। इससे कम से कम कुछ निदान तो दिखाई देता ही है। हम यहाँ अपनी बीमारी को एक व्यापक संक्रमण के नतीजे के रूप में समझने की कोशिश करेंगे। इसमें

थोड़ी निराशा भी होगी क्योंकि अपनी बीमारी में विशिष्ट होने के बोध का लोप हो जायेगा और निदान में एलोपैथी की एकरसता का भय भी पैदा होगा।

सबसे पहले तो हम इस तथ्य की ओर ध्यान खींचना चाहेंगे कि ''हिन्दी प्रदेश'' अपनी गरीबी और बिखराव में अकेला नहीं है और हिन्दी भाषी क्षेत्रों की स्थिति भी सभी जगह समान नहीं है। गरीबी और पिछड़ेपन में देश के कई गैर-हिन्दी क्षेत्र भी कमोबेश इसके बराबर हैं – जैसे असम, उत्तर बंगाल, महाराष्ट्र का विदर्भ, उड़ीसा, आंध्र का तेलंगाना क्षेत्र आदि। विघटनकारी प्रवृत्ति इनमें कुछ अंचलों में हिन्दी क्षेत्र से ज्यादा ही प्रबल दिखाई देती है- जैसे असम में उल्फा और बोडो लिबरेशन फ्रंट जैसे आंदोलन, उत्तर बंगाल में कामतापुरी लिबरेशन फ्रंट, तेलंगाना में कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) की सशस्त्र बगावत आदि। दूसरी ओर हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी आर्थिक दृष्टि से काफी भिन्नताएं हैं। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश की तुलना में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, जहां हरित प्रदेश बनाने की मांग हो रही है, कहीं सम्पन्न हैं। दिल्ली के आस पास का राजधानी क्षेत्र जिसमें उत्तर प्रदेश का नोयडा और गाजियाबाद एवं हरियाणा का फरीदाबाद और गुड़गांव शामिल हैं, देश के सबसे सम्पन्न शहरी क्षेत्रों के रूप में उभर रहे हैं, और ये भी हिन्दी भाषी ही है। स्वयं भोपाल जहां हम बैठे हैं, और मध्यप्रदेश के ऐसे ही दूसरे नगर और कस्बों के बाहर इनको घेरे खड़े आदिवासी बहुल विशाल वन प्रदेश से इनका कितना तादात्म्य है। ये आदिवासी भी तो इसी प्रदेश के अंग हैं जिन्हें बिना किसी हिचक या झेंप के, सुविधा के अनुसार हम विस्थापित करते रहते हैं – चाहे गोला बारूद की जांच के लिए प्रूफ रेंज बनाना हो, चाहे कोई बड़ा बांध बनाना हो, चाहे बांधों के लिए अभयारण्य; इन्हें कूड़े की तरह अपने गांवों और परिवेश से बुहारकर बाहर कर दिया जाता है। यहां ये सौ-डेढ़ सौ किलोमीटर की दूरी पर तवा बांध से विस्थापित आदिवासियों को लम्बे संघर्ष के बाद तवा जलाशय में मछली मार कर किसी तरह आजीविका हासिल करने की अनुमति मिली। अभी वे नयी जिन्दगी को जमा भी नहीं पाये थे कि उन्हें अपना धंधा बंद करने का नोटिस जारी कर दिया गया है क्योंकि इससे सैलानियों के प्यारे वन्य पशुओं के जीवन में खलल पहुँचेगा। सवाल है कि क्या हिन्दी प्रदेश इन मानव कूड़ों का भी अपना प्रदेश है? इन सब बातों पर विचार करने से लगता है कि हिन्दी प्रदेश की अवधारणा हकीकत की अति सरलीकृत तस्वीर पेश करती है। ऐसी धुंधली तस्वीर लेकर हम इस टूटते बिखरते ''हिन्दी देश'' की समस्याओं का समाधान ढूढ़ सकते हैं क्या?

इसका अर्थ यह नहीं कि 'हिन्दी प्रदेश' से किसी तरह का यथार्थ बोध नहीं होता। हिन्दी भाषा देश के सबसे बड़े भू-खण्ड के लोगों को एक अतीत और इसकी ऐतिहासिक विरासत से जोड़ती है, जो विरासत संयोग से अत्यंत ही समृद्ध है। लेकिन सुनहला अतीत सदा हमारा सुरक्षा कवच बन कर नहीं रह सकता। स्वयं पश्चिमी सभ्यता के सभी उदात्त पहलुओं का जनक यूनान आज यूरोपीय समाज के पायदान पर खड़ा है। संसार की सबसे प्राचीन सुमेर और बेबीलोन की सभ्यताओं की भूमि इराक का क्या हाल है? दोनों ही हमारी नयी सभ्यता की दौड़ में पिछड़कर हाशिये पर डाल दिये गये हैं या रौंदे जा रहे हैं। जब हम कबीर, तुलसी, मीरा और बुद्ध की इस भूमि पर आंसू बहाते हैं तो हमें एक नजर इन दूसरी सभ्यताओं पर भी डालना चाहिए। इससे थोड़ी राहत भी मिलती है और कुछ रोशनी भी यह समझने के लिए कि हम आज जहां आ गये हैं वह क्यों और कैसे।

हिन्दी प्रदेश की स्थिति को समझने के लिए जो नजरिया यहां पेश किया जा रहा है वह बहुत लोगों को ''रिडक्सनिस्ट'' यानी आर्थिक नियतिवाद जैसा लग सकता है। लेकिन एक ऐसे कालखण्ड में जहां सभी क्षेत्र-राजनीति, कला, विज्ञान तथा आध्यात्मिक उपदेश के केन्द्र तक विशाल औद्योगिक आर्थिक प्रतिष्ठानों द्वारा प्रायोजित हों और विज्ञापनों द्वारा हमें एक छाया संसार (वर्चुअल वर्ल्ड) में रहने को बाध्य कर रहे हों,

इस अर्थतंत्र के प्रभाव से मुक्त किसी इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती - कम से कम तब से जब से पूंजीवादी विकास ने संसार को अपनी गिरफ्तार में लेना शुरू किया है। इसलिए हमें हिन्दी प्रदेश की स्थिति का कारण पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और इससे अनिवार्य रूप से जुड़े आंतरिक उपनिवेशवाद के प्रसार में ढूंढ़ना होगा। यहां हम संक्षिप्त में इस अवधारणा की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालेंगे।

समाजवादी नेता डाक्टर राममनोहर लोहिया ने अपनी पुस्तक "इकोनॉमिक्स आफ्टर मार्क्स" में लिखा है कि लेनिन की इस स्थापना के विपरीत कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अंतिम पड़ाव है दरअसल पूंजीवाद अपने जन्मकाल से ही साम्राज्यवाद पर आधारित रहा है। लेनिन ने अपने विचार को उस संदर्भ में रखा था जब यूरोप प्रथम विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ा था और वहां के पूंजीवादी देश जैसे जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि दुनिया के साम्राज्य के बंटवारे के लिए युद्ध की तैयारी में थे। इसके विपरीत डा. राममनोहर लोहिया के सामने अंग्रेजी राज में भारत का ढाई सौ वर्षों के शोषण का इतिहास था और देश को इससे मुक्त करने के लिए महात्मा गांधी का स्वदेशी का आंदोलन जोर पकड़ चुका था। इसके पहले दादा भाई नौरोजी जैसे मनीषियों ने अपने अध्ययन से यह सिद्ध कर दिया था कि ब्रिटेन की समृद्धि भारत जैसे देशों की संपदा के अनवरत लूट पर आधारित थी। स्वयं यूरोप में पूंजीवाद के विकास में साम्राज्यवादी शोषण की भूमिका पर महत्वपूर्ण अध्ययन हो चुके थे। भारत के भुक्तभोगी समाज की चेतना में रचे-बसे चिंतक लोहिया के सामने पूंजीवाद का यह पहलू कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण था।

स्वयं कार्ल मार्क्स ने अपने विख्यात ग्रंथ 'पूंजी' के प्रथम खण्ड में यह दिखलाया था कि पूंजी का आदिम संचय अकल्पनीय हिंसा, लूट और जोर-जुल्म पर आधारित था जिसकी चपेट में देश और विदेश दोनों ही के आम आदमी आ गये थे। मार्क्स के 'पूंजी' के अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए समाजवादी आंदोलन की सब से प्रबुद्ध और क्रांतिकारी नेता रोजा लक्जमबर्ग ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'एक्युमुलेशन ऑफ कैपिटल' में यह दिखलाया कि मार्क्स द्वारा 'पूंजी' द्वितीय खण्ड में प्रस्तावित पूंजी का विस्तारित पुनरुत्पादन का मॉडेल मिबना एक बाहरी क्षेत्र का आधार लिये टूट जाता है। रोजा लक्जमबर्ग ने अपनी आलोचना का आधार स्वयं मार्क्स के बेशी (अतिरिक्त) मूल्य के सिद्धांत को बनाया। मार्क्स की स्थापना थी कि मजदूर जब किसी पूंजीपति के लिए काम करता है तो उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य का एक भाग तो उसे मजदूरी के रूप में मिल जाता है - मसलन अगर उसने दस घंटे मजदूरी की तो आठ घंटे में किया गया उत्पाद। लेकिन दो घंटे का अतिरिक्त उत्पाद हुआ वही बेशी मूल्य होता है जो जमा होकर पूंजीपति की पूंजी बन जाता है। अगर हजार श्रमिक काम करते है तो इस दर से पूंजीपति को दो हजार घंटे का उत्पाद बेशी मूल्य यानी मुनाफे के रूप में मिलता है, जिससे उसकी पूंजी बढ़ती है। मार्क्स की यह अवधारणा थी कि उस समाज में जहां पूंजीवाद स्थापित हो चुका है आय के दो ही स्रोत हो सकते हैं। एक तो मजदूरी के रूप में मिलने वाली श्रमिकों की आय और दूसरी पूंजीपतियों का मुनाफा जो उपरोक्त बेशी मूल्य से प्राप्त होता है। इसके बाहर जो दूसरे वर्ग होते हैं यथा डाक्टर, वकील, दुकानदार, संगीतकार या मनोरंजन प्रदान करने वाले दूसरे पेशों के लोग, उनकी आय इन्हीं दो स्रोतों से प्राप्त होती है। इससे आगे वह लिखती है कि मार्क्स ने विस्तारित पुनरुत्पादन का जो मॉडेल दिया था उस में यह दिखाया गया था कि उत्पादन प्रक्रिया उत्पादन के साधन यथा कच्चे माल, मशीन और उपभोग के सामान जैसे वस्त्र आदि का उत्पादन करने वाली दो शाखाओं के बीच विनिमय से जारी रहता है। अगर दोनों में संतुलन हो, पूंजीवादी व्यवस्था लगातार फैलती जायेगी।

रोजा लक्जमबर्ग ने यह दिखलाया कि बिना एक ऐसे बाहरी क्षेत्र के जो पूंजीपति के अतिरिक्त उत्पाद का बाजार बने इस मॉडेल में असंतुलन पैदा होता है और इस आधार पर उत्पादन प्रक्रिया एक सीमा के बाद चल नहीं सकती। रोजा लक्जमबर्ग ने दिखलाया कि मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार किसी समय में होने वाले

उत्पादन में जो मूल्य निहित होते हैं - एक वह जो मजदूरों को मजदूरी के एवज में किये गये काम से पैदा है और दूसरा वह जो पूंजीपतियों के बेशी मूल्य के रूप में निहित होता है। रोजा लक्जमबर्ग ने यह सवाल उठाया कि उत्पाद के पहले हिस्से की खरीदगी तो श्रमिक को दी गयी मजदूरी से हो जायेगी जो मजदूरों को उत्पादन प्रक्रिया शुरू करने में ही दे दी जाती है। लेकिन बेशी मूल्य का समावेश करने वाले उत्पाद का खरीददार कौन होगा, तब जबकि मार्क्स के अनुसार सभी क्षेत्र में व्याप्त पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर आय के दो स्रोत यानी मजदूरी और पूंजीपतियों के मुनाफा हैं। पूंजीपतियों के हाथ में मुनाफे से खरीददारी की शक्ति तभी आयेगी जब बेशी मूल्य धारण करने वाले उत्पादों की बिक्री हो जाये। कठिनाई यहीं से पैदा होती है। स्वयं मार्क्स इस कठिनाई से परिचित था और रोजा लक्जमबर्ग ने मार्क्स द्वारा इस कठिनाई का हल निकालने के कुछ प्रयासों का जिक्र भी किया है यथा उत्पादन के एक तीसरे क्षेत्र, द्रव्य पैदा करने वाले क्षेत्र की उपस्थिति। लेकिन स्वयं मार्क्स को यह पूरी तरह समाधानकारक नहीं लगा था। यहीं पर रोजा लक्जमबर्ग ने यह स्थापना दी कि दरअसल पूंजीवाद का स्वायत्त विकास हो ही नहीं सकता। पूंजीवाद का विकास इसीलिए संभव हुआ है क्योंकि उसे इसके प्रारंभिक काल से ही अब तक सदा उन गैर-पूंजीवादी व्यवस्थाओं का सहारा मिलता रहा है जो इसे घेरे खड़े रहे हैं। इस गैर-पूंजीवादी व्यवस्था में अनेक तरह के उत्पादन और विनिमय की पद्धतियाँ शामिल हैं - सामंती व्यवस्थाएं भी और अनेक तरह की कबायली व्यवस्थाएं भी। पूंजीवाद सदा अपने अतिरिक्त उत्पाद को इन व्यवस्थाओं के ऊपर कभी गुणवत्ता के आधार पर और कभी जोर जबर्दस्ती लादता रहा है। इस प्रक्रिया में ये बाहरी व्यवस्थाएं नष्ट होती रहती हैं और उनकी जगह पर पूंजीवादी व्यवस्थाएं कायम होती हैं। लेकिन उस अन्तरनिहित विरोधाभास के कारण जिसका जिक्र ऊपर हुआ है, पूंजीवाद के स्वायत्त विकास का कोई स्थायी रास्ता नहीं निकल पाता। इसे सदा बाहरी क्षेत्र की तलाश करनी होती है। इसी तलाश का परिणाम है अमेरिकी महादेश, अफ्रिका भारत समेत एशिया के विभिन्न देश और आस्ट्रेलिया को उपनिवेश बनाने का अभियान। यह औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया कई चरणों में बढ़ती है और इसके कई स्तर होते हैं। वृक्षों के गिरहों पर से निकली शाखाओं और उपशाखाओं की तरह ये एक के बाद एक विकसित होते जाते हैं जिससे फैलाव और शोषण के नये आयाम खुलते रहते हैं। पूंजीवाद के नये उपकेन्द्रों का विकास होता रहता है और विस्तृत होती हुई परिधि पर बिखराव और निर्धनता फैलती रहती है। रोजा लक्जमबर्ग के अपने शब्द :-

''तफसील में प्राकृतिक अर्थव्यवस्थाओं से अपने संघर्ष में पूंजी निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर चलती है''

1. उत्पादन के महत्वपूर्ण साधनों जैसे जमीन, आदिम वनों के आखेट स्थलों खनिजों, कीमती पत्थरों और अयस्कों, रबड़ जैसे अजूबा वनोपजों आदि पर तुरन्त अधिकार जमाना।

2. श्रमशक्ति को पारंपरिक बंधनों से मुक्त कर अपने उद्यमों में काम करने को मजबूर करना।

3. पुण्य की अर्थव्यवस्था चालू करना।

4. कृषि और व्यापार को पारस्परिक निर्भरता से मुक्त करना।

''आदिम पूँजी संचय के काल से लेकर यानी कि मध्य युग के अंत से जब से यूरोप में पूंजीवाद का इतिहास शुरू होता है, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक इंग्लैण्ड और यूरोपीय महादेश में किसानों से उनकी जमीन छीनना ही उत्पादन के साधनों के बड़े पैमाने पर रूपांतरण और श्रमशक्ति का पूंजी में परिवर्तन का सबसे कारगर हथियार था। इतना ही नहीं प्रभुता सम्पन्न पूंजी आज भी वही काम बड़े पैमाने पर वर्तमान औपनिवेशिक नीति के जरिये कर रही है। यह सोचना भ्रम है कि पूंजीवाद कभी भी पण्यों के विनिमय से

उपलब्ध उत्पादन साधनों से संतुष्ट होगा।''

भारत के संबंध में वह आगे लिखती है कि यहाँ यूनानी आये, फिर सिथियन आये, फिर अरब और अफगान आये और फिर मुगल आये, जिस प्रक्रिया में बहुत ही खून खराबा हुआ। ''फिर भी भारतीय ग्रामीण सामुदायिक व्यवस्था जीवित रही। क्योंकि एक के बाद एक आने वाले किसी मुस्लिम विजेता ने किसानों की आंतरिक सामाजिक संरचना का अतिक्रमण नहीं किया... मुगल साम्राज्य में किसानों को वस्तुओं के रूप में सालाना लगान देना होता था लेकिन अपने गांव में वह बिना हस्तक्षेप के रह सकता था और अपने खेत पर चावल उपजा सकता था जैसे उसके पहले उसके पूर्वजों ने किया था। इसके बाद अंग्रेज आये - और पूंजीवादी सभ्यता के रोग ने पूरी समाज व्यवस्था को नष्ट करने में सफलता पायी...''

और आगे ''1693 में ही बंगाल में अंग्रेजों ने जमींदारों (यानी टैक्स वसूल करने वालों) या जिलों के बपौती बाजार निरीक्षकों को, किसानों के खिलाफ उनका समर्थन लेने के लिए, जमीन का मालिकाना हक दे दिया। इसके बाद उन्होंने अग्राम प्रांत, अवध और मध्यप्रदेश के नये जीते हुए भूभागों में भी यही नीति अख्तियार की।''

और आगे लिखती है :

''अंत में, एक और बात पूंजीवादी औपनिवेशीकरण की विशिष्टता बतलाती है। अंग्रेज भारत के प्रथम विजेता थे जिन्होंने लोक कल्याणकारी कार्यों के प्रति पूरी उपेक्षा दिखलायी। अरब, अफगान और मुगलों ने अद्‌भुत सिंचाई व्यवस्था को बनाये रखा था, उन्होंने देश में सड़कों का जाल बिछाया था, नदियों पर पुलों का निर्माण कराया था और कुएँ खुदवाये थे। इसके विपरीत काउंट वारेन के शब्दों में ईस्ट इंडिया कंपनी ने जिसने 1858 तक भारत पर शासन किया, न तो लोगों की पहुंच के भीतर एक झरना लाया, न एक कुँआ खुदवाया और न भारतीयों के फायदे के लिए एक पुल बनवाया''

आधुनिक काल में यूरोप में उपलब्ध स्रोतों पर आधारित भारत संबंधी तथ्यों से तफसील के संबंध में कुछ विवाद संभव है। लेकिन भारत के मध्य भाग की अर्थव्यवस्था एवं यहां की कृषि और उद्योगों को जिस तरह से अंग्रेजी हुकूमत ने नष्ट किया इस पर मोटा मोटी इतिहासकार अब सहमत हैं। यही हमारा प्रस्थान बिन्दु होगा उस आंतरिक औपनिवेशिक व्यवस्था के विवेचन का जिससे हिन्दी प्रदेश की बदहाली को समझा जा सकता है।

पन्द्रहवी शताब्दी के अंतिम वर्षों से यूरोप के कुछ देश जैसे स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, ब्रिटेन आदि में जहाजरानी एवं समुद्री व्यापार में भारी उछाल आया। इसी क्रम में 1498 में पुर्तगाल का वास्को डगामा भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट पहुंचा। इसके बाद से ही यूरोपीय जहाजियों का भारत के साथ व्यापार का सिलसिला चालू हुआ जिसमें पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेजों ने बड़े पैमाने पर व्यापार और बाद में अधिकार जमाना शुरू किया। इस प्रतिस्पर्धा में अंग्रेज सबसे आगे निकल गये। पोर्तुगीज और फ्रांसीसी गोवा, पांडीचेरी और कुछ छोटे मोटे तटीय इलाकों तक में सीमित रह गये जबकि अंग्रेजों ने पूरे भारत पर अपना वर्चस्व कायम कर लिया। लेकिन समुद्री व्यक्ति होने के कारण और व्यापार एवं यातायात के लिए जलमार्ग सस्ता और सुविधाजनक होने के कारण भी इन सभी यूरोपीय शक्तियों ने अपना आधार तटीय भागों को बनाया। अपने मूल देश से संपर्क रखने में और रक्षा की दृष्टि से भी ये मार्ग उपयुक्त थे। यहां से गोपनीय ढंग से अपनी सैन्य शक्ति भी बढ़ा सकते थे। इस तरह भारत में अंग्रेजों ने कलकत्ता, मद्रास (चेन्नई), मुंबई (बंबई) और सूरत जैसे तटीय इलाकों को अपनी गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बनाया।

यही भौगोलिक पृष्ठभूमि हमें भारत के आंतरिक औपनिवेशिक विकास और संरचना को समझने में

सहायक होगी। पश्चिमी देशों की व्यापारिक गतिविधियों का प्रारंभिक चरित्र उससे लगभग उलटा था जो अठारहवी शताब्दी के बाद विकसित हुआ। प्रारंभ में वे मूलत: भारत से यहां की उत्पादित वस्तुएं जिसमें मसाले एवं कपड़े का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था, यूरोप के देशों में निर्यात करते थे। वस्त्रों में बंगाल का मलमल, बिहार के छींट और कालीकट के कैलिको निर्यात ने अपना विशेष स्थान रखते थे। कंपनी को अकूत नफा होता था पर इंग्लैण्ड से चांदी बड़े पैमाने पर खर्च हो रही थी जिससे वहां चिंता भी जताई जा रही थी।

लेकिन अठारहवीं सदी से प्रारंभ हुई औद्योगिक क्रान्ति ने, जिसमें ब्रिटेन अपने वस्त्र उद्योगों के विकास के साथ अग्रणी स्थान रखता था, व्यापार की दिशा को बिल्कुल पलट दिया। अब नयी तकनीक के आ जाने से, ब्रिटेन में कपड़े का उत्पादन सस्ता और विशाल पैमाने पर होने लगा। ईस्ट इंडिया कंपनी ने, जिसका व्यापार पर एकाधिकार कायम हो गया था और जिसने अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भारत के कपड़ा उत्पादकों पर अनेक तरह के जुल्म करके यहां के वस्त्र उद्योग को नष्ट कर दिया। इस तरह ब्रिटेन के नये तरह के कारखानों में तैयार सस्ते कपड़े भारतीय बाजार में छा गये और यहां का घरेलू कपड़ा उत्पादन नष्ट हो गया। धीरे-धीरे यही स्थिति दूसरी औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में भी हुई। लोहा इस्पात और धातुओं के दूसरे सामान जिनका विकास भारत में अति प्राचीन काल में हुआ था अब स्पर्धा में नये उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं से पिछड़ने लगे। इस तरह देश की वह स्वायत्त अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी जिसमें कृषि और उद्योग एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे और बाहरी व्यापार पर निर्भरता नगण्य थी। अब देश की अर्थव्यवस्था पूरी तरह से पूंजीवादी व्यापार के लिए खुल गयी। इसके लिए देश के दूर दराज इलाकों को अंग्रेजों द्वारा स्थापित तटीय व्यापार के केन्द्रों से जोड़ दिया गया। उन्नीसवीं सदी के मध्य से रेलवे का विकास शुरू हुआ जिसका ताना बाना तेजी से फैला। इसने दो उद्देश्य एक साथ हासिल किये। एक तरफ ब्रिटेन के लोहा उद्योग के अतिरिक्त उत्पादों को विशाल बाजार मिला और दूसरी ओर देश के दुर्गम और दूरदराज स्थान व्यापार के लिए खोल दिये गये।

इस व्यापार ने उन्नीसवीं सदी से एक नया मोड़ ले लिया। प्रारंभ में नये उद्योगों के उत्पाद मुख्य रूप से यूरोप, खास तौर से ब्रिटेन से आते थे। अब धीरे-धीरे अंग्रेजों ने भारत के तटीय प्रदेशों में ही जहां उन्होंने अपना अड्डा बना लिया था नये तरह का उद्योग लगाना शुरू किया। अनुकूल परिस्थिति के कारण पहले वस्त्र उद्योग के लिए कपास अमेरिका की गुलाम आधारित कृषि से प्राप्त होता था। जब गुलामी के प्रश्न पर 1860 के दशक में अमेरिका में गृह युद्ध शुरू हुआ तो ब्रिटेन में वस्त्र उद्योग में संकट पैदा हो गया था। भारत जहां दुनिया में सबसे पहले कपास की खेती शुरू हुई थी, कपास उत्पादन का विशाल क्षेत्र था। इसलिए पश्चिम के तटीय इलाके जहां कपास की खेती विशेष रूप से होती थी सूती कपड़े के नये उद्योग के लिए सभी तरह से उपयुक्त थे। इस तरह मुंबई और बाद में सूरत, अहमदाबाद फिर मद्रास आदि में ही कपड़ा उत्पादन के लिए कारखाने लगाये जाने लगे। इसी तरह पटसन की विशाल उपलब्धि के कारण कलकत्ता के आस-पास के इलाकों में चटकलों का बड़े पैमाने पर विकास हुआ। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, कृषि की उपेक्षा के कारण बिहार, अवध आदि में किसानों की स्थिति दयनीय हो रही थी और बिहार तो अकाल क्षेत्र बन गया था। इस तरह गरीबी के मारे यहां के किसान और मजदूर कलकत्ता के चटकलों एवं दूसरे छोटे मोटे कामों में सस्ते मजदूर के रूप में उपलब्ध होने लगे। पूर्वी उत्तर प्रदेश के मजदूर मुंबई तक काम की तलाश में जाने लगे। यही नहीं, गरीबी के मारे भोजपुरी क्षेत्र के ही लोग सबसे अधिक तादाद में बंधुआ मजदूर के रूप में मॉरिशस, त्रिनिदाद, सूरिनाम, फिजी, गायना आदि में ले जाये गये। यह महज संयोग नहीं है कि इन देशों में इनके वंशज आज हिन्दी भाषा को किसी रूप में जिलाये हुए हैं। लेकिन इस स्थिति में हिन्दी प्रदेश के आज की बदहाली के आदि पर्व का आभास भी देखा जा सकता है। यह बंधुआ मजदूरों के पूर्वजों की भाषा का

भी प्रदेश है। देश के भीतर भी वे गांव से विस्थापित ''विदेशिया'' बन गये जिनके जीवन की आपदाओं की गाथ भिखाड़ी ठाकुर के नाटकों और गानों में सुनी जा सकती है।

इस तरह देश में ही दो ध्रुव विकसित हो रहे थे – एक कुछ तटीय प्रदेशों का जहां अब नये उद्योगों का विकास होने लगा था और दूसरा उन बड़े भूभागों का जहां की पारंपरिक कृषि और उद्योग पर आधारित आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्थाएं नष्ट हो गयी थीं और पूरा समाज विशृंखलन के दौर से गुजर रहा था।

किसी भी सामाजिक दायित्व बोध से मुक्त सिर्फ मुनाफे के लिए विकसित पूंजीवादी व्यवस्था का यह गुण होता है कि इसके उद्योग कुछ विशेष स्थितियों को छोड़ उसी क्षेत्र में फैलते है जहां इनका विकास शुरू होना है। कारण यह है कि आधुनिक बड़े उद्योगों के लिए कुछ बुनियादी संरचना (इनफ्रा स्ट्रक्चर) की जरूरत होती है – जैसे यातायात की सुविधा, ऊर्जा आपूर्ति के साधन, जल की आपूर्ति, नये उद्योगों के लिए प्रशिक्षित कुशल श्रमिकों की उपलब्धि आदि। चूँकि बुनियादी संरचना के निर्माण में विशाल साधन और समय लगाना होता है इसलिए ज्यादा से ज्यादा मुनाफा सुनिश्चित करने के लिए पूंजीपतियों का रुझान उन क्षेत्रों में ही अपना उद्योग लगाने की तरफ होता है जहां संरचनात्मक सुविधाएं उपलब्ध हैं। इन क्षेत्रों के उत्तरोत्तर विस्तार का एक और भी कारण होता है। जहां नये उद्योग और इससे जुड़े व्यापार का फैलाव होता है वहां की आबादी इनमें कार्यरत लोगों के कारण बढ़ती जाती है। फिर इनके जीवन की आवश्यकताओं के लिए जरूरी वस्तुओं और सेवाओं का बाजार फैलता है और इनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरे उद्योग लगाये जाते हैं। साथ ही शिक्षण और शोध के संस्थान अस्तित्व में आते हैं। इस तरह औद्योगिक विकास और आज के अर्थ में ''विकास'' इन्हीं क्षेत्रों में होता है। इसी तरह अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ देश में मुम्बई, कलकंत्ता, चेन्नई, अहमदाबाद एवं मराठा आक्रमण के छोटे अंतराल के बाद सूरत जैसे नगरों का विकास हुआ। मुंबई प्रारंभिक काल में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्यालय भी था। 1833 से 1912 तक यह गौरव कोलकाता को प्राप्त हुआ जिस बीच यह कंपनी की जगह बर्तानी हुकूमत की राजधानी बन गया। चेन्नई (पहले का मद्रास) मद्रास प्रेसिडेंसी का मुख्यालय था। इस तरह राजनीति का केन्द्र होना भी अनेक तरह की बुनियादी संरचनाओं की आपूर्ति में सहायक हुआ। इससे यातायात, जल आपूर्ति और जरूरी ऊर्जा की आपूर्ति सुनिश्चित करना भी आवश्यक हो गया। 1912 के बाद जबसे भारत की राजधानी दिल्ली बन गयी, दिल्ली स्वयं एक विकास का केन्द्र बन गया। आजादी के बाद जब सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक नीतियां दिल्ली से निर्धारित होने लगीं तो दिल्ली में भी यातायात, जल आपूर्ति और ऊर्जा की आपूर्ति पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा और राजधानी का छोटा नगर दिल्ली फैलकर विशाल राजधानी क्षेत्र बन गया। बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धता और आवश्यक राजनीतिक निर्णयों को करवा पाने की सुविधा के कारण बड़ी संख्या में यहां उद्योग लगाये जाने लगे। ऊपर बतलाये गये कारणों से इस नगर की आबादी इतनी तेजी से फैली कि राजधानी क्षेत्र फैलकर अब उत्तर प्रदेश के गाजियाबाद और नोयडा और हरियाणा के फरीदाबाद और गुडगांव को अपने में समेट रहा है। देश के किसी दूसरे हिस्से के मुकाबले अब इसी क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा औद्योगिक, तकनीकी और शैक्षणिक संस्थाओं का विकास हो रहा है। यही कारण है कि इस विरोधाभास का जिसका जिक्र प्रारंभ में किया गया है जिसमें हिन्दी प्रदेश यानी हरियाणा और उत्तर प्रदेश के ही कुछ भाग क्यों आधुनिक विकास की दृष्टि से देश के सबसे अग्रणी क्षेत्रों में है जबकि हिन्दी प्रदेश के बाकी हिस्से घोर पिछड़ेपन और गरीबी की स्थिति में हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है कि आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था आत्मनिर्भर अस्तित्व कायम नहीं कर सकती। इसे सदा बाजार, कच्चेमाल और मजदूरी के लिए बाहरी क्षेत्रों की तलाश रहती है। इस क्रम में इन क्षेत्रों को कोयला और दूसरे खनिजों से सम्पन्न तत्कालीन बिहार के छोटा नागपुर (आज के झारखण्ड) से

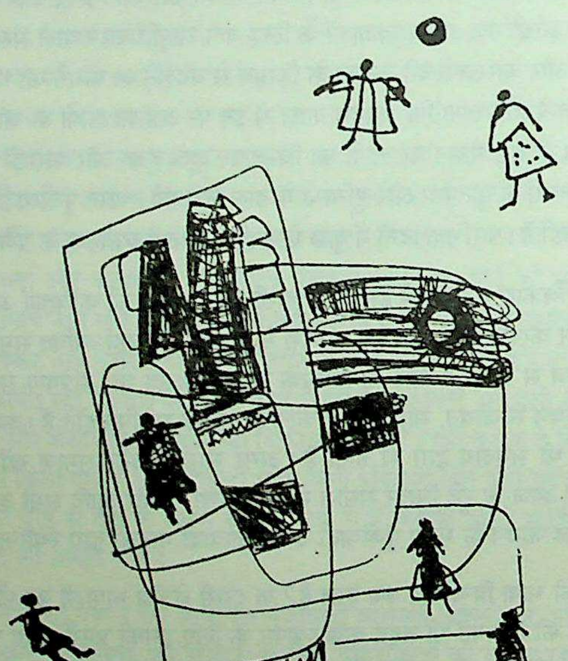
जोड़ा गया। इसी से यह स्थिति देखने में आती है कि जहां खनिज बहुत छोटा नागपुर को कलकत्ता, मुम्बई और चेन्नई से तो रेल सेवाओं से जोड़ा गया लेकिन उत्तर बिहार के साथ कोई संपर्क स्थापित नहीं हुआ जिससे इन खनिजों के आधार पर उत्तर बिहार में उद्योग लगाये जा सकें। आजादी के बाद सिर्फ एक लाइन गंगा पार कर बनी है और झारखंड से आज भी पूरे बिहार का यातायात मूलत: बस सेवाओं पर ही निर्भर है। आज तक उत्तर बंगाल और असम को जोड़ने वाली एक रेल लाइन हैं जो हिमालय के पादभूमि से होकर गुजरती है जहां अंग्रेजों ने विशाल पैमाने पर चाय बागानों का विकास किया था और उनके उत्पादों के लिए यातायात की जरूरत थी। दूसरा यहां के जंगलों की कीमती लकड़ियों की ढुलाई के लिए भी रेल सेवाओं की जरूरत थी। इन क्षेत्रों का कोई विकास नहीं किया गया। दिलचस्प है कि इन चाय बागानों में श्रमिक भी अधिकांश झारखंड के आदिवासी है जिन्हें ठेकेदारों द्वारा पहुंचाया गया। उत्तर प्रदेश का बड़ा हिस्सा अनाज उत्पादन करता रहा और मध्यप्रदेश कुछ कृषि उत्पाद, लेकिन मूलत: वनों की कीमती लकड़ियों का स्रोत बना रहा। बिहार, उड़ीसा और असम ये सब कलकत्ता की पार्श्वभूमि बने रहे जिन्हें विकसित करना जरूरी नहीं समझा गया।

हिन्दी क्षेत्र का सांस्कृतिक ह्रास भी यहां के पारंपरिक समाज पर नयी औद्योगिक व्यवस्था की छापामारी का ही परिणाम है। छापामारी इसलिए कहा गया क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा यत्र तत्र आक्रमण या अतिक्रमण ही हुआ, इन्हें विकसित करने का कोई समन्वित प्रयास नहीं। ऐसा पूंजीवादी व्यवस्था पहले बतलाये गये कारणों से कर भी नहीं सकती थी। इससे समाज का जीवन खण्डित होता गया। कृषि जो आजीविका का प्रधान साधन था बाहरी व्यापार की जरूरत के हिसाब से तेजी और मंदी से प्रभावित होने लगी और इसका वैविध्य नष्ट होने लगा। वनोपजों पर निर्भर रहने वाले लोग भी जो वनोपजों की विविधता से अपनी जीवन की राशि आवश्यकताएं पूरी करते थे औद्योगिक जरूरतों को पूरा करने वाले एक या दो तरह के पेड़ों को लगाने की वानिकी की नीति से पारंपरिक जीवन का आधार खो बैठे। झरने और नदियां सतत प्रवाहित जीवन रेखा की बजाय औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए जल आपूर्ति करने वाले संसाधन बन गये जिनकी धाराओं को नये नगरों और कारखानों की जरूरत के हिसाब से बदलने या बांधने का धंधा विशाल पैमाने पर बिना इस पर विचार किये होने लगा कि आदिम काल से इन पर आश्रित लोगों के जीवन पर इन परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ेगा। तो बड़े पैमाने पर लोगों का विस्थापन शुरू हुआ और करोड़ों लोग अपने प्राकृतिक परिवेश से उजाड़ कर नगरों के फुटपाथ और झुग्गियों में डाल दिये गये। भारत पूंजीवादी औद्योगिकीकरण का दंश भोगने में अकेला नहीं है। प्रारंभिक दिनों में कुछ ऐसा ही पूंजीवादी व्यवस्था के प्रणेता ब्रिटेन में भी हुआ।

संस्कृतियों का विकास समग्रता में होता है। तुलसी एवं सूरदास की कविताएं अथवा सांची, अजंता-एलोरा का स्थापत्य और कलाकृतियां एक ऐसे परिवेश में पैदा हुई थी जहां व्यक्ति समुदाय से टूटा नहीं था। कलाकार को पूरे समाज से आर्थिक और भावनात्मक सहारा मिलता था। संप्रेषण सदा समुदाय के भीतर संभव होता है। इस संप्रेषण से जीवन, साहित्य एवं कला के मानक स्थापित होते हैं। कलाओं की तरह लोक नीतियों का मूल्यांकन भी समुदाय द्वारा ही होता है। अगर समुदाय और समाज खंडित है तो सब कुछ पतवारहीन हो जाता है। आज के टूटे बिखरे समाज में राम, कृष्ण, कबीर आदि सभी अपनी प्रासंगिकता या आदर खो चुके हैं। आज जीवन के मूल्य पूंजीवादी उपभोक्तावादी मानकों द्वारा स्थापित होते हैं।

स्वयं इस क्षेत्र की भाषा हिन्दी का क्या हाल है? या दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं का भी क्या हाल है? एक व्यापारी समाज में भाषा की हैसियत भी बहुत कुछ व्यापार के लिए इसकी प्रासंगिकता पर निर्भर करती है। वैश्वीकरण में व्यापार भी वैश्विक हो गया है और इस वैश्विक व्यापार की भाषा भी अंग्रेजी ही बन गयी है। स्वयं भारत में आउटसोर्सिंग से मिलने वाले क्लर्की के कामों के लिए भी अंग्रेजी जानना जरूरी है। यही स्थिति

नये तकनीकी या प्रबंधन से जुड़े कामों और प्रशिक्षण का है। अगर अपनी भाषा घरेलू काम काज के बाहर सिर्फ समय काटने के लिए मनोरंजन की कुछ सामग्री प्रदान कर सकती है तो कोई कामकाजी आदमी इसे सीखने के लिए क्यों समय गंवाये? यह स्थिति इस बात में प्रतिबिम्बित होती है कि देश के एक प्रतिशत लोगों को भी मुश्किल से समझ में आने वाली अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय साहित्यकारों की पुस्तकें लाखों में बिकती हैं जबकि हिन्दी लेखन में लगे लोगों की पुस्तकें अगर पांच सौ से हजार तक बिक जायं तो इसे सफल प्रकाशन माना जाता है। स्वयं शिक्षा का स्वरूप बदल गया है। आज शिक्षित होने का अर्थ संसार और समाज को समझ उसमें अपने स्थान का आकलन करना और अपना दायित्व सुनिश्चित करना नहीं है। शिक्षा का अर्थ हो गया है तकनीकी शिक्षा, सबसे बढ़कर प्रबंधन की शिक्षा जो एक व्यापारी समाज की मांगों को पूरा कर सके। इसमें सफलता सिर्फ इस बात से आंकी जाती है कि आपकी आय कितने अंकों की है। यह पूरी व्यवस्था इस व्यापारिक सफलता के लिए लोगों को एक दूसरे को धोखे में रखने के लिए प्रोत्साहित करती है। सारा विज्ञापन का धंधा यही है। अगर यह अतिशयोक्ति लगे तो विचार कीजिये कि किसी विश्व सुन्दरी का किसी साबुन या किसी क्रिकेट खिलाड़ी का कोका कोला जैसे पेय से क्या संबंध है? अपनी तसल्ली के लिए या स्वाभिमान कायम रखने के लिए हम शोर शराबे के बीच किसी हर्षद मेहता को बलिदान का बकरा बना अपराध बोध से मुक्त होने का एहसास भले कर लें लेकिन हमारी सारी व्यवस्था इसी धंधे में लगी है। अगर आदर्श खुली प्रतिस्पर्धा ही है तो फिर इसका रोना क्या कि हिन्दी क्षेत्र पिछड़ गया है। नये आदर्शों के तहत जो पिछड़ गये हैं उन्हें छोड़ या रौंदते हुए आगे निकलना ही प्रगति का प्रतिमान है। जो समस्या है वह इस पूरी व्यवस्था की है सिर्फ हिन्दी क्षेत्र की नहीं और समाधान भी इस व्यवस्था से निजात पाने में ही है। यह रास्ता असंभव सा लगता है। लेकिन चुनौती भी यही है।



यह मनुष्य जाति के आत्म विनाश का रास्ता तो नहीं?

केशव मेश्राम

सहृदय मित्रो,

इस अठहत्तरवें साहित्य सम्मेलन में अध्यक्ष पद विभूषित करने के लिए आपने मुझ जैसे प्रतिबद्ध लेखक को निर्विरोध चुना। आप लोगों की सहिष्णुता, आयोजक संस्था और महामंडल के सभी सदस्यों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ, कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और दाद भी देता हूँ।

नासिक शहर की पृष्ठभूमि सुदीर्घ सांस्कृतिक विरासत की धनी है। यह तीर्थस्थान और कुंभ मेले का स्थान है। यह कालाराम मंदिर के डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर और दादासाहेब गायकवाड़ के क्रांतिकारी आंदोलनों का कर्मक्षेत्र भी है। 'गोदागौरव' गाने वाले कवि चंद्रशेखर का, संतसाहित्य और साहित्येतिहास में रचे बसे ल.रा. पांगारकर का, 'स्मृतिचित्रे' को साकार करने वाली लक्ष्मीबाई तिलक का यह शहर है। ''देश का पालनहारा, शिवाजीराजा हमारा'' इस तरह के गौरव गीत लिखने वाले गोविंद दरेकर और स्वातंत्र्यवीर वि.दा. सावरकर का यह नगर है। प्राध्यापक वि.मा.दि. पटवर्द्धन ने यहीं अपनी साहित्य साधना पूरी की है।

इस शहर की विशिष्टता यह भी है कि ज्ञानपीठ विजेता तात्यासाहेब कुसुमाग्रज, दुनिया बदलने को कटिबद्ध वामनदादा कर्डक यहीं रहते थे। सुप्रसिद्ध नाटककार प्राध्यापक वसंत कानेटकर, शरारतपूर्ण हास्य-व्यंग्य से गहरी चोट करने वाले डॉ. अ.वा.वर्टी, सोपानदेव चौधरी और जाति-प्रतिष्ठा की पीड़ा को कहानी-उपन्यास की अलगनी पर सुखानेवाले बाबूराव बागूल जैसे प्रसिद्ध लेखकों का यह शहर है।

आचार्य अत्रे जैसे मजबूत और सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति, छै दशकों से चली आ रही सम्मेलन की पृष्ठभूमि और वर्तमान में मंच पर उपस्थित वरिष्ठ पूर्व अध्यक्ष के कारण ''संगी अपना गाँव भला'' कहने की हिम्मत जुटा पाया हूँ।

हमारा समूचा देश परिवर्तन की प्रतीक्षा में बेताब खड़ा है। सर्वांगीण परिवर्तन आज की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यह भी सच है कि दुनिया भर में होने वाले बदलाव हमारे यहाँ भी आ रहे हैं परन्तु ये बदलाव सिर्फ तकनीकी ज्ञान-विज्ञान और भौतिक सुखसुविधाओं जैसे क्षेत्रों में हो रहा है। अतः परिवर्तन के दूसरे पहलू पर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

मैं देशवासियों की मानसिकता में परिवर्तन को अत्यावश्यक मानता हूँ। विचार और तर्क को निष्क्रिय करने वाला भाग्यवाद यहाँ के जीवन का एक हिस्सा बन चुका है। नये स्थान-काल को समझने की बजाय अज्ञात को बार-बार याद करना, आसमान की ओर उंगली उठाकर घटनाओं की अनिवार्यता की शरण जाना, अपनी सुरक्षा और सुविधा के लिए अपनी जाति-उपजाति और गाँव-क्षेत्र की सीमाओं में सिमटने को ही अपना इतिकर्तव्य मानने की मनोवृत्ति में खास फर्क नहीं आया है। इसीलिए अधिकांश लोग नये विचारों और परिवर्तन का विरोध करते हैं। भले ही ऊपरी तौर पर वे परिवर्तन के केन्द्र की ओर खिसकते दिखाई देते हैं परन्तु होते हैं वे यथास्थितिवादी ही।

इक्कीसवीं सदी के चार वर्ष बीत चुके हैं। शनि ग्रह के चन्द्र पर अंतरिक्ष यान भेजने की तैयारी अन्य देशों के वैज्ञानिक कर रहे हैं परन्तु हम अभी भी 'साढ़ेसाती' के चक्कर में फंसे हुए हैं। इस दशक में देश ने राजनीतिक और सामाजिक द्वन्द्वात्मकता का अनुभव किया है। एक धर्म के नाम पर अन्य धर्मप्राणों को येनकेन प्रकारेण बदनाम करके, उन्हें सवालों के कटघरे में खड़े करने वाले संकुचित दिल और दिमाग के अर्थलोभी सत्ताधारियों को देश ने समझबूझकर नकारा है। इससे सत्ता, सम्पत्ति और अहंकार की इमारत ध्वस्त हो गई। सत्ता का धर्माधारित गणित हमारे देश में गलत साबित होगा, यह बात नये सिरे से साबित हो गई। धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता और महत्व पूरी ताकत के साथ रेखांकित हुआ।

इसकी प्रतिक्रिया भी अनिवार्य थी। देश और समाज के सभी स्तरों में उथलपुथल बढ़ी। जिस शिक्षा की सहायता से स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान नवजागरण पनपा था, उस शिक्षा का पारंपरिक रूप अनुपयुक्त सिद्ध हो रहा है। उपाधि प्रदान करने वाली शिक्षा आज बेमानी हो गई है। शिक्षित और उच्च उपाधि-विभूषित युवाओं के अस्तित्व पर नये युग की चुनौतियों और व्यावसायिक आवश्यकताओं के कारण प्रश्नचिन्ह लग गया है। इनके जीवन और भविष्य पर हताशा के बादल मंडराने लगे हैं। मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा हूँ, जो जनसंख्या के अनुपात में बहुत ही कम हैं और हाथ की उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, जिनको आर्थिक सुरक्षा प्राप्त है। मैं बात कर रहा हूँ उन युवाओं की, जो करोड़ों साधारण घरों की संतान है। जिंदा रहना, प्रतिष्ठा हासिल करना और रोजगार प्राप्त करके परिवार की सहायता करना-इनकी इन साधारण इच्छाओं को ही कुचल दिया जा रहा है। छोटी-छोटी बातों के लिए जब संघर्ष करना पड़ता है या नकार झेलने पड़ते हैं, तब उनका क्रोध उफनने लगता है। बेचैन और क्षुब्ध युवाओं के निरंतर असंतुष्ट बने रहने से ही अशांति, अराजकता और संघर्ष की चिंगारी भड़कती है, यह समझना बहुत जरूरी है।

लेखन और कला की स्वायत्तता एक हद तक स्वीकार करने पर भी यह पुराना प्रश्न नये सिरे से उपस्थित होता है कि मानव जीवन का महत्व सर्वोपरि माना जाए या नहीं? जब जीवन मूल्यवान होगा तभी उससे संबंधित अन्य बातें भी विचारणीय होंगी।

सामाजिक चिंतन में जीवन मूल्य को केन्द्रीय महत्व देकर ही जीवन के बारे में सोचा जाता है। जीवन कभी भी एकांगी नहीं होता। मनुष्य सामाजिक जीवन का अभिन्न बिंदु होता है। उसका व्यवहार बहुआयामी होता है। समाज में सर्वाधिक नजरअंदाज किये जाने वाले सेवक के रूप में जिस तरह वह जीता है, उसी तरह अपने परिवार के एक जिम्मेदार सदस्य के रूप में भी वह दिखाई देता है। इसीलिए प्रतिबद्ध लोगों की समझ व्यापक और लचीली होनी चाहिए। उन्हें लेखन, व्यवहार और अन्य अनेक प्रक्रियाओं की अभिन्नता स्वीकार करनी चाहिए। ऐतिहासिक-धार्मिक-सामाजिक विचारधारा सांस्कृतिक तत्वों की पहचान का एक भाग होती है। यह संबंध समूह को जोड़नेवाला और समष्टि से सम्बद्ध होता है। दुनिया के श्रेष्ठ और प्रसिद्ध कलाकारों ने भी इस पर अपने विचार गहराई से व्यक्त किये हैं। अल्बेयर कामू ने कहा था - ''It obliges the artist not to keep himself a part, it subjects him to the most humble and the most

universal truth. And often he who has chosen the fate of the artist because he felt himself to be different soon realizes that he can maintain neither his art nor his difference unless he admits that he is like the others.'' इस उद्धरण में भी यही विचार सूत्र पिरोया गया है।

सामाजिक कहलाने वाले मानव नामक प्राणी की सामाजिकता को जाँचना भी आवश्यक है। किसी दूसरे व्यक्ति की छोटी सी गलती को तुरंत पकड़ने वाला स्वयं अनेक अन्यायपूर्ण कार्य करता रहता है। खुद की सही-गलत बातों का बड़े जोश से समर्थन करने की उसकी आदत होती है। मानवता और संस्कृति की बातें करते हुए वह अनेक अनुचित दावे करता है। मराठी में अत्यंत गंभीर और लोकप्रिय मानी जाने वाली साहित्यिक विधा 'आत्मकथा' को लें, तो हमें अनेक उदाहरण मिल जाएंगे। आत्मकथाकार स्वयं के व्यवहार और उसकी सत्यता का स्वयं ही गवाह और प्रस्तोता होता है अत: 'स्वयं' को ही प्रतिमान मानकर मनचाहा लिखने का खतरा होता है। **दलित आत्मकथाओं के साथ भी यह बात होती है।**

सामाजिक कर्तव्यभावना का एक छोर है मानवता और दूसरे छोर पर है व्यक्ति का अपने परिवार, पड़ोसी और खुद से किया हुआ व्यवहार। स्त्री-पुरुष की दो कोशिकाओं ने विश्व के समूचे 'पेस' को भरा है, इन दोनों के परस्पर व्यवहार पूरी दुनिया में विचारों को प्रेरित करते हैं। स्त्री-स्वतंत्रता और स्त्रीवाद व्यापक संदर्भों की बातें हैं परन्तु इन दोनों के बहुआयामी संबंधों में आचरण का सामंजस्य कितने प्रतिशत पाया जाता है?

जिस लेखन में स्त्री-पुरुष की शारीरिक भूख और आपसी मनमुटाव का सूक्ष्म, सांकेतिक परन्तु संवेदनशील चित्र पाया जाता है, वह महाराष्ट्र के अभिजात्य वर्ग द्वारा प्राय: पसंद किया जाता है। परन्तु मनुष्य की प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यताओं - रोटी, कपड़ा और मकान के बारे में कितनी सहानुभूति, गहराई और दिलचस्पी के साथ लिखा जाता है? खेतों में, खानों में, सड़क पर, कारखानों में, निजी संस्थानों में, ठेके के कामों में, गन्ना तोड़ने वालों में, मैला ढोने वालों में, बेगारी करने वालों में, पटाखों के कारखानों में, अपराध की दुनिया में, यौन-शोषण-प्रक्रिया में और गंदे नालों की सफाई करने वाले व्यक्तियों का चित्रण कितने बड़े और प्रतिष्ठित लेखकों ने समग्रता के साथ किया है? बहुजन और बहुसंख्यकों के कितने समूहों को अपने साहित्य के विस्तृत फलक पर शब्दांकित किया है? ग्रामीण, दलित, जनवादी, आदिवासी, चरवाहे तथा विभिन्न प्रादेशिकताओं का लेखन इन शिक्षित, सुसंस्कृत, अभिरुचिसम्पन्न और अभिजात्य कहलाने वालों ने कितना पढ़ा है? निस्संदेह, खोज करने पर इसके बारे में बहुत ही चौंकाने वाले तथ्य मिलेंगे।

समाज में एक दूसरे के प्रति गलतफहमियाँ शाश्वत सत्यों की तरह पनपती रहती हैं। खुद का धर्म, उसका माहात्म्य, उसकी प्राचीनता, उसका विश्वव्यापी स्वरूप घोषित करने के साथ-साथ अपना जन्म, जाति, उपजाति, प्रदेश या गाँव-घर की श्रृंखला रची जाती है। हमारे देश में स्वतंत्रता, समानता, न्याय और मानव-सम्मान को बहुत महत्व दिया जाता है परन्तु इसी हमारे देश में अस्पृश्यता, शोषण, अमानवीयता, स्वार्थपरता और बेशर्मी की यथार्थ स्थितियाँ हैं, जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। कानून बनाने वाले, न्याय प्रदान करने वाले, शासन पर काबिज होने वाले, कार्य निष्पादन करने वाले और आँख मूंदकर चतुराई के साथ सैद्धांतिक लफ्फाजी करने वाले लोग यहीं पर सबसे ज्यादा मिलते हैं। इसीलिए यहाँ धर्म-परिवर्तन होते हैं। मूल तत्वों को परे हटाकर दर्शन की नयी व्याख्याएँ की जाती हैं। प्रजातंत्र में केन्द्रस्थान पर स्थापित मनुष्य का अस्तित्व नगण्य और अदृश्य मानकर उसका अवमूल्यन करते हुए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और राष्ट्रीय महिला आयोग को सिरे से खारिज किया जाता है। इसी की प्रतिक्रिया में नकारात्मक साहित्य में विद्रोही गर्जनाएँ परिलक्षित होती हैं। जलगाँव में सम्पन्न हुए 58 वें साहित्यसम्मेलन में एड.

शंकरराव खरात ने इस पर अपनी विशिष्ट शैली में भरपूर प्रकाश डाला है। पिछले पचास सालों में कलाओं की भीड़ में साहित्य के गुम हो जाने की पीड़ा को व्यक्त करते हुए विश्राम बेडेकर ने इसीलिए अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा था - ''दलित साहित्य ने अपने आरम्भिक दौर में मराठी साहित्य को जिस तरह के झटके दिये, वह पुनर्बबरता के साथ नवचैतन्य प्राप्त करने वाली साहित्यिक प्रतिभा का लक्षण माना जाना चाहिए।''

वर्तमान बदली हुई परिस्थिति और विश्वयथार्थ के संदर्भ में नये सिरे से इसकी पड़ताल करने की आवश्यकता है। मूल्यसमाप्ति अथवा मूल्यांतरण के समय में ही मूल्यों के अन्वेषण और मूल्य स्थापना की आवश्यकता और महत्व होता है। इसीलिए मेरा मानना है कि अपने अभिजात्य वर्ग और लेखकों के मनोविज्ञान को टटोलने और उनके सामाजिक आचरण की पड़ताल की जानी चाहिए। सामाजिक आचरण के विरोधाभास और सैकड़ों त्रुटियों को पूरी ताकत से उजागर करने की उत्कट इच्छा से ही आत्मशोधन की संभावना पैदा होती है। यह प्रक्रिया व्यक्ति को अन्तर्मुख बनाने वाली है, उसकी लगन ही उसे पकाती है जिससे कुछ धुँधले रास्ते दिखाई देने लगते हैं। विचारों को चिंतन का आधार प्राप्त होता है। जब साहित्य-व्यवहार में शब्दों का सांस्कृतिक दिखावा बार-बार परिलक्षित होने लगता है तब सामान्य लोगों की परवाह न करने का टुच्चापन पनपता है। गली-कूचे में साहित्य सेवा और समाजसेवा का ढोल पीटने वाले प्रतिष्ठान, स्वयंसेवी संस्थाएं, बड़े लोगों के नामों को भुनाने वाली परिषदें और सभा-सम्मेलन, इनके माध्यम से बाँटे जाने वाले पुरस्कार, विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं में घिसेपिटे तरीके से किसी भी विषय पर आयोजित संगोष्ठियाँ और परिसंवाद, उसमें भाग लेने वाले वही गिनेचुने चेहरे, व्यावसायिक हितों पर नजर रखकर उनके चारों ओर मंडराने वाले प्रकाशक, विभिन्न कारणों से कोष-महाकोष जमा कर, उसी में से इन परिसंवादों-चर्चाओं के लिए धनप्रदाय, पाठ्य पुस्तक निगम द्वारा प्रादेशिकता और जाति-सम्प्रदाय को बढ़ावा देने वाला आचरण, इसे प्रोत्साहन देने वाली नौकरशाह व्यवस्था, विश्वविद्यालयों के अनेक व्यवहारों की वस्तुनिष्ठ जाँच करने पर इसमें छिपा घटियापन और सतहीपन उभर कर सामने आएगा। इसमें लिप्त कुछ लोग 'बड़े' और 'गब्बर' अवश्य हो जाते हैं परन्तु साहित्य-व्यवहार सिमट जाता है, दयनीय हो जाता है।

इस तरह के सांस्कृतिक दिखावे के कारण तानाशाह तो नहीं बनते परन्तु तानाशाही के लिए पोषक और पूरक वातावरण अवश्य निर्मित हो जाता है। एक ओर यह अतिवादी स्थिति दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर दूसरा अतिवाद भी है। राजर्षि शाहू, महात्मा फुले, डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर के नाम की आड़ में स्वयं को क्रांति-पुत्र कहलाने वाले तथाकथित 'विद्रोही' और 'संघर्षशील' लोग दबाव की राजनीति और गुटबाजी करते दिखाई देते हैं। इसमें से कुछ गंभीर विचारक और अध्ययनकर्ता भी होते हैं परन्तु इसके माध्यम से वे भी अपना स्वार्थ ही सिद्ध करते हैं। साहित्य-व्यवहार में अवश्य एक नई गड़बड़ी पैदा हो जाती है। ऐसा लगता है कि साहित्यिक और सामाजिक स्तर पर भी वे कुछ उथलपुथल मचाएंगे, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं होता।

हमारे यहाँ मूलतः पारदर्शी आदान-प्रदान की कमी है। प्रत्येक व्यक्ति का एक सीमित परन्तु खास अपना अनुभव है, उसके आधार पर विकसित हुई समझ और गलतफहमियाँ, सुनीसुनाई जानकारी से उसमें होने वाली बढ़ोत्तर और कुछ दृढ़ पूर्वाग्रहों के कारण संवादहीनता की स्थिति बढ़ती जाती है। परस्पर सम्पर्क में कमी होने पर विश्वास भी घटने लगता है। नये अनुभव और मतों के लिए रास्ते बंद हो जाते हैं। अनुभव अस्पर्श की कालकोठरी में बंद हो जाते हैं और जो जैसा है, वही अच्छा लगने लगता है। उपलब्ध घटनाओं का विश्लेषण करने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। तय किये जा चुके मापदंडों के अनुसार बार-बार उन्हीं पुस्तकों या लेखकों के नाम सामने आते जाते हैं। इसकी कठोर जांच होनी चाहिए। रेंगने में भी आगे

बढ़ने का अहसास होता है परन्तु वह प्रगति का सूचक नहीं माना जा सकता।

इसी संदर्भ में एक और बात कहना चाहता हूँ। स्थूल रूप से साहित्य को शाश्वत मानने वाला एक वर्ग होता है तथा साहित्य को इससे अलग मानने वाला दूसरा वर्ग होता है। इनकी वैचारिक भिन्नता के बावजूद प्रतिबद्ध राजनीतिक विचार, वक्तव्य, कृतियाँ और वर्ग-वर्ण भिन्नता के प्रति तुच्छताभाव के कारण प्रतिबद्ध साहित्यकारों का साहित्य जिज्ञासावश पढ़ा जाता है। इसके विपरीत अभिजात्य कहलाने वाले लेखक-कलाकार तक दलित ग्रामीणों का विद्रोही तेवर का लेखन नहीं पढ़ते। इस वस्तुस्थिति के कारण पग-पग पर परिवर्तन की राह में बाधाएं खड़ी हो रही हैं।

मनुष्य की मानवता मूल्यों के माध्यम से रेखांकित होती है। खासकर ऐसे समय में, जब शोरगुल, भीड़ और मूल्यों का पतन बढ़ता है तब मूल्यों की मौलिकता को अधिक निकट से पहचाना जा सकता है। मानव जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक प्राथमिक सुविधाओं का अभाव और सतहीपन के अनुपात में वृद्धि - इन दो पाटों के बीच आज का मनुष्य गले तक फँस गया है। इसीलिए असली और नकली की पहचान कर उसमें भेद करने की समझ समाप्त होती जा रही है।

नित नये वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कारों की तीव्रतम उपलब्धियाँ और विश्व के सिमटते जाने से आदमी ने कानूनी डर की अपेक्षा सामाजिक दबावों पर विजय प्राप्त कर ली है। इससे लालच और लोभ को प्रोत्साहन मिला है। वस्तुओं और भौतिक सुखसुविधाओं को प्राप्त करने की जबर्दस्त ललक के कारण साहित्य की रसधाराओं का आनंद लेने का समय किसी के पास नहीं है। इसीलिए आज 'साहित्य' और उसके केन्द्रबिन्दु 'आदिम मनुष्य' को पहचानने की किसी को भी जरूरत महसूस नहीं होती। अक्षरों के माध्यम से मानव-जीवन की विविध और विलक्षण नाट्यमयता का आस्वाद लेने की संवेदनशीलता भोथरी हो गई है। संवाद-सुसंवाद स्थगित हो गया है।

आभिजात्य वर्ग ने प्रतिबद्ध लेखन को दोयम दर्जे का लेखन कहा है। जीवनवाद, प्रतिबद्धता, विद्रोह आदि शब्दों से वे पहले ही चौंकते हैं, नाराज होते हैं। इसको हास्यास्पद सिद्ध करने के लिए वे चतुराई, युक्तिवाद, बहुश्रुतता और बुद्धिवाद का भरपूर उपयोग करके अपनी नापसंदगी जाहिर करते हैं। इन विषयों पर बात करना समय व्यर्थ गँवाना है - यह भाव उनकी देहभाषा से स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। यह अहंकार चिंतनशून्यता का परिणाम है।

बीसवीं सदी बीत गई। मेरे मन पर पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि मानव जीवन की यह एक सदी बीतने पर भी उसके दुखों में कमी नहीं आई है। बल्कि दबे-कुचले-पिछड़े और संवेदनशील लोगों को गंभीर चिंता में डालने वाली अनेक समस्याएं उभरी हैं। ये समस्याएं हैं - नौकरी-धंधे-वेतन पर निर्भर उनका जीवन-अस्तित्व, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण, उनके शादी-ब्याह और घर-गृहस्थी की अनेक चिंताएँ। नई तकनीक के साथ नई नीतियाँ और योजनाएं बन रही हैं परन्तु नागरिक कहलाने वाले मेरे देशवासियों के दुःखों में कोई कमी नहीं आ रही है। लोकतंत्र की यह बहुत बड़ी असफलता है। दुःख और दुःख को पैदा करने वाले कारण बढ़ते ही जा रहे हैं।

तकलीफ यह नहीं है कि दुनिया बदल रही है। नये का प्रवेश और पुराने की समाप्ति - इस शाश्वत नियम को सभी जानते हैं। तकलीफ इस बात की है कि इस बदलती दुनिया के साथ कदम मिलाकर चलने की बजाय अधिकांश लोगों को विवशता के साथ घिसटना पड़ता है। मूल्यों का ह्रास हो रहा है। दो ध्रुवों को जोड़ने की कोशिश के दौरान असंख्य मानसिक आघात सहने पड़ते हैं। क्या इन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना गलत है? इस घुटनभरी परिस्थिति में प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति स्तब्ध और मौन हो गया है।

तीनों वर्गों पर इसका प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। वरिष्ठ वर्ग स्वयंपूर्ण, तृप्त और किसी दूसरे के बारे में न सोचने वाला है। उसकी दुनिया एकदम पृथक है। मध्यवर्ग अधिक विचारशील होता है। मेहनत-मजूरी पर जीने वाले सामान्यजनों से वह अनेक प्रकार से जुड़ा होता है। कुछ लोग तो उसमें से ही वर्गान्तरित होकर मध्यवर्ग में शामिल होते हैं। इस मध्यवर्ग को 'कम से कम श्रम में अधिक से अधिक अमीर' बनने का स्वप्न लुभाता है। धनी वर्ग में शामिल होने की उसकी तीव्र महत्वाकांक्षा होती है। परन्तु असंभावना से भी वह वाकिफ होता है। इस वर्ग में ही लेखन-पठन संस्कृति तथा सभी प्रकार का कला-सृजन बड़े पैमाने पर होता है। इसी मध्यवर्गीय अभिन्न मानसिकता के कारण सभा-सम्मेलन और उत्सव मनाये जाते हैं।

यह पूर्णतया स्वाभाविक है क्योंकि प्रजातांत्रिक व्यवस्था में जनसामान्य के साथ-साथ सभी वर्गों के हक स्वीकार किये गये हैं। उनके विकास और कल्याण के अवसर तथा गारंटी लोकतंत्र देता है। कोई भी व्यक्ति 'मनुष्य' की तरह अपने मतों और मूल्यों पर कायम रहते हुए अपना और अपने परिवार का इच्छित दिशा में विकास कर सकता है - लोकतंत्र में विश्वास करने वाले हमारे संविधान में इस बात का प्रावधान है। ''जियो और जीने दो'' - इस अवधारणा को मानने वाला सर्वसमावेशी और सर्वस्वीकृत मानसिकता वाला इंसान इसी के अन्तर्गत पनपता है। इसीलिए इसी मध्यवर्ग द्वारा कला-संस्कृति का सरक्षण और साहित्यिक जिम्मेदारी का निर्वहन प्रमुखता से किया जाता है। कुसुमावती देशपांडे जी ने ग्वालियर में सम्पन्न साहित्य सम्मेलन में इस विषय पर तार्किक और पर्याप्त प्रकाश डाला है।

पिछड़े वर्ग में भी अनेक स्तर होते हैं। उनमें से कुछ तीखा बोलने और व्यवहार करने में रुचि रखते हैं। वे कहते हैं कि वर्तमान में अस्तित्वमान अधिकांश बातें उनके काम की नहीं हैं और उन्हें पूरी तरह तोड़फोड़कर, विध्वंस के बाद ही नये सिरे से समाज की पुनर्रचना करनी होगी। उनके अनुसार आजतक जिन वर्गों पर सिर्फ अन्याय-अत्याचार ही हुआ है, अब उस वर्ग के अनुकूल समाज बनाना होगा। परन्तु उनमें से ही एक होने पर भी मुझ जैसे व्यक्ति का 'लिखना-पढ़ना-बोलना' और खासकर जिन जाति-वर्गो पर उनका गुस्सा है, उनके साथ साहित्यिक संबंध रखना भी उन्हें गलत लगता है। विरोधी विचारकों से उनका छत्तीस का आंकड़ा है। इतना ही नहीं, वे अपने लोगों का लेखन भी पूरा नहीं पढ़ते क्योंकि उन्हें लगता है कि उसमें कुछ भी काम का नहीं है। 'ये लोग फालतू हैं' - इस तरह की चर्चा वे तैश में आकर जोर-जोर से करते हैं। किसी से भी संवाद करने, चर्चा करने की उत्सुकता इनमें नहीं है। ये ध्वंसप्रेमी विचारक अपनी विचार रेखा (thought line) मात्र को ही इकलौती और अंतिम मानते हैं।

इन अलग-अलग विचार-ध्रुवों पर बसे लोगों की प्रतिक्रियाएं असंतोष पैदा करती हैं। चिंतन, कल्पना और आविष्करण की पृष्ठभूमि के साथ साहित्य-सृजन व्यक्ति की सहज अभिव्यक्ति के रूप में स्वतंत्रता के साथ सम्पन्न होता है। रचना-प्रक्रिया के लिए इसी तरह के उन्मुक्त वातावरण की आवश्यकता होती है। किसी भी स्तर के लोगों द्वारा अपने या दुनिया भर के किसी भी समाज के व्यक्तियों के बारे में विचित्र अपेक्षाएं रखना धिक्कारणीय और गलत है। एक ओर स्वार्थी राजनेता लोकश्रद्धा का अन्यधर्मियों के विरुद्ध हथियार की तरह उपयोग करते हैं तो दूसरी ओर नव समाज-रचना के उद्देश्य से प्रेरित आमूलचूल परिवर्तन के लिए एकांगी व्यवहार करने वाले हैं। इनमें फर्क करना मेरे लिए बहुत मुश्किल हो गया है।

मध्यवर्ग में बहुत तेजी से वृद्धि हो रही है। इसमें भी अब दो स्तर देखे जा सकते हैं। एक स्तर तटस्थ रहने वालों का और व्यक्तिगत प्रगति को ही अंतिम लक्ष्य मानने वालों का है। जिसकी सत्ता हो, उस राजनीतिक दल का अनुसरण करने में ही उसे अपनी भलाई दिखती है। अन्य लोगों की समस्याओं और दुःखों से परिचित होने के बावजूद उनका उल्लेख भी उसकी प्रगति में रोड़े अटकाने वाला हो सकता है! इसीलिए भिन्न श्रद्धा, भिन्न भाषा, भिन्न बोली और अजीबोगरीब रीतिरिवाज लेकर परिवर्तन की ऊर्जा से भरे

ऐसे लोगों का विचार करना भी उसे गलत लगता है।

बैठे-ठाले लाभ प्राप्त करने, कम मेहनत के बावजूद हमेशा हवा में तैरने की आदत लग जाने पर अन्य लोगों के बारे में सोचने की जरूरत समाप्त हो जाती है। ऐसे बदनसीब लोग सैकड़ों की तादाद में हैं। मुझे लगता है कि उलझन भरे सवालों को टाल जाना ही उनके लिए सुख और मजे में जीने का पर्याय बन गया है। ये सवाल और समस्याएं, चाहे दुनिया में चलने वाले युद्ध के हों, प्राकृतिक आपदा के हों, शस्त्रों के आयात, जाली नोट, स्टैम्प पेपर घोटाला, पुलिसिया अत्याचार से जेल में या कोठरी में मरने वाले कैदी, नक्सलवादी, आतंकवादी, हड़ताल, महंगाई, विदेशी अड़ियल रुख और आक्रमण, अमेरिकी दादागिरी - इनमें से कोई भी सवाल हो, इस वर्ग का आदमी बचने की कोशिश करता है। वह विषय बदलकर शेयर मार्केट, विदेशों में बस गये लोगों के बारे में, पूरे विश्व के मराठी लोगों को एक मंच पर लाने वाली परिषदों के बारे में, अन्य देशों की हजारों पौंड, डॉलर, येन, रियाल कीमत की भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि करने वाली वस्तुओं और आविष्कारों के बारे में बात करता है। यह उसकी आत्मरक्षात्मक भूमिका होती है।

उसके आसपास के लोग, जो अपनी ही भाषा की बोलियों और उपभाषाओं में बातचीत करते हैं, उनके साथ एकात्मकता का विचार ऐसे लोग बर्दाश्त नहीं करते। बात-बात पर मनौती मानने वाले, शिरडी जाने वाले, अनेक प्रकार के बाबा, स्वामी, माँ, पूजनीय, बापू और महाराजों के चंगुल में फंसने वाले लोगों के बारे में वे कोई बात नहीं करते, उलटे अपने नये व्यावसायिक लाभ के लिए एक तरह के धूर्तों की पूजा करके, चरण-बंदना करके, उनका नाम, फोटो, प्रतिमा या पादुका बाँटकर गौरवान्वित होने वाला यह वर्ग सामाजिक जिम्दारी से दूर भाग रहा है, यह दुर्भाग्यजनक है। इसीलिए वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था, लोगों को विचारशून्य करनेवाली अंधश्रद्धा और चमत्कारों के बारे में, उन्हीं पर अपनी जीविका चलाने वाले दलालों के बारे में, उनके कमीशन के बारे में, विभिन्न प्रकार की मिलावट, भ्रष्टाचार करने वाले अपने हितचिंतकों के बारे में न बोलने वाला आदमी, अचानक साहित्य के बारे में बोलने लगता है। ब्रह्म, आत्मा, अज्ञात-अतार्किक शक्तियों पर महानता का ठप्पा लगाते हुए अकेले या लोगों के बीच उनका वाचन करता है या आँखें मूंदकर ध्यान-चिंतन भी करता है। आदमी द्वारा आदमी के शोषण के बारे में खुलकर बोलने से बचने के लिए ही यह ध्यान-चिंतन किया जाता है, ऐसा लगता है।

समय बड़ी तेजी से बदल रहा है, देश की नीतियाँ और कानून भी तेजी से बदल रहे हैं। कहते हैं कि देश के लिए विदेशी मुद्राभंडार में बढ़ोत्तरी करना आवश्यक है। परन्तु इसके लिए जीवन भर की मेहनत की कमाई का निवेश और वरिष्ठ नागरिकों की ईमानदारी से बचाई हुई रकम पर नजर गड़ाने वाली जो आर्थिक नीतियाँ छलकपट से लागू की गई हैं, वे चालाक को चालाकी करने की पूरी छूट देने जैसी है।

प्रत्येक सरकार जिम्मेदारी टालने में ही अपने अस्तित्व की रक्षा देख रही है। प्राथमिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, रोजगारपरक शिक्षा की अनिवार्यता सरकार के लिए द्वितीयक महत्व की हो गई है। स्वास्थ्य, मार्ग निर्माण और अन्य स्थापना व्यय पर शासकीय नियंत्रण शिथिल हो गया है। वैश्विक बदलाव के नाम पर प्रगति का लालच दिखाकर निजीकरण किया गया है। सरकारी रोजगार दफ्तर, अच्छी तरह चलने वाले सार्वजनिक उपक्रम और उद्योग-धंधे भी बंद किये जा रहे हैं। अपने देश में दूरगामी परिणामों पर विचार न करते हुए निजीकरण किया गया है।

वस्तुत: हमारा देश गाँवों का देश है। समाचार पत्रों में जिला, तहसील और बड़े गाँवों के आत्महत्या करने वाले किसानों की खबरें छपती रहती हैं परन्तु इनमें छोटे गाँवों के नाम कम ही छप पाते हैं। इन्हीं से पता चलता है कि इस तरह के गांव सह्याद्रि की तलहटी में नहीं हैं, उपजाऊ भी नहीं हैं, बल्कि निर्धन हैं, जाति-उपजातियों और अंधश्रद्धा-असुविधाओं की भुलभुलैय्या में फंसे हुए हैं। यह इसी तरह के सैकड़ो गाँवों

का देश है। महाराष्ट्र में भी बहुत सारे गांव हैं।

गाँवों की नवरचना नहीं हुई। जिन्हें जैसा संभव हुआ, वैसे नगर-शहर में कामधंधे की तलाश में निकल पड़ा। वहां रेलवे पुल के नीचे, खाड़ी की ढलान पर, कीचड़-गंदगी के पास, हर तरह के अच्छे-बुरे, गैरकानूनी परन्तु आर्थिक रूप से फायदेमंद धंधे करने वाले लोग 'दादा' लोगों की मेहरबानी पर जीते हैं। यह जीवन उनके गांव से मिलता जुलता है पर फर्क यह है कि वे अब शहर में हैं। यही वजह है कि जिन नगरों की ओर इस तरह का पलायन हुआ, उन पर अत्यावश्यक सेवाएँ उपलब्ध करवाने का बोझ आ पड़ा। देखा यह गया है कि किसी भी व्यवस्था में नौकरियों में नियमित होने वाले लोग अपवादों को छोड़कर ईमानदारी और मेहनत से काम नहीं करते। इसी के साथ काम में अतिरिक्त 'हिस्सा' लेने-देने की आदत 'अ' से लेकर 'क्ष त्र ज्ञ' तक इतनी अधिक बढ़ती गई कि कोई भी इसके पंजे से नहीं बच पाता है। गैरकानूनी नल-बिजली-पानी के कनेक्शन, टपरी-दुकानों के लिए जगह, नई विकास-योजनाओं में इमारतें बनाते वक्त आसपास की जमीन पर अतिरिक्त कब्जा बड़े पैमाने पर बढ़ा। गाँव का नगर, नगर का महानगर बनने-बनवाने की प्रक्रिया स्वाभाविकता के साथ नहीं हुई। गरीबी और अराजकता बढ़ती चली गई। सभी दैहिक कर्म सड़क पर, रेलवे लाइन पर, विद्यालय-महाविद्यालय के पिछवाड़े की खाली जगहों पर, पुलों के नीचे, बगीचे के किनारे खुले आम सम्पन्न होते हैं। सुलभ वाले भी अधिक पैसे लेकर बदमाशी करते हैं। शहरी हिस्से साफ होते हैं, परन्तु गांव वाले हिस्सों में गंदगी नाक दबाकर सहनी पड़ती है।

हमारे लेखक-कलाकार इतने महान हैं कि वे कभी-कभी अपवादस्वरूप इन भागों में निरीक्षण के लिए जाते तो हैं परन्तु दोबारा जाने की उनकी हिम्मत नहीं होती। इनके बारे में वे लेखन में कभी चर्चा तक नहीं करते। सतही बातें लिखकर उसी की प्रशंसा करवाते हैं। 'लुम्पेन' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए अलग किस्म के जीवन का अनुभव प्राप्त करने के आनंद में वे डूबे रहते हैं। इससे बाहर निकलकर अच्छे दलित साहित्यकारों के लेखन-वाचन-अध्ययन का मूल्यांकन करने पर ही मराठी रसिकता में परिपक्वता आयेगी। समीक्षा भी अधिक समग्र और जिम्मेदार होगी। मराठी साहित्य में अभी भी यह कमी बड़े पैमाने पर है। इसी बात को रेखांकित करने के लिए मैंने आभिजात्य लोगों के व्यवहार पर जानबूझकर टिप्पणी की है।

मराठीभाषी लोग पूरी दुनिया में फैले हैं, यह सकारात्मक बात है। वहाँ भी उनके सांस्कृतिक संगठन और महाराष्ट्र मंडल हैं। परन्तु उनमें भी विशिष्ट वर्ण-जाति के लोगों को महाराष्ट्रियन मानने की प्रवृत्ति है। विदेशों में बसने के बाद भी उनकी जातिगत कट्टरता और संकीर्णता विद्यमान है। स्नान-संध्या के नियमों को अपने बच्चों को सिखाने में ही वे संस्कृति की रक्षा मानते हैं। हम बहुजनों के उच्चशिक्षित, प्रतिभावान लोगों की ओर वे यहाँ भी 'अन्त्यज' की दृष्टि से देखते हैं और उनसे उसी तरह का व्यवहार भी करते हैं। यह तथ्य कड़वा होने पर भी आज का यथार्थ है।

मराठी भाषा कभी नहीं मरेगी, भले ही विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले हम, उसके विकास पर अपेक्षित ध्यान न दें। प्रतियोगिता और प्रतियोगी युग होने के बहाने न केवल बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में पढ़ाया जाता है बल्कि इस गरीब देश में रहने की बजाय विदेश भेजने के स्वप्न अभिभावक देखते हैं। पिछले दो-अढ़ाई दशकों से यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जब तहसील स्तर पर रहने वाले कार्यकर्ताओं के बच्चे ही मराठी माध्यम की शालाओं में नहीं पढ़ते तो फिर जिला, नगर, महानगर के बारे में बात करना ही फिजूल है। इसीलिए जिन्हें हम 'मराठी लोग' कहते हैं, वे ही सामाजिक प्रचलन और प्रगति की दौड़ के नाम पर ज्ञानभाषा मराठी के प्रति अविश्वास रखने लगे हैं। अब तेजी से नीतियाँ बदल रही हैं। राजनीति-समाजशास्त्र-अर्थशास्त्र परस्पर सम्बद्ध होने के कारण इसका प्रभाव शिक्षा, भाषा और साहित्य-कलाओं पर भी दिखाई देने लगा है। इसमें भाषा, मातृभाषा, सम्पर्कभाषा, विश्वभाषा की बात करते हुए सभी लोग कर्तव्य

से पलायन कर रहे हैं।

यह सच है कि किसी भी कानून को दृढ़ इच्छाशक्ति के अभाव में जबर्दस्ती लागू करने से स्थितियों या प्रवृत्तियों में कोई खास फर्क नहीं पड़ता। मराठी भाषा का आदान-प्रदान करने वाले, ग्रंथालय, ग्रंथ प्रदान करने वाले कर्मचारी, विद्यालयों-महाविद्यालयों में पढ़ाने वाले शिक्षक-प्राध्यापकों पर नई नीति के अन्तर्गत कोई दबाव या प्रोत्साहन नहीं है। रोज ही समाचार पत्र खोलने पर निजी संस्थाओं के पूरे पृष्ठ के सुंदर और आकर्षक विज्ञापन दिखाई देते हैं। इनमें भरपूर पैसा खर्च कर सकने वाले सर्वगुणसम्पन्न वर्ग के विद्यार्थियों के ऊंचे प्रतिशत का श्रेय लेने की होड़ मची रहती है। ग्रंथालय-कर्मचारियों की वाजिब मांगों को सुनने के लिए शिक्षा मंत्री का सहायक सचिव तक समय नहीं देता। कई बार तो शिक्षा मंत्री ही गैरमराठी होता है। निजी शिक्षा संस्थानों में उलटे-सीधे तरीके से धन कमाने वाले लोग सत्ता के लाभकारी पदों पर कब्जा करने के लिए घात लगाकर बैठे होते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा का, जी हाँ, मराठी भाषा का क्या भविष्य हो सकता है!

इसके बावजूद मराठी भाषा कभी मृत नहीं होगी। मध्यम वर्ग, उच्चशिक्षित उच्च वर्ग, वर्तमान शिक्षक-प्राध्यापकों के व्यवहार में मराठी भाषाबाबत ढिलाई दिखती है। परन्तु बहुत बड़ा बहुजनों वाला वर्ग आस्थापूर्वक, भाषा के प्रति प्रेम के कारण मराठी की ओर बढ़ रहा है। मराठी में ग्रामीण एवं दलित साहित्य के माध्यम से जनवादी प्रादेशिक अस्मिता को उभारनेवाला साहित्कि आंदोलन निरंतर जारी है। परिणामस्वरूप इस वर्ग के कुछ लोग आत्मकथाएँ, उपन्यास पढ़-सुन रहे हैं या उनके बारे में जानकारी प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु अभी भी विभिन्न उपभाषाओं-बोलियों को बोलनेवाला बहुत बड़ा समूह अपने-अपने अनुभव-संसार के साथ लिखने वाला लेखक नहीं बन पाया है। हालाँकि धीरे-धीरे मुखर हो रहा है। उनके साहित्य की कलकल करती धारा साहित्य में अपना स्थान बना रही है।

खासकर गोंड, गोवारी, कोलाम, कातकरी, वारली, महादेव, कोली, भील आदि जैसे आदिवासियों में समाविष्ट होने वाले असंख्य लोग मराठी भाषा सीख रहे हैं, लिख रहे हैं। लिखित-प्रकाशित पुस्तकों की दुनिया में इनकी संख्या काफी कम दिखाई देती है परन्तु वास्तव में उनकी संख्या काफी ज्यादा है। अपनी पुश्तैनी अधिकारों वाली जंगल-जमीन से विस्थापित किये गये, बाहरी और आक्रामक कहलाने वाले प्रजातंत्र के ये वास्तविक 'लोक' अब उनके लोकगीतों-लयों, मुहावरों-कहावतों, रीति-परंपराओं में पूर्णतया पुष्पित-पल्लवित हो रहे हैं और हमारे लिए अपरिचित अपभाषाओं (slangs) और बोलियों (dialects) के शब्द भंडार को लेकर ये लोग दस-बीस साल में मराठी भाषा-क्षेत्र की परिधि में अपनी पुस्तकें लेकर प्रविष्ट होंगे। मराठी इन सब को समाहित कर 'मेरी' कहने वालों की भाषा है। किसी भी प्रकर से अपना लाभ कमाने वाले व्यवसायियों तक ही वह सीमित नहीं है। अथवा ऐसे लोगों की भी नहीं है जो अपनी ढलती उम्र में पुत्र-पौत्रों को विदेश भेजकर भाषा के प्रति दिखाऊ चिंता में लगे रहते हैं। वर्तमान जगत में उतार-चढ़ाव के धक्कों से दोलायमान दिखने वाली मराठी का भविष्य अंधकारमय नहीं है, उसके स्वयं के नये भाषिक सोते बहने लगे हैं।

किसी दूसरी भाषा की तारीफ करके या उसका द्वेष करके यह भाषा-समस्या हल नहीं होंगी। भाषांतरित पुस्तकों के माध्यम से मूल मराठी भाषा को कुछ हासिल नहीं होगा। इसमें सिर्फ प्रकाशकों को धनलाभ होगा। उनका साफ व्यवहार होने पर करार के अनुसार लेखक या अनुवादक को भी कुछ पैसा मिल जाएगा।

अनुवाद आज के समय की जरूरत है। मैं आज चर्चा करना चाहता हूं मराठी के अत्युत्तम पुस्तकों के अंग्रेजी और हिंदी अनुवादों के बारे में, जो चलचित्र माध्यम से देशभर के लोगों तक पहुँच चुके हैं। मराठी के सभी प्रकार के महत्वपूर्ण लेखकों की रचनाओं के अनुवाद के लिए शासन को एक अकादमी स्थापित

करनी चाहिये। दोनों भाषाएं गहराई से जानने वाले अनुभवी, सक्रिय और निष्पक्ष लेखक संपादक मंडल में हों। वर्ग, वर्ण, जाति, स्थान, अधिकार, प्रदेश - इनके भेदभावपूर्ण विचार से परे रहने वाले सृजनशील लोग इस अनुवाद अकादमी के प्रमुख हों। दृढ़ विचारों के प्रतिष्ठित व्यक्ति बतौर निरीक्षक शासन के प्रतिनिधित्व और निधियों के साथ इनमें हों। प्रतिनिधि शासनादेश न दें, कल्पना, अध्ययन और चिंतन-मनन के मेले से बनी योजनाओं को क्रियान्वित करने का काम वे करें। वे अपनी निरीक्षण-रिपोर्ट स्वतंत्र एवं गुप्त रूप से शासन को प्रस्तुत करें। 'भाषांतर अकादमी' मराठी को व्यापक पैमाने पर दूर तक पहुंचा सकती है।

साहित्य के लिए समुचित व्यवस्था स्थापित की जाए। पुस्तक-प्रकाशकों का व्यवसाय नीतियों पर आधारित हो। उनके व्यवसाय में सस्तापन न हो। पुस्तकें खपाने के लिए अपने व्यवसाय की बोली लगाकर मोटे कमीशन का लालच देना छोड़ दें और ग्रंथालय-खरीदी में कमीशनखोरों और शासकीय ग्रंथालय के संचालकों को दूर रखें। प्रत्येक पुस्तक पर छपी मूल कीमत पर ही पुस्तक-खरीदी का निर्णय लिया जावे। एक दूसरे को निरंतर शह और मात देने वाले और प्रतिशत का खेल खेलने वाले प्रकाशक ग्रंथप्रेमी नहीं होते। वे मतलबी, स्वार्थी और चालाक ठग ही होते हैं। पुस्तकों से कमाई उनका एकमात्र लक्ष्य होता है। अत: व्यवस्था बनाने के लिए साहित्य सम्मेलन के पूर्व अध्यक्षों से शासन को मदद लेनी चाहिये।

साहित्य का सम्बन्ध मूलत: मानव-मन से होता है। सच पूछा जाए तो मनुष्य की दुनिया अतार्किक और कल्पना जगत को भी अचंभित करने वाली होती है। मानव जीवन की नित नई क्षमताएँ, सूक्ष्मतम मर्यादाएँ, असीमित संभावनाएँ और उसकी अनेक विसंगतियों की साहित्य में अचूक अभिव्यक्ति करने वाला एक न एक महालेखक हरेक भाषा में जन्म लेता है। ऐसे महान साहित्यकार की प्रतीक्षा हरेक भाषा करती है, जो अपनी व्यापक विश्वदृष्टि में समूचे समाज को यथोचित और संतुलित रूप से स्थान देता है। सीमित और निश्चित दायरे में अपने अनुभव-संसार को प्रामाणिकता से व्यक्त करने वाले लेखक, कवि, कलाकार या समीक्षक उस भाषा का गौरव होते हैं। ऐसे लेखक ही महालेखक हो सकते हैं। मराठी भाषा में भी यह संभव है।

बदलती व्यापार-नीतियों के कारण भी भाषिक व्यवहार में बदलाव होते हैं। शहरों और महानगरों में देश के विभिन्न जाति-धर्म के लोगों का एक साथ रहना अस्वाभाविक नहीं होता। शहर में ही रोजगार के, जीने के अनेक अवसर उपलब्ध होते हैं। अपने प्रदेश में किसी भी धंधे का झंझट मोल लेने में परिचित और स्थानीय लोगों का डर होता है, शर्म आड़े आती है परन्तु गांव से दूर होने पर शर्म और डर-संकोच का सवाल नहीं उठता। इससे उसके परिवार को नियमित आय होती है। वह स्वतंत्रता के साथ खुलकर अर्थार्जन के एकमात्र उद्देश्य से आविष्ट हो जाता है। महानगर में यह चल जाता है। देश में अन्य महानगर भी हैं -दिल्ली, मुंबई, चेन्नई, कोलकाता आदि, परन्तु अन्य महानगरों के मूल मातृभाषियों को मुंबई के मराठीभाषियों जैसा दोयम स्थान प्राप्त नहीं है। इतनी तीव्र गरीबी भी वहां नहीं है। इतने ज्यादा अन्य भाषाभाषी लोग भी इन महानगरों में नहीं रहते। कम से कम महानगर के 'मालिक' और 'दादा' होने की बदतमीजी उनमें नहीं होती। राज्य शासन और स्थानीय प्रशासन में इतने भिन्न भाषी लोगों को अवसर, अन्य महानगरों में नहीं दिये जाते। वहाँ संगठित लूटपाट करने वाले दल नहीं हैं। क्या सिर्फ मुंबई महानगर ने अन्य प्रदेशों के लोगों के हित में मूल मराठीभाषियों का अस्तित्व-अनुपात घटाने का चयन कानूनविदों को दिया है? सम्पर्क और व्यवहार भाषा के रूप में मराठी की उपेक्षा करने, उसे तड़ीपार करने के प्रयास कुछ राजनीतिक संगठन और अर्थलोभी तत्व ही कर रहे हैं।

किसी ने निजीकरण का अर्थ सरकारीकरण की पूर्ण समाप्ति बताया है। सरकारी संस्थानों के श्रमिक-मजदूरों ने यदि जिम्मेदारी से काम नहीं किया तो संस्थान बंद भी हो सकता है, साथ ही व्यक्ति की क्षमता

और ईमानदार कोशिश से वह विकास भी कर सकता है – इसी सोच के तहत निजीकरण का प्रस्ताव रखा गया। परन्तु सिर्फ वह और वही रहेगा, यह अर्थ निकालकर अच्छे फायदे में चलने वाले और निरंतर विकास करने वाले उद्योग बंद कर दिये गये। साथ ही दूसरे देशों की अनेक व्यापारी कंपनियों को न्यौता दिया गया। एक ईस्ट इंडिया कंपनी ही हमारे देश पर कितनी भारी पड़ी थी, इतिहास इस बात का साक्षी है। अब तो विश्व बैंक की सभी शर्तें स्वीकार कर देश को गिरवी रखने का भयानक 'खेल' खेला जा रहा है। इस तरह के निजीकरण के प्रभाव से पारिवारिक जीवन का निजीपन ही न खो जाए!

उदारता और स्वागतशील समावेशी प्रवृत्ति महाराष्ट्र की गौरवपूर्ण विशेषता है। बाहरी लोगों को हरेक प्रकार की भरपूर छूट और प्रदेश के मूल निवासियों की उपेक्षा कर उन्हें हतोत्साहित करने की विचित्र नीतियाँ लागू की जा रही हैं। मुंबई की प्रत्येक लोकल गाड़ी में, हरेक छोटे-बड़े रेल्वे स्टेशन और प्लेटफार्म पर एक भी स्टॉल मराठी भाषी व्यक्ति का नहीं है। यहाँ के मूल निवासी को जो भी मिले, वही चुपचाप खाने की आदत डाल दी गई है। थोड़ी सी हुल्लड़ और गड़बड़ी के अलावा अन्य लोगों का ही वर्चस्व हो गया है। क्या इसे भी उदारीकरण कहा जाए?

वैश्वीकरण से देश की तीव्र प्रगति होगी और सभी क्षेत्रों में उसे सफलता मिलेगी, व्यापार बढ़ेगा, बाहर से देश में भरपूर पैसा आएगा। अपने पचास रुपये पर उनका एक डॉलर भारी पड़ता है इसलिए यह पैसा विभिन्न योजनाओं और विशेष कल्याणकारी कार्यक्रमों में लगाकर मानव संसाधन का विकास किया जा सकेगा। नये अर्थशास्त्रियों के कई दल देश-विदेश में विस्तृत अध्ययन के लिये भेजे गये। देश कितनी तेजी से विकास के शिखर पर पहुंच रहा है, ये विशेषज्ञ-प्रवक्ता इस बात का भ्रम फैलाने में लगे हुए हैं। उनके द्वारा लच्छेदार अंग्रेजी में, मधुर मराठी में और हृदयस्पर्शी हिंदी में अनेक लेख लिखवाकर पूरे एक दशक तक पढ़वाये गये। अब सिर्फ 'खाए जाओ' नीति के अन्तर्गत कभी न सड़ने वाले फल बड़ी टोकनी में इकट्ठा करना शेष रह गया है।

देश के मुद्राभंडार में वृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में प्रतिष्ठा बढ़ाना आवश्यक तो है पर उसके लिए किस चीज की और किस प्रकार की कीमत देश को चुकानी पड़ेगी? इस तरह के सीधे प्रश्नों के उत्तर ये अर्थशास्त्री नहीं देते और यदि देते भी हैं तो हमें समक्ष में न आने वाली भाषा में।

किसी भी देश की वास्तविक सम्पत्ति उस देश के निवासी होते हैं। अपने देश का वास्तविक 'मुद्राकोष' हम जैसे बेचारे लोग हैं – जो सभी उम्र के, सभी धर्मों के आशावाद के सहारे श्रद्धापूर्वक पूजा करने वाले, कभी न मिल सकने वाले स्वर्ग की चाह के बदले कटु यथार्थ की मन को तोड़ने वाली, घिसटने वाली नर्क-यातनाओं का अनुभव लेने वाले नगण्य लोग हैं। डिग्रियाँ लेकर बेरोजगार, लाचार घूमने वाले, अपर्याप्त वेतन में बढ़ती मंहगाई को मुश्किल से झेलने वाले, कहीं भी किसी भी तरह का आपदा-संकट आने पर मुँह-कान बंदकर, अनिच्छा न दर्शाते हुए एक दिन का वेतन चुपचाप देने वाले, गाँव की बाहरी बस्ती में अपनी झोपड़ियाँ छोड़ शहर की झोपड़पट्टी में आकर बसने वाले मूक-बधिर बेचारे लोग! इन्हीं के लिए तो शहीद फाँसी पर लटके थे। आजाद हिंद फौज के सुभाष बाबू से कहीं कोई चूक हो गई। महात्मा गांधी को गोलियाँ खानी पड़ीं। लाजपतराय जी का सिर फूटा। शाहूजी राजा ने एक सदी पहले बेवजह ही दलित आरक्षण की बात उठाई। महात्मा फुले और सावित्रीबाई ने बेवजह विधवाओं का पक्ष लिया, अनपढ़ निरक्षरों को अक्षर ज्ञान कराने का संकल्प लिया। गुलामी पर किसानों ने कोड़े फटकारे।

पूर्व समाज में राजनीति का प्रमुख उद्देश्य होता था समाज का मार्गदर्शन करना, नवनिर्माण की योजनाएं बनाना। परन्तु अब राजनीति बहुत बड़े फायदे का धंधा बन गई है। इसलिए अब प्रत्येक नई पीढ़ी द्वारा अपने परिवार को आगे ले जाने का काम ही राजनीति कहलाता है। सभी राजनीतिक दलों में कमोबेश

यह तस्वीर दिख रही है। राजनीति के इस नये संस्करण में व्यक्ति की पहचान ही बदल गई है। फूलनदेवी सांसद चुनी जाती हैं, अनेक विधायक-सांसद नये-नये व्यवसाय शुरू करके दो-चार सालों में उद्योगपति बन बैठते हैं। बाग-बगीचे, रेस्टोरेंट, मोटेल्स, बड़ी-बड़ी इमारतें और बंगलों जैसी सम्पत्ति के वे मालिक बन बैठे हैं। शिक्षण संस्थाओं, प्रतिष्ठानों, परिषदों, उत्सवों और सम्मेलनों के संरक्षक बन जाते हैं। वे इतने श्रद्धावान होते हैं कि विठोबा-बालाजी से लेकर साँईबाबा, अनिरुद्ध और नरेन्द्र महाराज तक के भावुक भक्त बन जाते हैं। अपनी पत्नी और पूरे परिवार के साथ उनका दर्शन करने जाते हैं।

राजनीति की बहती गंगा में अपराधियों का पुनरागमन हुआ है। कवि-कलाकारों, गाने-मुजरे के वे आश्रयदाता और रसिक श्रोता बन गये हैं। मराठी साहित्य में यथार्थ के इस पक्ष को शब्दबद्ध करना बहुत ही आवश्यक है। लोकप्रिय, गुदगुदानेवाले, मनोरंजक, बाकायदा धर्म-प्रचार करने वाले, अज्ञात और अतार्किक शक्तियों की भुलभूलैयाँ में उलझाने वाले किस्सों का, इतिहास और पुराण का घालमेल करने वाले बिकाऊ साहित्य का और इतिहास के विविध रस-रूपवाले ग्रंथों का अध्ययन करते हुए लेखक और रसिक पाठकों को विवेक का इस्तेमाल करना चाहिये तभी मराठी साहित्य सही अर्थों में उद्देश्यपूर्ण हो सकेगा। कविता के नाम पर निबंध, आत्मकथा के नाम पर सिर्फ जीवन-मृत्यु का विवरण, जीवनी के नाम पर सिर्फ प्रशंसात्मकता तथा शोध के नाम पर लुकाछिपी का खेल समाप्त करने की अत्यंत आवश्यकता है।

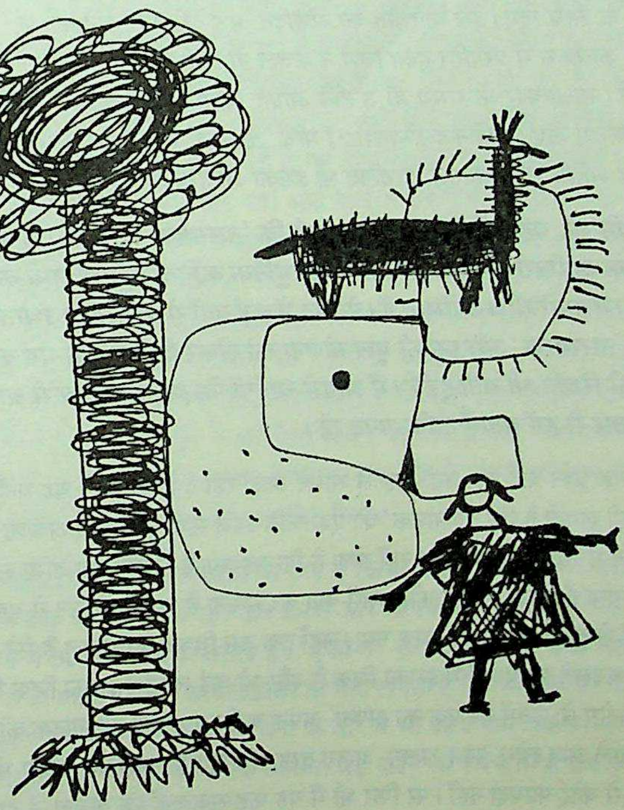
वर्तमान चुनौतियाँ बहुत गंभीर हैं। प्राकृतिक संसाधनों के स्रोत धीरे-धीरे चुकते जा रहे हैं। हमारे देश की जनसंख्या - वृद्धि प्रगति-पथ की खतरेवाली लाल बत्ती तक पहुँच गई है। लेखक और नागरिक की दोहरी जिम्मेदारियों को समझने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस यथार्थ के प्रति जागरूक रहना चाहिए। 'व्यवस्था' के सभी हिस्सों का विश्लेषण करते हुए 'अव्यवस्था' का अपनी प्रतिभा से पुनर्सृजन करने के लिए लेखकों को तैयार रहना चाहिये। खुद के और मराठी भाषा के विकास के लिए इसे प्राथमिकता के साथ लेना चाहिये। अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट करते हुए गंभीर चिंतन के साथ यह अनुभव लेखन में शब्दबद्ध किया जाना चाहिए। सामाजिक सम्बद्धता को बनाये रखकर दुनिया भर के और अपने देश के सभी महान लेखकों की पुस्तकों का निरंतर अध्ययन किया जाना चाहिये। अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने इस पर लिखा है - ''No writer who knows the great writers, who did not receive the prize can accept it other than humanity.''

मानवजाति बहुत लम्बे अंधकार युग से निकलकर यहाँ तक पहुँची है। चारों ओर युद्ध, अराजकता, अस्वास्थ्य, तानाशाही, हिंसाचार, अविश्वास, बेईमानी का साम्राज्य छा गया है। प्रकृति के मूल स्वरूप को अपनी इच्छा, आवश्यकता और शक्ति साधनों के विकास के लिए नोंचा-खसोटा जा रहा है। पृथ्वी के गर्भ में, अंतरिक्ष में, पृथ्वीतल पर और शून्य में - चहुँओर मनुष्य कब्जा करना चाहता है। इस तरह की अंधी प्रतियोगिता से मानवजाति तो लुप्त नहीं हो जाएगी - मनुष्य में इसका विवेक समाप्त हो गया है। शक्ति, ऊर्जा और पानी के भंडार रीतते जा रहे हैं, पर्वत-पहाड़ समतल हो रहे हैं, हिमनदियाँ नष्ट हो रही हैं, ध्रुवप्रदेश झुक रहे हैं, ओजोन परत में छेद हो रहे हैं। ज्वालामुखी, भूकम्प, भूस्खलन आदि प्राकृतिक दुर्घटनाओं से घबराकर मनुष्य दौड़भाग कर रहा है। समुद्र भी जमीन पर धावा बोल रहा है - यह नई खोजों का परिणाम है या तथाकथित प्रगतिशील विज्ञान की चेतावनी है? मानवजाति के आत्मविनाश का रास्ता तो यह नहीं हैं, इस पर भी गहराई से सोचने की आवश्यकता है। कवि ऑक्टोवियो पॉज ने लिखा है - ''Our unthinking cult of progress together with the very advances in our struggle to exploit nature have turned into suicidal race.'' इस समूची पृष्ठभूमि पर समग्र लेखकों और लेखन की मराठी के समीक्षकों और रसिक पाठकों द्वारा जाँच की जानी चाहिये। मनुष्य काल के गाल में समा जाते हैं परन्तु महान ग्रंथ अनेकानेक कारणों से बचे रहते हैं। प्रत्येक भाषा के साथ यही होता है। मराठी भाषा पर भी यही बात

लागू होती है।

उपभोक्तावाद आत्मपरीक्षण की अक्षर-अभिव्यक्ति में बाधा पहुंचाता है। फिर भी नया विश्लेषण संभव है। भविष्य में मराठी-लेखन इसी तरह का होगा। 'प्रतिबद्धता' मात्र एक शब्द नहीं, जीवन-मूल्य है। जीवन की सार्थकता के लिए उपेक्षा के काँटोंभरे रास्ते पर चलने वाले अनेक ज्ञात-अज्ञात योद्धाओं के संघर्ष का यह बीजमंत्र है। उपेक्षित और नगण्य माने जाने वाले लोगों के जीवन को दिशा देने के लिए संविधान-निर्माता डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर ने मार्ग दिखाया ही है। उनकी प्रेरणा से इस शब्द-साधना में जुटे हुए मुझ जैसे व्यक्ति को आप लोगों ने यह जिम्मेदारी सौंपी है, इसके लिए मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

नासिक में आयोजित 78 वें अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण के प्रमुख अंश। इसे हमारे लिए स्वयं केशव मेश्राम और इप्टा की सक्रिय कार्यकर्ता उषा बेरागकर (रायगढ़) ने उपलब्ध कराया है। अनुवाद भी उन्ही का है।



तार सप्तक के अंतिम तार नेमिचंद्र जैन से साधना अग्रवाल की बातचीत

(नेमिचंद्र जैन जी से यह लंबी बातचीत एक पुस्तक की योजना के अंतर्गत उनके निवास पर 11 मार्च, 2005 को दूरदर्शन, नई दिल्ली के सौजन्य से हुई थी। यद्यपि अस्वस्थ थे लेकिन प्रश्नों के उत्तर बहुत संजीदगी के साथ दिए। इस बातचीत का संपादित अंश, जो आधे घंटे का था, 16 मार्च को दूरदर्शन के 'पत्रिका' कार्यक्रम में प्रसारित हुआ जिसे न केवल नेमि जी ने देखा बल्कि फोन पर हुई बातचीत में खूब सराहा भी। साक्षात्कार के समय ही उन्होंने आग्रह किया था कि वीडियो कैसेट बिना संपादन के उन्हें उपलब्ध कराए जाएं। लेकिन दुर्भाग्यवश 21 मार्च, 2005 को सहसा उनका निधन हो गया। चूँकि यह उनके जीवन का अंतिम साक्षात्कार है, इसलिए भी इसका अतिरिक्त महत्व है।)

नेमि जी, यह नई पीढ़ी का सौभाग्य है कि 'तारसप्तक' (1943) के पहले कवि के रूप में ही नहीं बल्कि आखिरी कवि के रूप में भी आधुनिक कविता के एक लम्बे काल खंड के प्रमाण के रूप में आज हमारे बीच उपस्थित हैं। मेरे मन में कई वर्षों से यह सवाल उभरता रहा है कि अज्ञेय द्वारा संपादित 'तारसप्तक' और इसकी मूल योजना को लेकर हिंदी में एक भ्रम की स्थिति ही नहीं, एक विवाद की स्थिति भी बनी हुई है। मैं आपसे चाहूँगी कि इस विवाद पर से आखिरी पर्दा आप उठाएँ और विस्तार से हमें बताएँ ताकि सनद रहे।

– यह प्रश्न कई बार कई तरह से सामने आता रहा है। एक तो मैं यह कहूँ कि यह बात मुझे बड़ी विडम्बना सी लगती है कि 'तारसप्तक' का एक कवि आज सातों की बजाए अकेला रह गया है और कई बार मुझे, मेरे मन में, बहुत अच्छा भाव नहीं होता है कि यह क्या है। अपने सब वरिष्ठ सहयोगियों से, कर्मियों से अलग पड़ गया हूँ आज। किन्तु कोई इसमें क्या कर सकता है। स्वयं मेरे मन में यह भाव आया था कि अरे उन सातों में से केवल अब मैं ही बच गया। जहाँ तक उस विवाद का सवाल है मैंने उसके बारे में कई जगह लिखा है। 'बदलते परिप्रेक्ष्य' में इसका जिक्र है और भी कई लोगों ने इसका जिक्र किया। देखिए, प्रश्न यह है कि सात लोग थे, उनमें हर एक का अपना-अपना वर्जन था, ठीक एक नाटक की तरह से। एक ही घटना को देखने वाले सात लोग, सात अलग-अलग तरह से देखते हैं। कुछ इस कारण भी हैं। पर असल में बात को दोहराने से कोई फायदा नहीं। पर फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि योजना तो हम चार लोगों की थी पूरी

तरह। प्रभाकर माचवे, गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रभागचंद्र वर्मा और मेरी। उज्जैन की सड़कों पर भटकते-भटकते विचार मन में आया कि अलग से संग्रह छपना बड़ा ही मुश्किल है तो संयुक्त रूप से क्यों न छापा जाए। तो वो उम्र ऐसी जिसमें हर सपना अच्छा लगता है। तो सोचा कि यहीं करें लेकिन सवाल था इसे कैसे निकालें हम लोग। मुझे तो साधन समझ नहीं आ रहा था। सिर्फ एक इच्छा मात्र थी और तो कुछ था नहीं। उसमें फिर लगा कि एक-दो लोगों को और शामिल करें तो वीरेन्द्र कुमार जैन, जो मध्यप्रदेश के ही थे, उसी इलाके से, तो ये करीब आए। इसी तरह से और लोग। फिर लोगों ने कहा मुझसे कि आप इसकी कोशिश क्यों नहीं करते। उसका एक कारण यह था कि मेरा सम्पर्क दिल्ली से या आगरा जैसे साहित्यिक क्षेत्र से था। तो यह योजना बनी थी उज्जैन में, जो उस समय बहुत छोटा सा शहर होता था। तो उन्होंने कहा कि आप कोशिश कीजिए, दिल्ली जाइये, फिर मैं उसी वर्ष गर्मी की छुट्टियों में दिल्ली आया। गर्मियों की छुट्टी इसलिए कह रहा हूँ कि उन दिनों मैं शुजालपुर में मध्यप्रदेश के एक छोटे से कस्बे में स्कूल में पढ़ाता था। छुट्टियाँ गर्मियों की हुईं उन दिनों और मैं दिल्ली आया। तब मैंने इसका जिक्र वात्स्यायन जी से किया। वे मेरे बड़े घनिष्ट मित्र होते थे उन दिनों, मेरे ऊपर एक तरह से बड़े भाई का-सा कृपा या हाथ था, कह सकते हैं। वो तो नए विचारों के बड़े संरक्षक थे। ये आइडिया उन्हें अच्छा लगा, कहते-करना चाहिए। तो फिर उन्होंने कहा कि कोशिश करते हैं फिर इस तरह से स्वयं उन्होंने कहा कि मैं स्वयं भी शामिल हो जाऊंगा उसमें। हमारे लिए यह एक बड़े गौरव की बात थी। हालांकि उतने बड़े कवियों के साथ हम सब छोटे लोग संगत भी नहीं लगते थे पर हो गए। फिर उन्होंने कोशिश की, उन्होंने एक-दो नाम और सजेस्ट किए। उनमें रामविलास शर्मा का नाम और एक किसी और का नाम था, मुझे याद नहीं आ रहा। अच्छा, हाँ गिरिजा कुमार (माथुर) का नाम, वो दिल्ली में ही थे। शायद। ये नाम बढ़ाने का विचार इसलिए आया कि क्या करें नाम एक किताब का क्या हो। सोचा कि सप्तक हो कुछ। फिर उसे संगीत से सम्पर्क होने के कारण मैंने कहा कि क्यों न तारसप्तक करें। तो वो और भी अपरिचित सा नाम लगा। सब लोगों ने स्वीकार कर लिया। अब तो यह हो गया कि सात होने चाहिए लोग। संख्या जो है बहुत महत्वपूर्ण हो गई। कोशिश की जाती रही, सब चीजें आसानी से थोड़ा ना होती हैं। बहुत दिनों बाद जब वात्स्यायन जी सेना में भर्ती हो गए और शिलाँग में उनकी नियुक्ति थी उन दिनों और हम लोग कलकते रहते थे। वो अक्सर हमारे यहां आते रहते थे तब टैगोर के द्वारा कुछ कागज की सुविधा उन्हें थी क्योंकि वे सेना की प्रचार योजना का हिस्सा थे। कागज का भी प्रबंध हो सकता है। फिर कागज हो जाए तो छपाई का सिर्फ काम रह जाएगा। अब जैसे आप लोगों ने पहला संस्करण देखा होता तो कैसा अजीब सा उसका आकार है। क्योंकि वहीं कागज मिल रहा था, उसी पर छाप दिया। वैसे भी अलग-अलग छापने का सवाल नहीं था जैसे कि कविता नहीं छपती है वैसे ही छपा हुआ था। बहरहाल उन्होंने किया कुछ। एक बार तो पूरी पांडुलिपि खो गई रास्ते में, फिर वो किसी तरह से मिली और लोगों से दोबारा मंगवाई और कुछ लोगों ने नहीं भेजा। वीरेन्द्र कुमार जैन ने नहीं भेजा, प्रभाग चंद्र शर्मा ने नहीं भेजा। और उसमें फिर दो नए नाम आए - प्रभाकर माचवे और भारत भूषण अग्रवाल। इस तरह से इसकी रूपरेखा बनी। पुस्तक कलकत्ते में छपी और उसके सारे प्रूफ देखकर मैंने प्रकाशित किए।

अपने लेखन का आरम्भ तो आपने कवि के रूप में किया था लेकिन अपनी कविताओं के प्रकाशन को लेकर इस तरह उदासीन क्यों रहे? तार सप्तक और आपके पहले कविता संग्रह 'एकांत' (1973) के प्रकाशन में 30 वर्षों का अन्तराल है। 'एकान्त' के प्रकाशन के वर्षों बाद आपका दूसरा कविता संग्रह 'अचानक हम फिर' आया। इससे तो यही लगता है कि भले आप संग्रह छपवाने में रुचि न लें लेकिन कथालोचना और नाट्यालोचना के दौर में भी आप जब तब कविताएँ लिखते रहे हैं। कृपया मेरी जिज्ञासा यह जानते की है कि अन्ततः वह कौन सा रचनात्मक दबाव है जिसके चलते कविता लिखे बिना आप नहीं रह सकते?

– असल में एक तो यह कि शुरू वहीं से किया था और रुचि कविता में बहुत थी। मैं तलाश कविता की ही करता रहा नाटक में भी और साहित्य में भी। अगर आपने, मेरा आलोचनात्मक लेखन कुछ पढ़ा हो तो आपको अंदाजा होगा कि मेरे जो मानक हैं, पैमाने हैं, उनमें कविता होना किसी रचना का, इसका मतलब सृजनात्मक होना, कल्पनाशील होना आवश्यक है। ये मेरे मन में रहा। इसलिए लोग कहते हैं कि मैंने नाटक में भी कविता की तलाश की, उपन्यास में भी कविता की तलाश की। तो यह कविता से लगाव गहरा है। पर कविता लिखा जाना तो उतना प्रचुर नहीं हो सका परिमाण में, कम लिखा गया, अधूरा पड़ा रहा और भेजने में जो झिझक होती है वो होती रही। एक बार चलता है तो चलता जाता है या तो फिर आदमी जो सम्मुख आ रहा है उसके अंतर्गत काम करता रहता है या फिर छूट जाता है। दूसरी ओर बहुत सारे काम करने को थे। पर लिखा जाता रहा हमेशा। अक्सर कोई ऐसा वर्ष नहीं होगा जिसमें एक दो कविताएँ नहीं लिखी गई हों। कुछ अधूरी पड़ी रही, कुछ अच्छी नहीं लगीं पर लिखी जरूर गईं। लेकिन संग्रह छपवाने में उदासीन रहे।

आप प्रसिद्ध कवि मुक्तिबोध के वैसे निकट मित्र रहे हैं जिन्हें वे अपना सहचर मित्र कहते थे और मुसीबत के क्षणों में लगातार आपने उनकी मदद की। मुक्तिबोध की बौद्धिकता और उनकी कविताई में कौन-सी चिनगारी आपको दिखी कि आपने परिश्रम पूर्वक उनकी रचनाओं को संकलित संपादित करके हिन्दी साहित्य में व्यवस्थित रूप से उन्हें प्रतिष्ठापित किया। क्या यह कहना उचित होगा कि जिस तरह मुक्तिबोध आपसे नहीं छूटे, उसी तरह आपसे कविता भी?

– आपका ये अन्तिम वाक्य थोड़ा दिलचस्प जरूर है पर मैं नहीं जानता कि दोनों को एक ही स्तर पर रखा जा सकता है। बहरहाल, मुक्तिबोध मेरे गहरे मित्र थे। उनकी कविताएँ ऐसी थीं जो साधारण लिखी जाती हैं उससे अलग थीं। जब ये प्रस्ताव हुआ कि रचनावली के रूप में सब कविताओं को छापा जाए। इसके पीछे अशोक वाजपेयी और प्रकाशक शीला संधू जैसे लोगों की इच्छा भी शामिल थी क्योंकि कोई छापने के लिए तैयार हो तभी संभव हो सकता है। फिर जब यह प्रस्ताव आया तो मैंने कहा कि मैं जरूर करूँगा ये काम। कुछ ये भी अहसास था कि उनके साथ ठीक से न्याय किया जा सके, ऐसा व्यक्ति हो। तो उस काम पर मैंने बहुत समय लिया। आज जो लोग वो कविताएँ पढ़ते हैं उन्हें अंदाजा नहीं होगा कि कैसे वो संग्रह बना होगा। क्योंकि उनकी कविताएँ कहीं चार लाइनें इस अखबार के एक कोने में लिखी हैं, तो शेष कहीं और लिखी हैं। किसी पर तारीख है तो किसी पर नहीं। तो उनको व्यवस्थित करना एक समस्या थी। छः सात महीने कुछ और कर ही नहीं रहे थे, बहुत ही श्रमसाध्य कार्य था। उनके बेटे का बहुत हाथ है, रमेश का, जिसने सारी सामग्री बचा कर रखी थी। तो फिर से उन सबको संजोया। ये पता चला कि कविताएँ छप गई हैं, आधा हिस्सा छप गया है एक नाम से और दूसरा हिस्सा दूसरे नाम से। कब लिखा ये पता नहीं चलता तो हम लोगों ने कोशिश की कि एक तरह के काग़ज़ पर लिखी कविताएँ एक जमाने की रही होंगी। उस तरह का जो काग़ज़ है वो एक ही जगह होगा, उससे अनुमान लगाया कि कब लिखा गया। तो इस तरह से परिश्रमपूर्वक किया क्योंकि एक तो मित्र थे वो हमारे, दूसरे उनके जैसे कवि को आगे आने, उनकी रचनाओं को पढ़ने का भी मौका मिले, यह तो बड़ी अच्छी हम सबके लिए खुशी की बात थी। तो इसलिए फिर वो काम किय हमने। मुझे लगता है कि मेरी जिंदगी के अच्छे कामों में से एक यह भी है कि मैंने उस रचनावली का संपादन किया।

मुक्तिबोध रचनावली के संपादन के दौरान यद्यपि आरम्भ में इसकी एक लम्बी भूमिका आपने लिखी है जिसमें आपने संपादन की कठिनाइयाँ बताई हैं लेकिन यह बात मुझे विरोधाभासी लगी है कि जो कवि आलोचक अपनी कविताओं के प्रति इतना लापरवाह और उदासीन रहा है, अपने कवि मित्र के प्रति इतना सजग क्यों? यही नहीं, आपने उनके पत्रों को भी 'पाया पत्र तुम्हारा' (1984) नाम से संकलित किया। मुक्तिबोध पर आपके ये दोनों काम – रचनावली और पत्र

संकलन ऐतिहासिक दृष्टि से इस कारण भी महत्वपूर्ण हैं कि मुक्तिबोध पर लिखने के लिए ये आधार-स्रोत सामग्री हैं। आप इजाजत दें तो इसी से संबंधित एक सवाल मैं आपसे पूछूं - इतना सब करते हुए क्या आपके मन में कभी मुक्तिबोध की जीवनी लिखने की बात नहीं उठी? यह सवाल मेरे मन में इसलिए भी उठा कि उनकी जीवनी के नाम पर विष्णुचंद्र शर्मा लिखित पुस्तक 'मुक्तिबोध की आत्मकथा' जो उपलब्ध है, वह मुझे न केवल अपर्याप्त लगती है बल्कि अविश्वसनीय भी- बल्कि उन्हें गलत समझे जाने की हद तक। आप क्या सोचते हैं?

– देखिए जीवनी जो है मेरी उसमें रुचि नहीं है तो एक तो यह सवाल ही नहीं उठता। दूसरा उनके बारे में व्यवस्थित रूप से एक आलोचनात्मक एवं मूल्यांकनपरक निबंध भी नहीं लिख पाया। कुछ इस कारण कि मैं जानता नहीं था कि उसके क्या परिणाम होंगे। जाहिर है, उनके जो प्रशंसक और समीक्षक हैं उनसे मेरी राय अलग है। उस राय को लाकर बीच में नया विवाद खड़ा करने की इच्छा नहीं है। मुझे यह लगता है कि यह संयोग है या शायद अनिवार्यता कि उनको हमारे प्रगतिशील बंधुओं ने एप्रोप्रिएट कर लिया। उनकी कविताओं में बड़ी रेंज है सबके साथ में और जो लोग अपने-अपने मन से चुन लेते हैं उसको। यह ठीक है सामाजिक उत्प्रेरणा आ जाएगी। उन्होंने समाजवादी आंदोलन में हिस्सा लिया और काम किया। विचार उन्होंने मार्क्सवादी लिये। वे केवल मार्क्सवादी नहीं थे। वे एक तरह से भिन्न प्रकार के मार्क्सवादी थे तो मार्क्सवाद की सार्थकता को समझते हुए भी दूसरे ज्ञान के प्रति उदासीन नहीं थे। तो यह सब बातें थीं उनकी उनके लेखन में। इन सबको मैं चाहता था व्यवस्थित रूप में कहना, पर कह नहीं पाया, पर जीवनी लिखने की बात मेरे मन में कभी नहीं आयी।

'मुक्तिबोध रचनावली' प्रकाशन के पूर्व जिस तरह डॉ. रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की बिखरी और उपलब्ध कविताओं के आधार पर उनका मूल्यांकन किया है उससे आप कहाँ तक सहमत हैं?'

– बात यह है कि अभी मैंने आपसे जिक्र किया कि प्रगतिशील आंदोलन और दूसरे प्रगतिशील युवकों ने किस तरह उनको अपना कवि मान लिया तो उसका एक छोर तो दूसरे तमाम लोग हैं और एक छोर रामविलास शर्मा हैं जिन्होंने अंत तक उन्हें सार्थक कवि नहीं माना। तो इसलिए यह स्थिति है और मैं नहीं जानता कि इसमें क्या हो सकता है। हर एक की अपनी सीमाएँ हैं वैसे अगर आपने 'पाया पत्र तुम्हारा' पढ़ा हो तो उसमें देखेंगे कि एक बार मैंने जिक्र किया है कि उनकी समझ कविताओं में ठीक नहीं है। मुक्तिबोध चाहते थे कि उनके संग्रह की भूमिका कोई लिखे और वो रामविलास शर्मा हों। मैं उससे बहुत असंतुष्ट हुआ। मैंने कहा था कि वो आपकी कविताओं के साथ न्याय नहीं कर सकता। वो जो बातें कहते हैं वो अपनी जगह सीमित रूप से शायद सही हों पर समग्र रूप से आपकी रचनाओं के लिए उनकी समझ काफी नहीं है। मेरी यह अभिलाषा हमेशा रहती थी और रामविलास शर्मा के ज्ञान के विस्तार से प्रभावित हूँ। इतने सारे विषयों पर हिंदी में उन्होंने पहली बार लिखा है और सजग किया है पाठकों को। पर उसके विस्तार से ही, हमेशा उनके काम के स्तर से संतुष्ट नहीं हो पाये बल्कि कई बार खीज भी होती है कि उन्होंने इतना अथक परिश्रम किया है और कितनी सरलतापूर्वक इन्होंने ये जो काम किया है। उनकी विचारों की दुनिया इतनी सरल, सहज और एक स्तरीय नहीं होती।

डॉ. शर्मा के बाद मुक्तिबोध की कविताओं का समग्र मूल्यांकन नंदकिशोर नवल ने अपनी पुस्तक- - 'मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना' में किया है जो संयोगवश आपको ही समर्पित है। इसके बारे में आपकी क्या राय है?

– देखिए, पुस्तक मैंने इतनी पढ़ी नहीं। लेकिन आपको जानकर शायद आश्चर्य हो कि कल ही किसी

ने मुझे कहा कि वो पुस्तक आपको समर्पित है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। आ तो गई ही है पुस्तक, पर मैंने देखी नहीं थी। अपनी किताबों में से कल खोजकर वो निकाली। मैंने पूरा पढ़ा नहीं, छिटपुट लेख मैं पढ़ता रहा हूँ, मैंने वो देखी। मेरा ख्याल है कि नवल सहानुभूतिपूर्ण और सजग आलोचक है पर मैं यह नहीं जानता कि ठीक से उन्होंने पूरी किताब में क्या लिखा है। उसके बारे में कोई टिप्पणी मैं नहीं करना चाहूँगा। पर मैं सोचता हूँ कि परिश्रमपूर्वक उन्होंने काम किया है।

हिंदी संसार में आप नाट्यालोचक से पहले उपन्यास आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुए जबकि छठे दशक में आप राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से जुड़ गये थे और 1965 में आपने 'नटरंग' पत्रिका का संपादन शुरू किया। यहीं यह सवाल भी उठता है कि कविता से उपन्यास आलोचक और फिर उसके बाद नाट्यालोचक, इनका प्रस्थान बिन्दु कौन है? हिन्दी जगत में आपकी दो समीक्षाओं की व्यापक चर्चा रही। पहली समीक्षा जो डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य साधना' पर केन्द्रित है और जो मार्कण्डेय द्वारा संपादित 'कथा' में प्रकाशित हुई थी और दूसरी समीक्षा जो डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' की थी, जो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (12 जनवरी, 1969) में 'कविता प्रतिमानों की खोज' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। पहली समीक्षा में डॉ. शर्मा पर आपने यह आरोप लगाया था कि उक्त पुस्तक में निराला की जो छवि सामने लाई गई है, वह असल निराला ही नहीं, बल्कि लेखक निर्मित कवि की छवि है। कविता के प्रतिमानों की खोज करते हुए आपका निष्कर्ष था कि 'मार्क्सवादी नामवर सिंह का सर्वथा रूप व आलोचना दृष्टि की ओर क्रमशः झुकाव है।' यद्यपि नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में आपके आरोप को झुठलाने की कोशिश की लेकिन उनका तर्क बहुत कन्विंसिंग नहीं लगता। नेमि जी, क्या इस बीच आपके विचारों में इन दोनों लेखकों के बारे में कोई परिवर्तन हुआ है?

– धीरे-धीरे आप कह सकती है कि मैं बहुधंधी साहित्यकार हूँ। जिन चीजों में मेरी रुचि है वो मैं करता रहता हूँ। परिस्थितियाँ भी उसके लिए उत्तरदायी हैं। मेरी नाटक में उतनी रुचि कभी नहीं थी। थोड़े बहुत नाटक बचपन में, याद नहीं, किए होंगे। नाट्य संघ के आंदोलन से मेरा संबंध रहा था, उसके कुछ सक्रिय काम से भी मैं जुड़ा रहा। पर निजी तौर पर वो मेरा विषय नहीं था। पर कुछ ऐसा हुआ कि मैं जब दिल्ली आया तो मैंने काम ढूंढ़ा संगीत नाटक अकादमी में तो उसमें नृत्य और संगीत के जानकार लोग थे। रंगमंच के बारे में कोई जानता नहीं था खास तो मुझको यह भार दिया गया कि रंगमंच वाले हिस्से की देखभाल मैं करूं। अगर मैं देखभाल करूं तो इसके लिए मुझे एक तरह से तैयार होना पड़ा, पढ़ाई की गई और उसमें रुचि लेने लगा मैं। दूसरा संयोग यह हुआ कि अकादेमी ने मुझको, संगीत नाटक अकादेमी ने, जब उसने राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय की स्थापना की तो मुझसे कहा कि तुम इसकी देखभाल करो। एक, जिसे कहना चाहिए कि उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आ गया। और फिर मैंने वहाँ पढ़ाई का काम किया और जो शासन संबंधी काम भी करना पड़ता था, उसमें मेरी बहुत रुचि थी नहीं। फिर मैंने कहा कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में पढ़ाने का काम मिलेगा तो ज्यादा अच्छा है। तो वहीं फिर, कहीं नहीं गया मैं अवकाश न प्राप्त करने तक। जब ज्यादा काम बढ़ा नाटक का तब और भी पढ़ना पड़ा और उस स्थिति में लिखना भी पड़ा और जो लिखा क्योंकि मैं एक दो तरह का अनुशासन लेकर आया था कविता का और फिर उपन्यास समीक्षा का। तो उन दोनों का उपयोग मैंने नाट्यलेखन की समीक्षा में किया। लिखना बढ़ता ही गया फिर मैंने हिन्दी में समीक्षाएं लिखीं। अंग्रेजी में स्टेट्समैन में दस-पन्द्रह वर्षों तक नाट्य समीक्षा लिखता रहा। तो फिर जब लिखना हुआ तो मैंने देखा कि नाटक के रंगमंच के बारे में कोई लिखता ही नहीं है। और देखिए ना जिंदगी कैसे संयोगों से बनती है, मेरे एक मित्र थे रामबाबूलाल हाथरस के, बहुत ही सिंपल थे, उन्होंने एक बृज कला केन्द्र नाम की संस्था का

आयोजन किया अपने यहाँ। मेरे घनिष्ठ मित्र थे मेरे बड़े भाई की तरह थे। उन्होंने मुझसे कहा कि वहां एक बात उठी कि एक पत्र निकाला जाए बृज कला केन्द्र का। तो मुझसे मेरे मित्र कहने लगे कि तुम क्यों नहीं इसको करते। मैंने कहा कि मैं करने को तो तैयार हूँ पर अगर उसमें ये संस्था हस्तक्षेप ना करे तो मैं तैयार हूँ। तो फिर यह सब हुआ। उसका भी अपने आप में एक बड़ा दिलचस्प इतिहास है जो एकपूरे लेख का या संवाद का विषयहै कि कैसे वह बना जिसका मैंने जिक्र किया है। एक विशेषांक निकला था पचासवां अंक। कैसे वह शुरू हुआ था इस बात का जिक्र मैंने किया है कहीं विस्तार से।

रामविलास शर्मा जी के ज्ञान के विस्तार से प्रभावित हूँ। हरेक विषय पर उन्होंने हिन्दी में पहली बार लिखा है और उससे सजग किया है पाठकों। पर जितना उनके विस्तार से हूँ उनके काम के स्तर और गुणवत्ता से उतना संतुष्ट नहीं हूँ, प्रभावित नहीं होता हूँ बल्कि कई बार खीज भी होती है कि उन्होंने इतना परिश्रम करके किया है और इतनी सरलतापूर्वक जो ये निष्कर्ष निकालते हैं, जिंदगी या विचारों को दुनिया इतनी सरल, सहज, एकस्तरीय नहीं होती है। जहाँ तक नामवर जी का सवाल है मैंने केवल अन्तर्विरोध को दिखाने की कोशिश की थी। उनकी पुस्तक के दूसरे तमाम निष्कर्ष मुझको बहुत महत्वपूर्ण लगते हैं। कविता की आलोचना पर ऐसी पुस्तक बहुत नहीं हैं, इसमें कोई शक नहीं। पर मेरा यह अनुमान था कि उनकी रुचियों में एक तरह का उदार व्यक्तित्व है। उनको ऐसी बहुत सी चीजें अच्छी लगती हैं जो अच्छी हैं जो आंदोलन के लोग इनको नकारते हैं। कैसे आदमी की रुचियां अंततः कभी-कभी तो बहुत विरोधी स्थिति में प्रकट होती हैं, मैंने उसमें यहीं कहने की कोशिश की है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि नामवर सिंह रूपवादी आलोचक हो गए हैं बल्कि मैं यह कह रहा हूं कि अपने विचारों के बावजूद उनकी रुचियों का संस्कार हैं, अच्छी रचना को पहचानने की उनकी जो क्षमता है वह बार बार जैसे आगे आती है तो ऐसी रचनाओं की प्रशंसा करते हैं जो साधारणतया प्रगतिशील आलोचक नहीं करते हैं। उदाहरण बहुत बड़ा है निर्मल वर्मा। उनकी कहानी 'परिंदे' को लेकर उन्होंने लिखा है तो लोगों को बड़ा अटपटा लगा। जो उनके मानक हैं, कसौटियां, चीज़ों को समझने की और संभवतः रुचियों में एक टकराहट है, सबके साथ होती है हम सबकी। हम यह स्वीकार करें ना करें, पर होती सबके भीतर है यह। हमारे संस्कार, हमारे विचारों से हमेशा मेल नहीं खाते, उनमें कभी-कभी टकराहट भी होती है।

'नटरंग' हिंदी की संभ्वतः पहली ऐसी पत्रिका थी जो पूर्णतः नाट्य जगत पर केन्द्रित थी- लगभग 40 वर्षों से कभी नियमित, कभी अनियमित लेकिन निरंतर प्रकाशित। इसकी ऐतिहासिक ही नहीं हिंदी रंगमंच को विकसित करने एवं दिशा देने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। अब इसके बारे में आप क्या सोचते हैं?

– एक तो यह कि वह अनियमित ज्यादा है, नियमित कम है क्योंकि एक जमाना ऐसा था कि मैं सब कुछ सामग्री निकालने से लेकर डाकखाने में उसको पोस्ट करने तक का काम करता था। सिर्फ एक आशुलिपिक जरूर आ जाता था जिससे टाइपिंग वगैरह का काम करा लेते थे, बाकी सब मैं ही करता था तो ऐसे चल सकती थी और कोई तरीका नहीं था। कोशिश हमने की कि उसका भविष्य अच्छा हो पर आजकल तो यह है कि आज अच्छे भविष्य की कोशिश ही कर सकते हैं, मालूम नहीं कि होगा या नहीं।

इसी से जुड़ा एक और प्रश्न, आपने 'नटरंग' प्रतिष्ठान की स्थापना की है। आपक मन में इसकी परिकल्पना क्या थी और अब तक कितनी कार्यान्वित हुई?

– 'नटरंग' के संपादक और नाट्य संबंधी लेखों के रूप में वर्षों तक काम करते-करते मेरे पास अथाह सामग्री जमा हो गई और कुछ मेरी शायद संग्रहात्मक रुचि भी रही, जमा होती गईं कतरनें, फोटोग्राफ्स, ब्रोशर्स, स्मारिकाएं, आमंत्रण पत्र जो एक तरह से रिकार्ड जैसा होता है। हाँ, यह तो है ही कि आप जानती

ही होंगी कि नाटक का कोई भविष्य नहीं होता जैसे खेला जाता है वैसे ही मरता जाता है। इतनी क्षणभंगुर कलाएं बहुत कम हैं। इसका जो मात्र रिकार्ड रह जाता है, नमूना, वो या तो उस नाटक में है या उस नाटक के बारे में जो लिखा गया है उसमें हैं। बहुत बार एक नाम लोगों को मालूम है शंभु मित्र बंगाल के थे पर उनका ना कुछ पढ़ा है ना कुछ देखा है। उनके नाटकों की कुछ तस्वीरें हैं और कुछ स्मारिकाएं हैं वहीं एक प्रमाण है, नाटकों की समीक्षाएं हैं। तो यह एक कारण है कि सामग्री इकट्ठी हुई। इकट्ठी हुई तो सोचना पड़ा कि इसका कुछ उपयोग हो। हम चाहें तो किसी को दे दें, पर उसकी सूची बनाना जरूरी था। सूची बनाना दुश्वार था। अकादेमी को हमने कहा कि हमें कुछ अनुदान दे दें तो किसी आदमी को रख के ये करवा दें लेकिन कोई इसके लिए पांच-दस हजार रुपये देने को तैयार नहीं था। फिर संयोगवश फोर्ड फाउंडेशन से उनके लिए सहायता मिल गई। हमने सोचा भी नहीं था कि ऐसा बनेगा, बन गया और फिर बढ़ता चला गया। उसने इतना ध्यान आकर्षित किया अपने ढंग का अकेला संसार बन गया और मैं समझता हूँ कि उत्तर भारत में अभी भी नटरंग प्रतिष्ठान जैसा कोई संस्थान नहीं है। कई बार तो स्वयं अकादेमी और ड्रामा स्कूल को हमसे सहायता लेनी पड़ती है कि आपके पास यह सामग्री होगी तो उसकी प्रतिलिपि हमें दीजिए।

सन 1947 में जब इलाहाबाद से अज्ञेय के संपादन में 'प्रतीक' निकला जिसके संपादन मंडल में नगेन्द्र नगाइच के सात आप भी थे। उन दिनों आप इलाहाबाद में पुस्तक की 'आधुनिक पुस्तक भण्डार' दुकान चलाते थे। 'प्रतीक' के संपादन काल के अनुभव और मतभेद के बारे में कुछ बताएँगे तो मुझे खुशी होगी।

– मैंने कई जगह बताया है, मैं उसको दोहराना नहीं चाहता। पुस्तकों की दुकान 'प्रतीक' के बहुत बाद में खुली। हम कैसे घूमते-भटकते इलाहाबाद पहुंच गए थे। फिर वहां जम गए। इलाहाबाद पहुंचने का एक बड़ा कारण 'प्रतीक' का संपादकीय था। वात्स्यायन जी ने कहा कि आप आ जाइए, मेरे साथ चलिए। हम बम्बई छोड़ने वाले थे तब आ गए फिर। कहीं न कहीं विचारों की टकराहट हुई, फिर हमने छोड़ दिया, अलग रहने लगे एकाएक ही। कोई रास्ता नहीं था तो हमने यह किताबों की दुकान, यह भी अचानक बनी। फिर वो किताबों की दुकान भी इतनी बड़ी हो गई जैसे हिंदी, कोई किताब-पुस्तक भण्डार हिन्दी भाषी क्षेत्र में नहीं होगी जिसमें हिंदी की सब नई पुरानी पुस्तकें, अंग्रेजी के लेटेस्ट नये रोचक साहित्य से संबंधित पुस्तकें एक साथ मिलती थीं और इलाहाबाद के साहित्यकारों का एक तरह से अड्डा जैसा बन गया था, शाम को लोग वहीं इकट्ठे होते तो वो मतलब यह संयोग ही है।

हिंदी में नाट्यलोचना की शुरुआत का श्रेय भी आप ही को जाता है। कहीं आपने हिंदी रंगमंच के अविकसित रह जाने पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'हिंदी रंगमंच पश्चिमी नाटकों का उपनिवेश है।' क्या अब भी आपकी यही राय है?

– कहीं मैंने यह वाक्य लिखा है, मुझे यह याद नहीं पड़ रहा है। कहीं आपने शायद देखा हो, कहीं प्रभाव पड़ा हो। यह मैंने कभी नहीं माना कि यह उपनिवेश है। यह जरूर माना है कि नाटक थे ही नहीं। कुछ नाटक अनुवाद थे, कुछ पर छाया थी। शेक्सपियर की छाया और इब्सन की छाया बहुत से नाटकों पर थी। फिर नाटक देखे कैसे जायें जब उन्हें खेलने की गुंजाइश नहीं थी। तो केवल पाठ्य पुस्तकों के लिए लिखे गए। बाद में जब नाटक रंगमंच की ओर बढ़ा यानी कि ये एक दूसरे पर निर्भर चीज है। रंगमंच के बढ़ने से बेहतर नाटक लिखे गए। रंगमंच और आगे बढ़ा, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल ऐसे कई लोगों ने आगे आकर नये नाटक लिखे। तो यह अंग्रेजी प्रभाव हमारी निजी जिंदगी के किसी हिस्से पर नहीं हैं। तो किसी नाटक के बारे में यह कहना कि या किसी साहित्य के बारे में कहना, क्या कहना चाहिए कि वो भी और स्थिति थी पर धीरे-धीरे इसका निजी चरित्र इसको कह सकते हैं। हिन्दी नाटक और रंगमंच

की अस्मिता अपनी बनती जा रही है, बनी है। और तमाम सीमाओं के बावजूद, तमाम कारणों के बावजूद हिंदी रंगमंच देश के सबसे महत्वपूर्ण रंग कर्म के क्षेत्रों में से है। वैसा विचार नहीं है, वैसे दर्शक नहीं हैं, वैसे नाटक नहीं हैं। पर बहुत अच्छे निर्देशक हैं उतने अच्छे निर्देशक देश के किसी भाषा में नहीं, बल्कि हर एक दूसरी भाषा का निर्देशक चाहता है कि कभी न कभी हिंदी के किसी नाटक का निर्देशन करें। और ऐसे लोगों में तमाम लोगों के नाम बता सकता हूँ। विजया मेहता, प्रसन्ना और नारायण ऐसे कितने ही लोग हैं जिन्होंने हिंदी में नाटक करना स्वीकार किया बल्कि अच्छा लगा। बल्कि कई बार मुझको लगता है कि कई सारे लोग अन्तर्देशीय हो गए पूरे, राष्ट्रीय हो गए हिंदी में नाटक करने की वजह से।

विश्व की कोई ऐसी कृति, जिसे पढ़ने की साध अब भी आपके मन में बची हुई है?

– जरूर। एक कृति तो उपन्यास ही है रोम्या रोलां का ज्यॉ क्रिस्ताफ। वो मैंने पढ़ा था, कब? आज से पचास–साठ साल पहले। अभी भी याद है।

(दूरदर्शन से साभार)

पिछले दिनों अनेक विधाओं में अपनी लम्बी और प्रभावी सृजनात्मक भूमिका निभाते हुए नेमीचन्द्र जैन का निधन हुआ है। हिन्दी समाज में उनका स्मरण अत्यंत संभ्रात व्यक्ति के रुप में किया जाता है। आजीवन वे अपना काम तल्लीनता और निष्ठा से करते रहे। मुक्तिबोध ग्रंथावली का संपादन और नटरंग उनकी अद्वितीय देन है। साधना अग्रवाल दिल्ली के क्षितिज पर हाल ही में चमकी हैं। उन्होंने नेमि जी का अंतिम साक्षात्कार लिया था। साधना जी भरपूर लेखन करती हैं, और लगभग हर जगह उपस्थिति दर्ज करती हैं। लगता है कि वे कई हाथ से लिख रही है। पहल में पहली बार।

दमित इतिहास के तारनहारे

विनोद शाही

''स्थान, सामयिकता और समय के चिन्हों का दमन करता है''

- फ्रेडरिक जेक्सन, सीड्ज़ ऑफ टाइम

''धारणामूलक या प्रतिनिधित्व मूलक स्थान, जीवन और समाज से जुड़े स्थान के उलट होता है।''

- लीफे बाय

''आज स्थान का ऐसा सतहीकरण हो गया है, जिसमें एक जैसी शक्लोसूरत वाली या एक दूसरे के विरोध में ला खड़ी की गयी चीजें इस तरह पड़ी रहती हैं, जैसे कि न सिर्फ वे अपने समय के संदर्भों से कटी हों, अपितु एक दूसरे से भी कोई रिश्ता न बनाती हों, जैसे कोई शिजोफ्रेनिक मनस।''

- बौदलेयर

समय और स्थान के रिश्तों पर विचार करना आज इसलिए लाजिमी लगता है, क्योंकि समय का वह आयाम - जिसे इतिहास कहते हैं - बिखरता हुआ या दिशा खोता हुआ नज़र आने लगा है। हम इस स्थिति से नाराज़, असंतुष्ट, ख़फा और उदास होते हैं तथा एक अविश्वासी व्यक्ति की तरह व्यवहार करते हुये, बड़े मनोयोग से कहते हैं - नहीं, ऐसा तो नहीं है। यों समय के इतिहास पक्ष पर घिर रहे संकट को विश्वयुद्धों के दौर में ही वाल्टर बेंजामिन पहचान पा रहे थे और इसीलिए वे समय और स्थान के रिश्तों पर विचार करते हुए एक इसी परिकल्पना तक पहुंचे थे - स्थान (और चीजों) के उत्खनन की ज़रूरत तक स्थान के 'सतहीकरण' (फ्लैटनिंग) से उबरने का एक ही रास्ता है - उत्खनन (एक्सकवेशन)। अगर स्थान समय को दमित कर रहा है, तो उसे वहां से उबारने और बाहर लाने के लिए हमें सतह के नीचे उतरना होगा।

हर स्थान और उसकी सतह को भरने वाली तमाम चीज़ों का भी अपना एक इतिहास होता है, परन्तु वित्तीय पूंजी और उपभोक्तावाद के जोर से उस इतिहास को ढांपने-छिपाने-स्थगित करने और खारिज तक करने की कोशिश होती है। स्थान अपने मूल रूप में नजर ही न आये, इसका इंतजाम तेज़ी से घूमती हुई वित्तीय पूंजी करती है। वह स्थान के मालिकों से लेकर उसके रूप-स्वरूप, बनावट-बुनावट आदि की पुनस्संरचना (की-स्ट्रक्चरेशन) करती रहती है। स्थान का इतिहास उसकी परम्परा को जाहिर करने वाले सूत्रों या चिन्हों में छिपा होता है। ये सूत्र या चिन्ह एक आधुनिक-उत्तरआधुनिक पुनस्संरचना के द्वारा

लगातार छिपाये या खारिज किये जाते हैं। फिर यह तब्दीली की गति आज इतनी तेज़ हो गयी है कि अतीत या इतिहास के इतने सारे निरंतर होते बदलावों का हिसाब रखना असंभव हो रहा है। दूसरी चीज़ है - उपभोक्ता की चीजें। एक जैसी दिखायी देने वाली चीज़ें, जो सब जगह भरती या ठूंसी चली जाती हैं। इन एक जैसी शक्लोसूरत की चीजों में विरोध केवल ब्रांड नामों का, चलन-फैशन-ग्लैमर-स्टेटस के तौर तरीकों भर का होता है। समता और विरोध दोनों इस कदर सतही कि दोनों एक दूसरे का पूरक बने, विविधता और बहुलता की खपत के लिए जमीन साफ करते रहते हैं। इतिहास की याद दिलाने वाला हमारा परंपरागत स्थान या आकार लगातार खो रहा है। जो शेष है उसे दुर्लभ और संरक्षणीय बना कर हमारे पर्यटन-कौतुक और अजनबीपन का पर्याय बना दिया गया है। हमारा अपना इतिहास आज हमें इतनी कम मात्रा में उपलब्ध होता है कि उसके सहारे हम नये इतिहास की परिकल्पना को और इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए कार्यक्रम बनाने और संघर्ष करने को, सहज ही मूर्त्त और व्यावहारिक बनाने में काफी दूर तक असमर्थ हो रहे हैं।

* *

ऐसे में हम, एक दफा फिर *कार्ल मार्क्स* की ओर देखना चाहते हैं।

हमारे रहने लायक और सामाजिक 'स्थान' की फसलों को चट कर जाने के लिए पूंजीवाद के टिड्डीदल को उतरते,देखा था उसने; और देखा था उसे जहां-तहां उतरकर औपनिवेशिक बलात्कार के ज़रिये जन्मे अपने अण्डों को सेते हुए हमारे 'स्थान' को बचाने के लिए समय के आकाश के भीतर से, इतिहास के ईश्वर का आवाहन करने वाला, अपनी तरह का, पहला और संभवत: आखिरी फरिश्ता था मार्क्स। आखिरी से अभिप्राय यहां उसकी जीवंत परंपरा से है - जो उसके समकालीनों के प्रयासों से आगे, अगली पीढ़ियों तक पुख्तगी से स्थानांतरित नहीं होती। और वाल्टर बेंजामिन तक आते-आते वह रास्ता बदलने के लिए 'जमीन का उत्खनन' आरंभ कर देती है।

* *

हमारे सब खाली स्थानों को धीरे धीरे अदभुत स्थापत्यों और आकर्षक चीज़ों से भर देने का क्या अर्थ है?

क्या सौंदर्य और कला का मतलब होता है - हमारे वास्तविक ज्ञान, इतिहास और समय-चेतना को सतह के नीचे छिचा कर, अपने अधूरे कामचलाऊ ज्ञान प्रतीक, संकेत या व्यंजना की तरह इस्तेमाल करना? कामचलाऊ ज्ञान (या अज्ञान) में ही प्रतीक होने या व्यंजक होने की बेचैनी हो सकती है, ताकि वह उस सब को भी समेटने का भ्रम खड़ा कर सके, जो उसमें सहज समाहित नहीं है। प्रतीक-सौंदर्य की कला-संरचना दरअसल यथार्थ को ढांपने-छिपाने के प्रकार्थी से रची जाती है। उसे यथार्थ को छिपाने की या व्यंजित करने की ज़रूरत इसलिए पड़ती है ताकि वह अपनी वर्चस्वी सत्ता की राजनीति को बनाये-चलाये रख सके। सौंदर्य या कला की हमारी अब तक की सारी धारणाएं वर्चस्वी राजनीति के मुखौटों की तरह प्रकट हुई हैं। यह स्थिति मानवजाति के पिछले पच्चीस सौ बरसों के ज्ञात सांस्कृतिक इतिहास में हमें अक्सर और अमूमन 'आत्मा के सौंदर्य' और 'सौंदर्य की आत्मा' से युक्त होने के हमारे स्वभाव और सत्य को स्वीकार कर लेने की हद तक गहरायी गयी है। राजनीति के रहस्य (साजिशी सत्तावर्चस्व) जितने गूढ़-निगूढ़ होते हैं, हमारी सौंदर्य-आत्मा भी हमारे भीतर उतनी ही गहरी, अमूर्त्त और पकड़ से बाहर हो जाती है।

सौंदर्य और कला मानव जाति की परम-राजनीति के पर्याय हैं - उसके पीछे छिपे सिक्के के दूसरे पहलू की तरह।

हमारे लिए उपलब्ध तमाम स्थान को परायी चीजों से भरने के लिए हमारी सुप्त सौंदर्य-चेतना को जगाया जाता है। यह जागृति एक भ्रम की तरह हमें मुहैया करवायी जाती है, ताकि हम इस मुगालते में रहें कि हमारी सौंदर्य-चेतना 'अन्यों' की वर्चस्वी राजनीति द्वारा निर्मित या उत्पादित चीज़ नहीं, हमारी अपनी आत्मिक ज़रूरत है।

परन्तु अगर सौंदर्य हमारी आत्मा है, तो उसे हमारे भीतर निगूढ़, अचेतन, प्रसुप्त और रहस्य-आवृत्त रूप में रहने की क्या जरूरत है?

यथार्थ, समय और इतिहास-चेतना के अंग-संग सौंदर्य हमारी सचेतन उपलब्धि होने लगता है।

सचेतन सौंदर्य को उथला साबित करके उथली-सतही चीज़ों का सौंदर्य, वास्तविक सौंदर्य को प्रतीक या व्यंजना में बदल देता है। प्रतीक-व्यंजनाएं सौंदर्य को अचेतन में धकेलने और वहीं बनाये रखने की साजिशी कलाएँ हैं।

सचेतन सौंदर्य की उपलब्धि की दिशा में कदम आगे बढ़ाती हमारी इतिहास-चेतना को सबसे बड़ा खतरा उसकी यांत्रिकता या उथलेपन से होता है। और सचेतन चीज़ों का उथलापन एकदम दिखायी देता है। जिसे हम सीधे-सीधे देख पाते हैं, उसे छिपाना-दबाना कठिन हो जाता है। इसलिए यथार्थवादी साहित्य का उथलापन छिपाये नहीं छिपता। और वह उथले सौंदर्य के भीतर किसी अन्य गहरे आत्मिक सौंदर्य की व्यंजना से रहित होने के कारण एकदम अरुचिकर या गैरकाव्यात्मक लगता है। मानव जाति को स्वभावत: भ्रम-छल के आश्वासनों की बैसाखियों के साथ जीने की आदत पड़ चुकी है - जो पिछले पच्चीस सौ बरस में लगातार व्यवहृत होने के कारण इतनी पक गयी है कि उससे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, कई दफा तो असंभव जान पड़ता है।

उत्तर आधुनिक दौर में व्यंजनागर्भिता के विखण्डन की आड़ में लौटते ही सौंदर्य की वर्चस्वी राजनीति की जोर शोर के साथ वापसी हो रही है। उथली चीजों की उथली संस्कृति ने कामचलाऊ ज्ञान को उपभोक्ता की दुनिया में लोकप्रिय बना दिया है। उपभोक्ता पाठक को अब यह भ्रम मुहैया करवाया जा रहा है कि इस पाठकवादी संस्कृति में सौंदर्य का सृजन भी उसी के द्वारा नियंत्रित संचालित है। सौंदर्य के ग्लैमर में बदल जाने के इस दौर में हमारी रुचियों की पूर्ति के नाम पर हमारी मर्जी से हमारी जेबें खाली करवायी जा रही हैं।

इतिहास चेतना अब मार्क्स के बताये दिखाये रास्ते पर चलती विकास करती हुई 'समय' को सीधे घेरने-दिशा देने में असमर्थ हो गयी है, क्योंकि समय स्थगित और दमित हो कर हमारे स्थान में 'सतह के नीचे' चला गया है। वह नष्ट नहीं हुआ है, उसे केवल ढक दिया गया है। अब, जैसा कि ऊपर इशारा किया गया, वाल्टर बेंजामिन ज़्यादा प्रासंगिक साबित होते हैं। बेंजामिन मार्क्स के अंतर्विकास का दूसरा सर्वाधिक अहम चरण है - इस बात को हम जल्द ही महसूस करने लगेंगे।

चीज़ों का और सतह का उत्खनन करके अब हम अपने 'स्थान' के गर्भगृहों में ही अपने लायक 'खाली जगहों' को पाने का प्रयास करेंगे। हमारे स्थान और हमारी चीजों को जो इतिहास चेतना या परंपराबोध एक तरह के 'प्रभामण्डल' से घेरे रहते थे, उन प्रभाण्डलों के विनष्ट हो जाने पर अब हमें बेंजामिन की तरह शोकग्रस्त होने की ज़रूरत भी नहीं होगी। हम बेंजामिन से ही सूत्र ग्रहण कर, उससे एक कदम आगे बढ़ायेंगे। हम अपने खोये प्रभामण्डलों को अपने स्थान और चीज़ों के भीतर खुदाई करके वह गहरे गर्भ-गृहों में पुन: सृजित होते और आलोक फेंकते पा लेंगे।

थोड़ा आगे चल कर इस प्रकिया में विस्तार से उतरेंगे।

* *

फिलहाल एक छोटी सी कविता, जिसका शीर्षक हो सकता है : ***समय के अन्त के बाद***

खारिज नहीं होता वक्त
बस बिखर जाता है

जब ईश्वर की मृत्यु हो जाती है
हर आदमी ईश्वर हो जाता है।

किसी की जागीर नहीं रहता इतिहास
उसे हर शख्स/बनाता मिटाता है/आगे बढ़ाता है।

पहली दफा घटता है वक्त
एक जगह की तरह
जिसके ऊपर रह सकते हैं हम
घर बना कर

सियासत पर पहली दफा
आदमी काबिज़ होता है।

* *

कुछ छोटी-छोटी टिप्पणियां

नानक ने परम सत्य या ज्ञान के स्वरूप की ओर इशारा करते हुए उसे 'अकालमूरत' कहा। बुद्ध से लेकर कबीर तक 'काल' को 'क्षणभंगुरता' के अनुभव से जोड़ कर देखा गया। क्षणभंगुरता संसार की, या कहें कि यथार्थ की कसौटी है। जबकि इसके उलट है - काल का ही आदर्शीकृत अनुभवलोक - जो 'नित नूतन' है, जिसे बुल्लेशाह कहता है - 'इश्क दी नवियों - नवीं बहार' तो वह 'अकालमूरत' वस्तुतः क्या है? समय के पार जाने का अर्थ क्या केवल समय का आदर्शीकरण है? क्या वह जगत के लिए एक तरह की काल-मीमांसा है और चेतना के लिए उसके उलट एकदम दूसरी तरह की? अकाल होने का अर्थ क्या केवल समय को विभाजित करना है?

समय का द्विभाजन और कुछ नहीं, मध्यकालीन सियासत है। तत्कालीन इतिहास पर काबिज़ ताकतें नहीं चाहतीं कि जनसमाज समय के राजनीति द्वारा नियंत्रित अमानवीय रूपों को देखे। अतः सारा दोष समय पर चस्पां कर दिया जाता है कि वह चूंकि क्षणभंगुरता है, नश्वरता है, मृत्यु का दूत है, इसलिए वही अंतिम नियति है, हमारी परिणति है, हम उसके गुलाम हैं, हमें अपने सारे सामाजिक रिश्तों को यहीं छोड़ कर आखिर उसी काल के गाल में समाना पड़ता है।

और इस काल के गाल में जा कर मिटने से बचने का एक ही तरीका है - काल के पार होना। अकाल इश्क की नयी से नयी बहार को लूटना।

काल के पार कौन जाता है? वह जो देह के पार जाता है। अकालमूरत होना एक दैहिक कर्मकाण्ड है। वह समय के अनन्त विस्तार को हमारी देह के आंतरिक आकाश द्वारा बांधने की कोशिश है। यह समय के 'आंतरिक स्थान' (त्रिकुटी, हृदय, अंतःकरण, सहस्रार) में जड़ीभूत करने की विधि है। देह के ऐसे

इस्तेमाल से 'काल' को 'स्थान' देने या 'स्थान' में बांधने का प्रयास होता है और राजा/शासक 'बाहरी काल' को बांधता है, इधर समाधिगत हृदय 'अंदरूनी काल' को बांध कर अडोल और स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं।

यह मनुष्य को काल पर विजय नहीं, सिंहासन या ब्रह्मासन जैसे 'स्थानों' की 'समय' पर विजय है।

लेकिन फिर भी मध्यकाल का अकालमूरत ईश्वर इस अर्थ में मानवीय है कि वह समय पर तानाशाही सत्ताओं के काबिज़ होने के खिलाफ कम-अज़-कम हमें एक आंतरिक समय तो देता ही है, जिसे हम अपना कह पाते हैं और जिसके भरोसे खुद को बचा पाने का एक विकल्प खुला तो पाते ही हैं। भले ही वह विकल्प इस दुनिया में नहीं, इस देह में नहीं, इस दुनिया और देह के पार के अनुभव की तरह हमें मिलता है और या फिर मृत्यु में हमें बचाता है, वैतरणी पार करने में मदद करता है। इस अंतर्विरोध को कबीर पहचानते है। इसीलिए वे अपने राम से शिकायत करते हैं – 'मूवां पीछे देहुगे, सो दरसन किह काम?'

* *

समय की विराटता को बांधने वाला अकालमूरत संत या गुरु स्थान की विराटता में गतिशील नहीं होता। वह धारणा, ध्यान, समाधि को आसन से बांध कर जमीन पर एक देहमुद्रा में ढाल कर बिठा देता है।

अकालमूरत होना – बुनियादी रूप में – ज़मीन पर एक छोटी सी जगह पर, बैठना है – चलना, दौड़ना, उछलना, कूदना वगैरह नहीं है और अगर वह 'बैठना' नहीं है, तो कहीं कहीं 'सोना' है – जो और भी जड़ीभूत (स्थानीभूत) होने का पर्याय है।

यानी अकालमूरत होना, एक तरह की काल कुण्ठा है, जो हमें बौद्ध काल और उसके बाद ज़्यादा दिखाई देती है। इसे हम उस दौर या उससे पूर्व की वानप्रस्थी या श्रमण परंपराओं के बरक्स रख कर देखें तो पायेंगे कि वहां बूढ़े या अधेड़ होने की कालचेतना को एक नयी श्रम-संस्कृति से जोड़ने का प्रयास है, जो आगे चलकर भिक्षु-संस्कृति में बदल कर ज्यादा से ज्यादा आसन-बद्ध होती चली जाती है। श्रमण होना श्रमिक होने की बजाय भिक्षुवृत्ति द्वारा आसनबद्ध होने की सुविधा का अधिक से अधिक अर्जन हो जाता है।

यह अकाल या आंतरिक काल साध्य हो जाता है तो वह धीरे धीरे नृत्य, ज़ियारत या उदासियों जैसी चीज़ों को भी अपना माध्यम बना लेती है। सत्य जीवन, यथार्थ या इतिहास से भीतर की ओर प्रवाहित होने की बजाय, भीतर से बाहर की ओर बहने लगता है।

* *

इतिहास या समय को बांधने और नियंत्रित-संचालित करने का मध्यकालीन तरीका था – उसे आख्यानों में बदल देना। मिथक और पुराण ऐसे ही इतिहास-आख्यान हैं। या कहें कि मिथक और पुराण इतिहास के मध्यकालीन कारागार हैं और चूंकि वे वाकई इतिहास को कैद करने में सफल हुए हैं, अतः उन्हें अतीत की श्रेष्ठ और महान सृजनशीलता का पर्याय भी माना जाता है।

आख्यानों से इतिहास को आजाद करवाने और जनचेतना को रूपांतरित करने या मुक्ति-संघर्ष के लिए इस्तेमाल में लाने के प्रयास इसलिए असफल हो जाते हैं, क्योंकि आख्यान इतिहास पर नायकों को आरोपित कर देते हैं और नायक एक सर्वथा जन-बाह्य वस्तु होता है।

आख्यान इतिहास के सामूहिक रूपांतर प्रयासों के विरोध में निजी सृजनशीलता को खड़े करने की विधि है। मिथक के रूप में आख्यान हमारी अचेतनमूलक सामूहिक सृजनशीलता से जुड़ जाते हैं। परन्तु इस हालत में भी वर्चस्व तो चेतन रूप में इतिहास पर काबिज होने वाली ताकतों के हाथ में ही रहता है। मिथक

हमें सामूहिक अचेतनमूलक या आंतरिक मुक्ति से ज्यादा कुछ नहीं देते, क्योंकि उसके नायक को अपदस्थ कर जनसमूहों का वहां, उसकी जगह होना असंभव होता है।

मार्क्सवाद को खारिज करने के लिए आज ल्यॉतार इसी आख्यान-तर्क का नये रूप में इस्तेमाल करता है। वह इतिहास को बांधने, निर्दिष्ट करने, दिशा देने के प्रयासों को, और ऐसे तमाम दर्शन-सिद्धान्तों को उत्तरआधुनिक दौर के महाआख्यान कहता है। यह एक तरह से इतिहास को मिथक बना देने की कोशिश है, जनसमूहों का नये इतिहास-नायकों की तरह उभरना अगर केवल एक आख्यान या मिथक है तो वह और चाहे जो हो, इतिहास नहीं है।

और इतिहास को एक आख्यान में बदल कर आप उसे एक कहानी या उपन्यास की तरह बाजार में बेच खा सकते हैं।

इतिहास का यह 'वस्तुकरण' एक नयी सांस्कृतिक सियासत है, जिससे उबरने के लिए हमें इतिहास-वस्तु का उत्खनन करने की जरूरत होगी।

* *

आवारा पूंजी, उपभोक्तावादी अनुकूलन, समय और स्थान का सतहीकरण, स्थानीय विविधताओं (लोकल प्लूरैलिटीज़) के सहारे विकास करता भूमंडलीकरण, ज्ञान के व्यक्ति-विशिष्ट या समूह-विशिष्ट विमर्श, चीजों और व्यक्तियों की भीड़ के द्वारा दिशा और मंज़िल की चेतना का स्थगन, चलन और फैशन और ग्लैमर के तत्वों से सौंदर्यबोध की नयी संरचना, पूरे समाज की व्याख्या करने वाले महा-आख्यानों की बजाय परिवारों, संस्थाओं और बाज़ारों से जुड़े लघु-आख्यानों द्वारा मानव नियति (यानी आख्यानों के अंत-विधान) की नयी अन्तविहीनता के भ्रम वाली या अनिश्चय फैलाने वाली व्याख्याएं - ये सभी मोटे तौर पर हमारे उत्तर आधुनिक दौर के यथार्थ का एक विविधता-बहुलता-धर्मी परिदृश्य बनाती हैं।

यहां इस आलेख का प्रयोजन इस उत्तर आधुनिक परिदृश्य की व्याख्या या पुनर्व्याख्या करना नहीं है, हम यहां केवल यह देखने-जानने की कोशिश कर रहे हैं कि इस परिदृश्य द्वारा दमित, स्थगित, खारिज या बिखेर दिया गया समय, इतिहास, चेतना, जन-उभार, जन-संघर्ष वर्गमूलक ध्रुवायन, आर्थिक-सामाजिक तब्दीलियों में जनसामान्य की सजग सहूलियत, संस्कृति के विचारधारा के रूप में सजग विकास, पूंजीवर्चस्वी सत्तावर्चस्वी राजनीति का जनराजनैतिकीकरण और सौंदर्य की श्रममूलक रचनात्मक अंतस्संरचनाओं के विकास-जैसी चीजों को गति-सक्रियता देने के लिए,आगे बढ़ने और बढ़ाने के लिए क्या किया जाये?

क्या इस मामले में मध्यकाल हमारी कुछ मदद करता है? खासतौर पर बौद्ध काल और भक्ति काल। ये दोनों मध्य एशिया के साथ हमारे व्यापारिक रिश्तों के अग्रविकास और शिल्पियों कलाकारों के उभार के साथ ताल्लुक रखने वाले महान समाज - सांस्कृतिक रूपांतर के प्रयास हैं। यहां हम जड़ रूढ़ियों, मान्यताओं, परंपराओं, कर्मकाण्डों और शास्त्रबद्ध ज्ञानरूपों का घोर खण्डन या विरोध पाते हैं। इनके विरोध में यहाँ आत्मचेतना, तर्कदृष्टि-विवेक, दैहिक ज़रूरतों का सहजता की कसौटी पर लालच-मोह-अहं-ईर्ष्या के त्याग और संतुलित जीवनचर्या जैसी चीजों को लाया जाता है। मेरा मानना है कि यही रास्ता आज भी हमारे लिए वास्तविक संघर्ष भूमि और विकास के द्वार खोलता है, परन्तु केवल तभी, जब हम इसकी गैरज़रूरी अंतर्मुखता, ईश्वरमूलक आदर्शीकरण और यथार्थविमुख आत्मलीनता से निजात पाने में समर्थ हो पाते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर देखने का प्रयास किया है कि मध्यकालीन देहासन जड़ता से जुड़ी आत्मलीनता या ईश्वरानुराग तत्कालीन समय या इतिहास के द्विभाजन का और वर्चस्वी सत्ता की मानवविरोधी राजनीति

का केवल व्यक्तिगत या आंतरिक विकल्प ही खोज पाने का नतीजा है। उसका सामाजिक-राजनैतिक धरातल पर विकास या अंतर्विकास होना अभी बाकी है।

और आज हम ऐसे ही हालात के रूबरू हैं, जहां हमें विकल्प भी तलाश में अपने मध्यकालीन इतिहास को 'जमीन' (समाज-राजनैतिक धरातल) पर ला खड़ा करने की जरूरत दरपेश है क्योंकि एक समग्र रूपांतर में केवल समाज-राजनैतिक रूपांतर से काम नहीं चलता, और उसे 'बाहर' से यानी 'वस्तुनिष्ठ समाजार्थिक रिश्तों की बुनियाद पर खड़ी सियासत' द्वारा लाये जाने से व्यक्ति और उसकी चेतना के स्वत: बदल जाने की परिकल्पना भी हमारी बहुत मदद नहीं करती – क्योंकि यह जो 'पूंजी' से जुड़ी और उससे निकली नयी दुनिया है, वह पूंजी के द्वारा बुनियादी रूप में व्यक्ति (या कहें कि व्यक्तिवादी) चेतना को निर्मित-विकसित करती है और कोई समाजार्थिक तब्दीली अब ऐसी नहीं हो सकती, जो 'पूंजी' के आधार को ही खारिज कर दे। अत: रास्ता क्या है? वह जो भी कोई या कुछ है, उसे 'पूंजी' और उससे जन्म लेने वाली 'चेतना' के स्वरूप को तो समझना ही होगा।

कार्ल मार्क्स ने आर्थिक-सामाजिक रिश्तों की बुनियाद का सवाल और उससे निकलती दिशा तो एकदम सही पकड़ी, परन्तु 'पूंजी' के स्वरूप और चरित्र की व्याख्या करने के संदर्भ में वे तत्कालीन गिरावट और उससे जन्म लेते अमानवीय रिश्तों के खिलाफ इतनी बेचैनी और नफरत से भरे थे कि उसके स्वरूप और चरित्र के नकारात्मक-पतनशील पहलुओं पर ही केंद्रित हो गये; वे हमें यह नहीं बता पाये कि पूंजीवाद के विरोध में खड़े होकर हम जिन नये आर्थिक-सामाजिक (समाजवादी) रिश्तों की परिकल्पना तक पहुंचते हैं, उसमें स्वयं 'पूंजी' की बुनियादी उपस्थिति बनी रहने के क्या नतीजे निकलते हैं?

भ्रम इसबात से पैदा होता है, जब हमें पूंजीवाद के विरोध का अर्थ 'पूंजी' का विरोध मान लेते हैं, या अगर मानते नहीं तो भी 'पूंजी' के भीतर से समाजवाद के जन्म लेने की संभावनाओं प्रक्रियाओं को, पूंजी की शब्दावली और उसकी दुनिया के भीतर से, विकसित होता नहीं दिखा पाते। हमारा ध्यान केवल पूंजी के नियंत्रण की सामर्थ्य की तब्दीली भर पर रहता है।

इस तरह हम जिस समाजवाद पर पहुंचते हैं, वह पूंजीवाद का ही एक अन्य रूप या रूपांतर मात्र सिद्ध होता है – उसका विकल्प नहीं। आगे बढ़ने से पहले इस बुनियादी भेद को समझना जरूरी होगा।

पूंजी संपत्ति के एक नये रूप की तरह आधुनिक काल में मनुष्य और उसके मूल्यवान पदार्थों के साथ रिश्तों को बड़े आधारभूत रूप से बदल देती है। चल अचल संपत्ति तथा उत्पादित चीजों के साथ मनुष्य के रिश्तों में पूंजी की सर्वस्पर्शी भूमिका इस कदर बढ़ जाती है कि वह जमीन और चीजों के साथ हमारे सहज, प्राकृतिक और पारंपरिक रिश्तों को बदल देती है। इस तरह मनुष्य के लिए जमीन, प्राकृतिक संसाधनों, उपलब्ध और उत्पादित चीजों का मूल्य अपने तौर पर, हमारे सहज संसर्ग पर निर्भर न हो कर, पूंजी के द्वारा तय होने लगता है। पूंजी मूल्यविधायिका के रूप में हमारी चेतना की नयी व्याख्या ही नहीं करती, एक तरह से उसकी पुनस्संरचना भी करती है। पूंजी प्रकृति से ज़्यादा अहम होने-दिखने लगती है और सामाजिक रूप से हमारी सुरक्षा-असुरक्षा की जामिन हो जाती है। पूंजी की संस्कृति का अर्थ हो जाता है – प्रकृति, मनुष्य और समाज का अपने तौर पर मूल्य-विरहित होना और पूंजी के साथ उनके रिश्तों के अर्थ में उनका मूल्यवान वस्तुओं के रूप में उत्पादित-पुनरुत्पादित या सृजित होना। पूंजी के नुक्तेनिगाह से हम, हमारी प्रकृति और हमारी तमाम चीज़ें एक संसाधन हैं, जिन्हें मूल्यवान होना पड़ता है। पूंजी मूल्य सृजन की प्रक्रिया, चेतना और संस्कृति का नाभिक हो गयी है। इसलिए पूंजी हमारे भीतर एक मिथ्या चेतना या मूल्याभासी व्यक्तित्व रखती है। वह हमारे भीतर वास्तविक मूल्य के अभाव में भी मूल्यवानता का भाव जगाती है। वह हमारे अनुभव और संवेदना जगत के खोखले होने पर भी हमारे भीतर एक खास तरह का अहं या

अस्मिता भाव पैदा करती है। इसीलिए आधुनिक दौर के आते ही मनुष्य अचानक व्यक्तिवादी चेतना की ओर बढ़ता नजर आने लगता है। वह पूंजी से पायी हुई स्वतंत्रता, समानता, मानवाधिकार, निजीपन, अहम्मन्यता या आत्मकेन्द्रिकता जैसी चीजों की दुहाई देता हुआ इनसे युक्त व्यक्तित्व को अपने भीतर निर्मित होता पाता है। तो, जिस तरह अचल संपत्ति पर मनुष्य के मालिकाना हक ने उसे परिवार और वंशावली-केन्द्रित सामंती-रिश्तों की दुनिया प्रदान की, उसी तरह पूंजी के रिश्तों ने मनुष्य को नितान्त अपने तौर पर अकेले भी जी सकने की सुविधा और मोहलत दे डाली।

पूंजी की भूमिका को समझना पूंजीवादी होने की स्थितियों से थोड़ा अलहदा है क्योंकि पूंजीवाद का मतलब है पूंजी से जुड़ी मुनाफाखोरी को ही इस हद तक अपना लेना कि शोषण, दमन और औपनिवेशीकरण तक के अमानवीय या मानवविरोधी व्यवहार भी 'पूंजी की नैतिकता' में शामिल करने का प्रयास होने लगे। निस्संदेह पूंजीवादी व्यवहार और चरित्र 'पूंजी की बुनियादी नैतिकता और चेतना' के विरोध में ही अर्थ पाते हैं। वे व्यक्तिवाद की पतनशील परिणतियों के सूचक हैं जबकि व्यक्तिवाद का बुनियादी ढा़ंचा मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता, प्रजातांत्रिक अधिकारों और वैज्ञानिक चेतना के द्वारा निर्मित होता है।

हमारे सामने सवाल यह है कि पूंजीवादी पतनशीलता के विविध रूपों - साम्राज्यवाद और नवसाम्राज्यवाद तक - के उबरने के लिए क्या हमें पूंजी-केन्द्रित समाज और चेतना का भी विकल्प खोजना होगा? और अगर ऐसा विकल्प संभव नहीं है तो पूंजी के बुनियादी ढांचे को हम कहां तक और किस रूप में स्वीकार कर के, किन दिशाओं में ले जाने का प्रयास कर सकते हैं?

पूंजी की भूमिका के बुनियादी परिवर्तन के बिना समाजवाद की ओर प्रयाण असंभव है।

* *

पूंजी के अर्थों में बुनियादी परिवर्तन पूंजी के फैलाव या उसके बाहरी नियंत्रण द्वारा नहीं, अपितु उसकी भीतरी दुनिया में प्रवेश द्वारा संभव होगा-जिसका मार्ग है -पूंजीमूलक उत्पादन द्वारा मूल्यवान बनायी गयी चीज़ों का उत्खनन। आज जबकि हमारे सारे खाली स्थान ऐसी उपभोक्तावादी चीजों के द्वारा भर और घेर दिये गये हैं, हमें इस उत्खनन के अविकसित सूत्र का अंतर्विकास करने का प्रयास करना होगा।

यहां पहला सवाल है - उत्खनन किसचीज़ को हासिल करने के लिए करना है? और दूसरा सवाल है कि कैसे?

पहले सवाल का जवाब है कि पूंजी चीज़ों को 'परायी' मूल्यवत्ता प्रदान कर जिस 'वास्तविक' मूल्यवत्ता का दमन करती है, उत्खनन का प्रयोजन उस की पुनरुपलब्धि है।

वाल्टर बेंजामिन ने चीज़ों की वास्तविक मूल्यवत्ता को चीज़ों के 'प्रभामण्डल' का नाम देकर पहचानने का प्रयास किया था। उन्हें लगा था कि चीज़ें अपने प्राकृतिक परिवेश में जिस तरह और जिस रूप में उपलब्ध होती हैं - वे उस परिवेश की वजह से और वहां के विशिष्ट मौलिक वजूद की वजह से एक तरह के प्रभामण्डल से युक्त हो जाती हैं। परन्तु पूंजीवादी यांत्रिक पुनरुत्पादन उन चीजों को उनके परिवेश से जुड़ा कर, उनकी विशिष्टता और मौलिकता को नष्ट कर डालता है। इस तरह पुनरुत्पादित चीजों का 'मूल्य' होने पर भी उनके पास 'प्रभामण्डल' नहीं होता; जबकि प्रभामण्डल से युक्त चीज़ें पूंजीपरक अर्थ में मूल्यवान होने पर भी प्राकृतिक विशिष्ट वुजूद के रूप में अमूल्य या गैर-मूल्यात्मक होती हैं।

अब यहां से और आगे बढ़ें - गहरे में उतरें। प्रभामण्डल क्या चीज़ हैं? वह मनुष्य और प्रकृति के परंपरागत रिश्तों की वजह से एक लम्बी कालावधि में पैदा हुआ 'चेतना' का 'चीज़ों' में वह स्थानांतरण है,

जो चेतना चीज़ों को इसलिए लौटाती है, क्योंकि उसने उसे उन्हीं से पाया होता है। यह एक तरह का द्वन्द्वात्मक रिश्ता या आदान-प्रदान है। हमारे लिए चीजें उस सूरत में प्रभामण्डल से युक्त होती हैं, जब वे हमारी चेतना को नये अर्थ में संरचित करने की वजह से, उन अर्थों का प्रतीक भी साथ-साथ हो जाती हैं। इस तरह चीजों का प्रतीकत्व, दरअसल हमारा चीज़ों के साथ रिश्तों का प्राकृतिक या परंपरागत इतिहास होता है। यहाँ हम इतिहास के वास्तविक अर्थों के रूबरू हैं। इतिहास मूलतः प्रकृति या चीजों के साथ हमारे रिश्तों की स्मृति या परंपरा का नाम है, उसके इसी क्रम में विविध चरण हैं - प्राकृतिक जीवंत इतिहास, स्मृतिमूलक इतिहास, परंपरागत इतिहास और आखिरी है प्रतीक - रूप या कर्मकाण्डीय इतिहास। प्रकृति अथवा चीजों के साथ हमारे इन इतिहास-आधारित रिश्तों को पूंजी उत्पादित अथवा यादृच्छिक इतिहास से रिश्तों में बदल देती है।

यानी पूंजी का चेतना या संस्कृति के तल पर जो मुख्य कार्य है, वह है - प्रकृति और चीजों के साथ हमारे रिश्तों को अर्थ देने वाले इतिहास को यादृच्छिक प्रतीक-व्यवस्था या संरचना में बदल देना। इसका अर्थ है - इतिहास के वास्तविक रूपों का दमन, स्थगन या विनाश करते हुए, मिथ्या या आरोपित इतिहास-रूपों को एक प्रतीक-मूल्य प्रदान करना। पूंजी सभी जगह यही करती है - वास्तविक मूल्य का स्थगन या दमन करके एक आरोपित, मिथ्या या प्रचलन-लायक मूल्य को प्रकृति, मनुष्य अथवा चीजों पर चस्पां करना।

परन्तु इसका अर्थ यह भी है कि पूंजी द्वारा दमित-स्थगित वास्तविक इतिहास, चेतना, समय, यथार्थ, ज्ञान आदि दरअसल दमित या स्थगित ही होते हैं, विनष्ट नहीं। और वे उत्पादित प्रकृति या चीजों के भीतर ही कहीं छिपे बैठे रहते हैं। वे केवल आरोपित मूल्यों, प्रचलनों, फैशनों के बीतने -रीतने का इंतजार करते हैं। अतः चीजों के उत्खनन के द्वारा इन वास्तविक मूल्यों को, इतिहास और चेतना को पुनरूपलब्ध करना संभव है।

तथापि यह होगा कैसे; इसके लिए हमें प्रतीकों, परंपराओं, स्मृति-संस्कारों और अपनी मूल प्रकृतियों के भीतर उतरने की जरूरत होगी। मिथ्या या आरोपित मूल्यों वाली जिन उपभोक्ता-वस्तुओं ने हमें घेर लिया है, उनकी जकड़बंदियों से छूटने के लिए हमें उन चीजों की जरूरतों की कसौटियों को वहां पीछे खड़ी लोक-परंपराओं, स्मृति-संस्कारों और अपनी मूल-प्रकृतियों में खोजना होगा। वास्तविक समाजेतिहास भी तलाश के लिये उसका रिश्ता लोक परंपराओं और स्मृति-संस्कार व्यवस्थाओं से पुनः तार्किक-वैज्ञानिक रूपों में जोड़ना होगा। असल और नकल के बीच चुनाव की चेतना को सांगठनिक संघर्षी रूपों तक ले जाना होगा। वर्तमान ही हमारी जमीन हो सकता है और इसलिए विवेक की रोशनी में हमारा असल और नकल के बीच फर्क करने वाला तत्वज्ञान परंपराओं व स्मृति-संस्कारों की भी पुनर्व्याख्या तो करेगा ही। मध्यकालीन क्रांतियां यहां हमारी मदद करेंगी--शास्त्रज्ञान के समानांतर सारे अकादमिक विमर्शों को रद्द और निरस्त करने के लिए और मध्यकाल से हम अलहदा इस अर्थ में होंगे कि अब चेतना हमारे लिए आत्मरति का नहीं, चीज़ों के भीतर दमित यथार्थ या इतिहास को खोज लेने का पर्याय हो जायेगी।

विनोद शाही जाने माने लेखक और विचारक हैं। जालंधर में अध्यापन करते हैं। हिन्दी की सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पाठकों को शीघ्र ही उनकी एक पुस्तिका उपलब्ध होगी। अपने समय को, भारत को, साहित्य को केन्द्र में रखकर भारतीय यथार्थवाद जैसी चिंतनधारा को विकसित करने वाली सामग्री उसमें होगी। बाद में उसे एक समग्र कृति के रूप में विचार विमर्श के लिये प्रकाशित किया जायेगा।

कविता से उपलब्धि

नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती
अनुवाद : सुशील गुप्ता

शराफत के साथ ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए चंद शर्तें पूरी करना ज़रूरी है। पेट भरने के लिए आहार चाहिये, तन ढंकने के लिए कपड़े चाहिये, सिर बचाने के लिए छादन चाहिये, इन्सान को साक्षर होना चाहिये, अपनी-अपनी योग्यता मुताबिक कमाई-रोजगार का जरिया होना चाहिए और जन्म लिया है, तो एक दिन मौत भी निश्चित है,यह तो सभी जानते हैं, लेकिन बिना इलाज के मर जाना, चूंकि अक़्लमंदी नहीं है, इसलिए रोग-बीमारी के दिनों में कमोबेश इलाज का भी इन्तज़ाम होना चाहिये।

यह तो है, हमारी न्यूनतम ज़रूरतों की फेहरिस्त! इसमें कविता-पाठ का मामला नहीं घुसेड़ा गया, क्योंकि यह हमारे जीवन-धारण की अनिवार्य शर्त नहीं है। इसे जीवन में शामिल करने की ख़ास वजह भी नहीं है, क्योंकि हम चाहे जितने भी बड़े कविता-प्रेमी क्यों न हों, यह आसान-सी बात क़बूल करना ही होगी कि कविता पढ़े बिना भी, मज़े-मज़े से ज़िन्दगी गुज़ारी जा सकती है।

यूं भी कविता न पढ़ने वाले इन्सान, हमारे समाज में हर ओर, हर जगह बिखरे पड़े हैं। हमारे इर्द-गिर्द ऐसे अनगिनत पड़ोसी, अनगिनत बंधु-बांधवं, अनगिनत नाते-रिश्तेदार मौजूद हैं, जो कविता नहीं पढ़ते। यह सिर्फ हमारे समाज में ही नहीं, बल्कि सभी देशों के सभी समाजों और जन-समूहों के लिए, बिल्कुल सच है। ये कविता के प्रति आसक्त नहीं हैं, इसलिए इन्सानी तौर पर बुरे हैं, यह सोचना बेतुका है।

यह सोच-सोचकर तो ख़ासा मज़ा आता है कि हमारे आस-पास फैले, इतने सारे लोग, जो कविता तो क्या, कविता की छाया तक के करीब नहीं फटकते, इन लोगों ने कविता कभी पढ़ी ही नहीं। कविताएं उन लोगों ने भी पढ़ी हैं। और कहीं भले न पढ़ी हों, छात्र जीवन में, अपनी पाठ्य-पुस्तकों की कविताएं पढ़ना तो मजबूरी थी। इसलिए कुछेक साल तक कविता से पीछा छुड़ाना, उनके भी वश की बात नहीं थी, यह अलग बात है कि किसी न किसी वजह से कविता उन लोगों को आकर्षित नहीं कर पायी, न ही उन लोगों का दिल जीत पायी। मुमकिन है, छात्र जीवन में कविता पढ़ने और रट्टा लगाने की मजबूरी ने उन लोगों के मन में बेरुखी भर दी या फिर उन लोगों का मानसिक गठन ही कविता के प्रतिकूल हो। मसलन सूर्योदय देखकर खुश होने या सूर्यास्त देखकर उदास होने की तीखी समझ या सौभाग्य के साथ कोई भी पैदा नहीं हुआ। ऐसा

मानसिक गठन, हर किसी का नहीं होता।

हाँ, दार्शनिक प्लेटो (पूर्व नाम - एरिस्टोक्लिस) के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। लेम्प्रायर की 'ए क्लासिकल डिक्शनरी' के पन्ने उलटें, तो हमें जानकारी मिलती है कि जो शख़्स अपने उत्तरवर्ती जीवन में, कविता का सबसे मशहूर विरोधी हो उठा था, शुरुआती ज़िन्दगी में, वह ख़ुद भी कवि था। पठन-पाठन के दौर में बीजगणित और कविता उनका विषय था और इसका सिर्फ अभ्यास करके ही उसने दम नहीं लिया, बल्कि खुद भी काफी कविताएं लिखीं, कई दुःखान्त नाटक भी लिखे। मगर बाद में वह बंदा पलट गया। आत्माभिव्यक्ति के लिए जिसने कविता को माध्यम चुना, वही बाद में कविता का परम विरोधी हो उठा। यहाँ तक कि उसने जिस आदर्श राष्ट्र की कल्पना की, उस 'रिपब्लिक' से कवि वर्ग को एकदम से निर्वासित कर दिया। उसकी नज़र में कवि वर्ग 'रिपब्लिक' में जगह पाने की गिनती में ही नहीं आये।

कविता के बारे में उन्हें निम्नलिखित शिकायतें थीं - (1) कविता सच नहीं बोलती। वह सच का अनुकरण नहीं, अनुकरण का भी अनुकरण मात्र है। (2) कविता को कहां इन्सान को अपनी हीन प्रवृत्तियों के दमन की सीख देनी चाहिये, इसके बजाय, वह उन प्रवृत्तियों को उकसा कर बढ़ावा देती है।

वैसे प्लेटो को सिर्फ कविता से ही यह शिकायत नहीं है। उसे तमाम कला-कर्म से यही शिकायत है। कुल मिलाकर, उसके कहने का अभिप्राय यही है कि कविता में जो कुछ कहा जाता है या अन्यान्य कलाओं में जो दिखाया-सुनाया जाता है, उसमें प्रत्येक के पीछे एक मौलिक धारणा मौजूद है और वह है, मूल सत्ता या मूल सत्य, कला-कर्म, जिसकी छाया की छाया या अनुकृति के अनुकरण के अलावा कुछ नहीं है।

अस्तु, कवियों की निगाह मूल सत्य पर निबद्ध नहीं है, वे लोग तो महज् उसकी प्रतिछाया या अनुकृति भर देखते हैं। उसके बाद, वे जो कुछ लिखते हैं, वह भी महज् उस अनुकृति का ही अनुकरण है। प्लेटो ने तो होमर को भी नहीं छोड़ा। उसने कहा - उन्होंने युद्ध-सम्बन्धी काव्य लिखा। लेकिन एक तो वह युद्ध नहीं, युद्ध की धारणा ही सच है, उस पर से वह युद्ध भी उन्होंने नहीं किया, उस बारे में सिर्फ कलम चलायी है। इसलिए वह रचना भी प्रतिछाया की प्रतिछाया के अलावा और कुछ नहीं। वह तो सच से पूरे तीन क़दम पीछे है।

कविता और अन्यान्य कला-कर्म के विरुद्ध प्लेटो के इस सवाल का जवाब दिया उनके शिष्य अरस्तू ने। गुरु-निन्दा महापाप होता है, इसलिए अरस्तू ने अपने 'काव्यतत्व' में प्लटो का नाम तो नहीं लिया, लेकिन प्लेटो ने जिसे सच की परछाईं कहा, अरस्तू ने उस वस्तुजगत को भी उसी स्तर का सच माना और परछाईं की परछाईं या अनुकृति का अनुकरण नहीं माना।

कविता में अनैतिक आचरण और संवाद होता है, और उन हीन प्रवृत्तियों का दमन करना चाहिए; कविता इन प्रवृत्तियों को उकसा देती है - अरस्तू ने इसे भी अस्वीकार कर दिया। उनका कहना था, किसी भी आचरण या उक्ति के बारे में विच्छिन्न तरीके से विचार नहीं करना चाहिये। यह ग़लत है : किसी भी आचरण का असली उद्देश्य क्या है? यह बात किसने, किससे और क्यों कही, इन सब पर भी सोच-विचार करना ज़रूरी है। साथ ही इनकी परख भी ज़रूरी है कि यह काम या यह उक्ति, किसी मंगल-कामना से की गयी है या नहीं। अरस्तू की राय है कि इसमें आचरण और उक्ति को विच्छिन्न तरीके से नहीं देखा जाना चाहिये, बल्कि इसे उद्देश्य और तात्पर्य से जोड़कर परखना चाहिये। इस नज़रिये से साहित्य-विचार का सांचा बदल जाता है।

प्रसंगवश यह भी उल्लेख कर दूं कि कविता के विरुद्ध, यह जो अनैतिकता का आरोप लगाया गया, आठवीं शताब्दी के भारतीय कवि, राजशेखर ने भी इसका खंडन किया। उन्होंने अपने 'काव्यमीमांसा' ग्रंथ

में कहा - 'जिसे अनैतिक, ग्राम्य दोषों से युक्त या अश्लील कहा जाता है, कविता में ऐसा उल्लेख या समीक्षा की गयी है, यह सच है, मगर उसका तात्पर्य निषेधमुखी, विधिमुखी हरगिज नहीं।'

बहरहाल, सवाल यह उठता है कि जिस लेखक ने कविता से अपने लेखन की शुरुआत की, बाद में, आत्माभिव्यक्ति के इस माध्यम से वे इस क़दर नाराज क्यों हो गये? इस माध्यम के खिलाफ शिकायतों की फेहरिस्त क्यों गिनाने लगे? कविता-रचना में वे सफल नहीं हो पाये, क्या इसीलिए वे इस माध्यम से विमुख हो गये? लेम्प्रायर के कोशग्रंथ में दर्ज़ उनकी जीवनी से शायद यही लगे। लेकिन असल में, सुकरात के संसर्ग में आने के बाद प्लेटो की विचार-बुद्धि और प्रखर हो उठी और जब उन्होंने तटस्थ भाव से अपनी कविताओं को जांचा-परखा, तो उन्हें समझ में आ गया कि पूर्ववर्ती अग्रज कवियों की रचना के मुक़ाबले, उनका लेखन कुछ भी नहीं है। प्लेटो यह बात बख़ूबी समझ गये कि कवि के रूप में वे नाकाम रहे हैं। जो रचना-समग्र कहीं से भी आकर्षक या तारीफ बटोरने के योग्य नहीं है, उन्होंने फौरन आग में झोंक दिया और उनका गुस्सा, कविता नामक माध्यम पर बरस पड़ा।

वैसे इस बात को सच मान लेने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन उनके समकालीन, अरस्तू ने और बाद में भी जिन समीक्षकों ने कविता के समर्थन में बहस जारी रखी, उनकी रचनाओं में लगभग अनिवार्य रूप से, गुरु-शिष्य के इस सवाल-जवाब की छाया ज़रूर पड़ी। यहां सोलहवीं और उन्नीसवीं शती में रचित, दो संदर्भ ग्रंथों का उल्लेख ज़रूरी हो आया है। एक पुस्तक है, 'ऐन एपॉलॉजी फॉर पोइट्री' और दूसरी, 'ए डिफेंस ऑफ पोइट्री।' पहली पुस्तक के लेखक हैं, सर फिलिप सिड्नी और दूसरी पुस्तक के लेखक हैं, कवि शेली। यह सच है कि इन दोनों संदर्भ ग्रंथों में प्लेटो के सिद्धान्त का विरोध किया गया है, लेकिन यह भी गौरतलब है कि दोनों ही लेखक, उस प्राज्ञ दार्शनिक की चिन्तन-प्रक्रिया और मानसिकता के प्रति परम श्रद्धाशील हैं। दर्शन और कविता के पारस्परिक विरोध को सिड्नी नहीं मानते, बल्कि उन्होंने तो यह तक कह डाला कि प्राचीनकाल के ग्रीक कवि दरअसल छद्मवेशी दार्शनिक थे। मसलन् थालेस, एम्पिडोक्लिस, पर्मेनाइडिस वगैरह। उस ज़माने में छद्मवेश ओढ़ना ज़रूरी था, क्योंकि यह हक़ीक़त वे लोग बख़ूबी जान गये थे कि कविता की शैली में बयान करके ही, वे लोग अपनी दार्शनिक उपलब्धियां, बड़ी आसानी से जन साधारण तक पहुंचा सकेंगे।

कवि शेली तो कवि और गद्य-लेखकों के बीच वैषम्य की दीवार उठाने को ही, भयंकर भूल मानते हैं। उन्होंने कहा - जो लोग, कवियों को अपनी कल्पना-जगत में जगह पाने के अयोग्य समझते हैं, उनकी अपनी ही भाषा में यह रूप, ऐश्वर्य और ध्वनिमयता बिखरी हुई है। सिड्नी और शेली, दोनों ने ही यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य-पाठ निरर्थक और क्षण भर में नष्ट होने वाला मामला नहीं है। लेकिन, हां, उपलब्धि के प्रसंग में सिड्नी ने जहां कविता में निहित दार्शनिक उपलब्धि पर ज़ोर दिया है, वहां शेली ने कहा - कविता ही दुनिया के गोपन सौन्दर्य का घूंघट हटाकर उससे हमारा परिचय कराती है और यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

यह सुनकर, हम चमत्कृत हो उठते हैं। हम यह सोच-सोचकर ताज्जुब में पड़ जाते हैं कि इस वसुन्धरा के सौन्दर्य में गुप्त तो कुछ भी नहीं है। सागर का नीला विस्तार, वन-अरण्य की श्यामलिमा, उत्तुंग पर्वतमालाओं का महत्व, कल-कल करती नदियों का तरंग-भंग, दिगन्तव्यापी शस्य-खेत और जनहीन, स्तब्ध प्रान्तर या हरी-भरी घास, लता, वृक्षराजि - इन सब पर किसी ने, कभी कोई घूंघट तो नहीं डाला। हम सब दुनिया के इस सौन्दर्य-समारोह को भर-भर आंखों देखते हैं और मुग्ध होते हैं। इन तमाम सौन्दर्य-उपलब्धियों के लिए हमें किसी कवि की मदद की दरकार नहीं होती। जाहिर है कि शेली की भाषा में कविता इस पृथ्वी के गुप्त सौन्दर्य का घूंघट हटाकर, हमें जानी-पहचानी वस्तुराशि को भी ऐसे ढंग से दिखा देती है

कि सारा कुछ हमारी ही आंखों को निहायत अचीन्हा लगता है। हमें लगता है कि इन चीज़ों का यह रूप, इससे पहले तो कभी नज़र नहीं आया।

हाँ, यह सच है! चलिये, दो मिसालें दूं! पहाड़, नदी और वन-प्रान्तरों के सौन्दर्य की उपलब्धि, कविता के बिना भी, आराम-आराम से हो जाती है और हम उस सौन्दर्य का भरपूर आनन्द लेते हैं। लेकिन जब हम रवीन्द्रनाथ की कविता पढ़ते हैं - 'ध्यान-गंभीर यह भूधर, नदी - जपमाला - धृत प्रान्तर' - हमारे जाने पहचाने नदी-पहाड़-वन-प्रान्तर, बिल्कुल और ही रूप धारण कर लेते हैं। जब तरू रवीन्द्रनाथ नहीं पढ़ते, प्रकृति के सौन्दर्य का एक निराला पक्ष, हमारी नज़रों से ओझल ही रहता है। दरअसल, रवीन्द्रनाथ के 'ध्यान-गंभीर' विशेषण की वजह से ही, पहाड़ों का अनन्य रूप, सन्यासी रूप, हमारी आंखों में खिल उठता है। 'नदी-जयमाला-धृत' विशेषण के माध्यम से, जब हम नदी-प्रान्तर का रूप देखते हैं और हमारी निगाह में उस परिचित सौन्दर्य का समूचा चेहरा ही पलट जाताहै। ये तमाम उपलब्धियां कविता के माध्यम से होती हैं। अगर कविता न हो, तो सौन्दर्य का यह रूपान्तर कतई संभव नहीं होता।

एक और मिसाल दूं: पहाड़ से उतरते हुए झरने की जलधार! वह धारा कहां आकर गिर रही है? नीचे एक भारी-भरकम काली चट्टान पर! बेहद ख़ूबसूरत मंज़र है। हमारी तरह, बहुतेरे लोगों ने यह ख़ूबसूरत दृश्य देखा होगा और मुग्ध भी हुए होंगे। यही स्वाभाविक भी है। इसके लिए कविता पढ़ने की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन, हक़ीक़त क्या यही है? हम अगर कविता न पढ़ें तो इसमें जो खूबसूरती छिपी हुई है, वह भला कैसे देख पायेंगे? वह जड़-पत्थर, चट्टान, महज् पत्थर का टुकड़ा भर ही रह जायेगी। उसमें जीवन्त का स्पर्धा नहीं होगा। यह स्पर्श एकमात्र कवि के द्वारा ही संभव है। संस्कृत काव्य में ऐसा स्पर्श, सहज ही उपलब्ध होता है। हम जहां पथरीली चट्टान भर देखते हैं, वहां कवि कहता है कि श्यामवर्ण एक हस्तिशावक, झरने की जलधार तले मानो नहा रहा हो। निष्प्राण प्रस्तर खंड का यह प्राणमय रूप, कवि ने अपनी कल्पना की निगाह से देख लिया। हम कवि नहीं हैं, हमारी कल्पना शक्ति भी, कवियों जैसी प्रखर नहीं होती, लेकिन चूंकि हम सब कविता के पाठक हैं, इसीलिए, कवि के साथ-साथ हमें भी सौन्दर्य के इस रूपान्तर के दर्शन हो जाते हैं।

चलिये, एक और मिसाल दूं। कवि का लक्ष्य है किन वन-पथ का बयान करना। बरसात के दिनों में उस पथ का थोड़ा हिस्सा पानी में डूबा हुआ है। उस राह के दोनों सिरे नज़र आ रहे हैं, सिर्फ वह डूबा हुआ हिस्सा नज़रों से ओझल है। कवि बयान करता है - वह पथ मानो दौड़ते-दौड़ते, वहां पहुंचकर मानो लमहे भर के लिए ठिठक गया है. अगले ही पल, पानी में डूबी उस जगह पर डुबकी लगाकर, तैरते हुए दूसरे छोर पर पहुंच जाता है और सूखी डोंगी में सवार होते ही, मानो दुबारा दौड़ पड़ा है - यह सुनकर हम सब चकरा जाते हैं। हम तो पथ को निरा निर्जीव, जड़ मानते हैं, जिस पर से होकर इन्सान,गाय-बछड़े, गाड़ी-थोड़े आते-जाते हैं। रास्ता खुद तो निश्चल पड़ा रहता है, लेकिन कवि की आंखों में वह सचल है। कवि की नज़रों में वह दौड़ता है, यहां तक कि डुबकी लगाकर, तैर भी सकता है। कवि ने उसका वह जीवन्त रूप देखा और हम सबको भी दिखा दिया। अगर हम कवि की आंखों के साथ-साथ अपनी भी आंखें उस सड़क पर न टिका देते, तो यह प्राणमय सौन्दर्य देख ही नहीं पाते।

जब हम कवि की निगाहों से धरती की ख़ूबसूरती निरखते हैं, तभी हम जाने-पहचाने सौन्दर्य को कविता के माध्यम से नये-नये रूपों में खिलते-झलकते हुए देखते हैं। कविता पढ़ने की यही परम उपलब्धि है।

वैसे कविता पढ़ने की और भी कई उपलब्धियां हैं। मुझे उन सभी उपलब्धियों की जानकारी नहीं है। जितना थोड़ा-सा जानता हूँ, वह भी पूरी तरह बयान करने की योग्यता, शायद मुझमें नहीं है। हां, जिन

उपलब्धियों के बारे में हम सब एकमत हो सकते हैं, ऐसी तीन उपलब्धियों का ज़िक्र ज़रूर करना चाहूँगा - (1) कविता हमारे आनन्द का समर्थन करती है (2) कविता हमारे शोक में, हमें सांत्वना देती है। (3) कविता संकट के समय हमें साहस और हौसला देती है।

आनन्द का समर्थन, शोक में सांत्वना और संकट में साहस - इन्सान की ज़िन्दगी में ये तीन उपलब्धियां ही सर्वोपरि हैं, बेहद अहम् हैं। हम सभी लोग, जो कविता पढ़ते हैं, उनमें से हर किसी को, जीवन में कभी न कभी, इन उपलब्धियों का अहसास बार-बार अनगिनत बार हुआ होगा। यह भी संभव है कि जिन लोगों को ऐसी उपलब्धि हुई हो, उन्होंने इसे कविता-पाठ से जोड़कर न देखा हो। ज़ाहिर है कि उनके दिल में थोड़ा-बहुत सन्देह भी बच रहा हो। उनके संशय मिटाने के लिए, मैं चंद उदाहरण पेश करता हूं।

हमारी पहली उपलब्धि है, हमारे आनन्द का समर्थन! फर्ज़ करें, गर्मी का मौसम है। अलसुबह आपकी नींद खुलती है और आप बिस्तर छोड़कर, बरामदे में आ खड़े होते हैं। आप देखते हैं, आंगन की घास ओस में नहायी हुई है, सामने के पेड़ की पत्तियों से बूंद-बूंद पानी टपक रहा है। हवा में खुनक ठंडक है, लेकिन आकाश जगमगाता नीलाभ है। बस, उस आकाश के एक कोने पर बादल का एक टुकड़ा लटका हुआ है, यह दृश्य देखकर,आप समझ जाते हैं कि आसमान चाहे जितना भी साफ दिख रहा हो, लेकिन रात को एक दौर बारिश ज़रूर होगी। आपके होठों पर किसी गीत की कड़ी गूंज उठती है। ऐसा क्यों हुआ, आपने कभी नहीं सोचा। अगर सोचते, तो आप समझ जाते कि इन दोनों बातों में कोई योगसूत्र है। सुबह-सुबह नींद से जागकर, आप बरामदे में आ खड़े हुए और निसर्ग प्रकृति पर नज़रें जमाये, आपके दिल में जो आनन्द संचरित हुआ, रवीन्द्रनाथ की कविता भी उस कड़ी में, उसी का समर्थन है।

कविता हमें दु:ख शोक में सांत्वना देती है, यह दावा भी कहीं से झूठ नहीं है। अपने दु:ख के पलों में कविता से जो सांत्वना मिलती है, वह नाते रिश्तेदारों की तसल्ली, दोस्तों की हमदर्दी से कतई नहीं मिलती। अपने एक दोस्त की याद आ रही है। किसी मर्मान्तक विच्छेद की वजह से वे शोक से बिल्कुल अधमरे हो उठे। उन्हें अपने जीने की ही कोई वजह समझ में नहीं आ रही थी। ऐसे में कविता पढ़कर ही, उसने तसल्ली महसूस की और अपने दैनिक कामकाज में दुबारा थिर हो सका। वह भी रवीन्द्रनाथ की ही कविता थी -

आकाश फिर भी लगता नीला
मधुर लगे भोर का उजाला।
मौत आ पहुंची, औचक मैंने लिया तोल
मृत्यु से जीवन, कहीं अनमोल
जिसकी खातिर, आंखें मूंदे,
मैंने बहाया, अश्रु-समन्दर,
अब देखा, बिन आंसू भी,
विश्वभुवन है कितना सुन्दर!

यही सच है! शोक का भार ढोते-ढोते, जब ज़िन्दगी दु:सह हो आती है, हम विश्व-संसार से मुंह फेर लेते हैं, तब भी इस वसुन्धरा के सौन्दर्य-समारोह में बूंद भर भी कमी नहीं आती। ज़िन्दगी तब भी हमें आकर्षित करती रहती है। रवीन्द्रनाथ को अपने शोक में, कविता पढ़कर ही तसल्ली मिली। उन दिनों भी जीवन हमें आकर्षित करता रहता है।

रवीन्द्रनाथ ने भी अपने शोक में इसी उपलब्धि से राहत महसूस की थी कि दरअसल, कहीं, कुछ भी

गुम नहीं होता। 'समस्त में, समस्त रह जाता है।' इस मामले में हम भी अपने शोक के लमहों में उनकी कविता से ही तसल्ली महसूस करते हैं। हाँ, यह सच है कि कविता जैसे हमारे आनन्द का समर्थन करती है, वैसे ही दु:ख-शोक में सांत्वना भी देती है।

रही संकट में साहस देने की बात। यह तो सभी जानते हैं कि कविता आफ़त-विपदा में भरपूर हौसला देती है। इसकी सैंकड़ों मिसालें हैं। इस संदर्भ में, मैं एक मुक्तियोद्धा का ज़िक्र करना चाहूँगा। हमारी आज़ादी की जंग में, एक शख़्स ने अपनी जवानी की उम्र में, सक्रिय भाग लिया और कई सालों तक जेल की सज़ा भी झेली। कई महीनों के लिए 'सॉलिटरी कन्फाइनमेंट' यानी निर्जन कारावास की सज़ा भी काटी। आम सज़ा के दिनों, जेल के अन्यान्य साथियों से भेंट भी हो जाती थी, बातचीत भी हो जाती थी, लेकिन निर्जन कारावास के दिनों में इसका भी उपाय नहीं रहा। वहां न उन्हें अख़बार मिलता था, न ख़त वगैरह! बाहर की दुनिया से उनके सारे सम्पर्क तोड़ दिये गये। बाहर की दुनिया कीी उन्हें कोई ख़बर नहीं मिलती थी। अब वे अस्सी की उम्र में पहुंच चुके हैं। जब वे रिहा हुए, मैं उनसे मिलने गया। बातचीत के दौरान उनके जेल के दिनों का जिक्र छिड़ गया।

मैंने उनसे जानना चाहा कि जेल में जब वे सज़ा काट रहे थे, तब क्या कभी एक पल के लिए भी, हताश-निराश हुए थे?

पल भर की चुप्पी के बाद, उन्होंने बेहिचक, सीधे-सीधे जवाब दिया, 'सच बात छिपाना महा पाप है। हाँ, मेरा मन टूटा जरूर था। लेकिन यह मन:स्थिति ज़्यादा दिनों तक नहीं रही। बस, चंद दिनों के लिए मैं बेतरह टूट गया था।'

'कब?'

'जब मुझे बिल्कुल अकेला कर दिया गया'। 'निर्जन कारावास' के दिनों में अपने साथियों से संवाद तो दूर, उनके चेहरे तक देखना नसीब नहीं होता था। बस, दीवार पर रेंगती एक जोड़ी छिपकिली पर निगाहें गड़ाये, चुपचाप बैठा रहता था। किसी जीवन्त प्राणी से कोई सम्पर्क नहीं रहा। कुछेक दिन, इसी मन:स्थिति में दिन गुज़ारने के बाद, धीरे-धीरे अजीब तरह की निराशा मुझे निगलने लगी। मुझे यह ख़्याल आने लगा कि आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेकर, हज़ारों-हज़ार लोगों का खून-पसीना बहाकर, आखिर क्या हुआ? कुछ भी नहीं हुआ, न होगा। वह अजीब वक्त था। मैं मन ही मन बेतरह टूटने लगा था।

'उस निराशा से आप उबरे कैसे?'

वे हंस पड़े।

'सिर्फ एक कविता पढ़कर!'

रवीन्द्रनाथ की कविता – 'दु:समय'! वह कविता मुझे जैसे रट गयी। मैं मन ही मन अक्सर वह कविता दुहराता था। 'दु:समय' कविता ने ही चरम दु:ख के दिनों में मुझे बचा लिया। उस कविता ने ही मेरी रक्षा की। मेरी निराशा मिटाकर, उस कविता ने मेरे पांव मज़बूत किये और मुझे उठाकर खड़ा कर दिया।

उनकी बातों पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। आशावादी कविताएं ही निराशा मिटाने की प्रेरणा देती हैं। बचपन से मुझे यही बताया गया था। लेकिन 'दु:समय' कविता को आशावादी कैसे कहा जाये? उस कविता में तो आशावाद का कोई स्वर नहीं है, बल्कि बार-बार प्रबल नेतिवाद ही झलक उठता है। उड़ान भरने को तैयार पंछी से उन्होंने यह अनुरोध तो किया कि वह अपने पंख हरगिज न समेटे, लेकिन उसमें आशा के स्वर नहीं भरते। अंत में वे कहते हैं – 'ओ रे, अब नहीं कोई आशा। आशा तो महज् छलना है।' उन्होंने कहा –

अब न आशा है, न भाषा, न घर-द्वार कुछ भी नहीं रहा। लेकिन फिर भी, उड़ना तो होगा! पंख समेटना, नहीं चलेगा!

लेकिन यह भी सच है कि जहां इतना कुछ नहीं-नहीं है, उसी कविता ने, एक मुक्तियोद्धा की निराशा मेटकर, उसे साहस दिया, हौसला दिया। कविता एकाध नहीं, अनेक लोगों के लिए हिम्मत और ताकत जुटाती है। कैसे जुटाती है, जरा सोचें, तो हम बख़ूबी जान जाते हैं। इतने सारे 'नहीं नहीं' के बावजूद, इस कविता में आस्थावादी स्वर भी है। 'सिर्फ पंख हैं तुम्हारे पास!' यह कहकर, कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि उस पंछी की भूमिका क्या है। कवि ने पंछी को याद दिलाया कि उसके पास जब पंख मौजूद हैं, तब उसे उड़ान भरना ही होगा। पंख समेटे बिना, लगातार उड़ते रहने में ही उसके अस्तित्व की सार्थकता है।

उस मुक्तियोद्धा ने भी इस कविता का मर्म समझा था। उन्हें अपने जीवन की भी भूमिका समझ में आ गयी कि उनकी जंग का कोई सही और सुखद नतीजा निकलेगा या नहीं, इस सोच में वक्त न बर्बाद करके, जंग में पैर जमाकर खड़े रहने में ही उनके अस्तित्व की सार्थकता है। इस उपलब्धि ने उनकी निराशा का अवसान कर दिया और एक बार फिर पूरी हिम्मत और ताकत के साथ उठ खड़े होने में मदद की।

यहां मैंने कविता के माध्यम से आनन्द में समर्थन, शोक में सांत्वना और संकट में साहस पाने का उल्लेख किया है। वैसे हाथ बढ़ा दिया जाये, तो काफी कुछ और भी उपलब्धियां हो सकती हैं, लेकिन, सवाल यह है कि उस ढंग से कविता की ओर, आखिर कितने लोग हाथ बढ़ाते हैं? सच तो यह है कि कविता देने के लिए सदा-तैयार बैठी है, हम ही लेना नहीं जानते।

* *

नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती की बांग्ला और भारतीय कविता में शीर्ष उपस्थिति हैं। वे कविता पर बिलकुल सहज शैली में विचार करते हैं। मौलिक और मर्मभेदी मीमांसा करते हैं। पहल सम्मान, कोलकाता में समारोह के प्रमुख अतिथि थे। हिन्दी में इस लेख को तत्परता के साथ सुशील गुप्ता ने उपलब्ध कराया जो स्वयं कवि और अनुवादक हैं। तसलीमा नसरीन की अनेक प्रमुख कृतियों की वे अनुवादक हैं।

बाज़ार में हिन्दी और हिन्दी का बाज़ार

जितेन्द्र भाटिया

उत्पल दत्त जैसे जानकार अंग्रेजीदाओं के प्रशिक्षण तले कलकत्ता से आठवीं कक्षा की परीक्षा अंग्रेजी माध्यम में पास कर चुकने के बाद जब मेरे लिए राजस्थान के सर्वथा अजनबी परिवेश में हायर सैकेंड्री की परीक्षा हिंदी माध्यम से देने की नौबत आयी तो लगा कि ऊँट आखिरकार पहाड़ के नीचे आ गया है।लेकिन उन दिनों एक कलकतिया लड़के के लिए चुंबकत्व का पाठ हिंदी में पढ़ने में आने वाली दिक्कतों को समझने वाला कोई दूर दराज़ तक मौजूद नहीं था। अलबत्ता मेरी कमजोर हिंदी पर टिप्पणी करने वालों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी कि 'देखना, हिंदी की वजह से तुम्हारी सारी परसेंटेज खराब हो जाएगी!' बहरहाल, गर्मी की छुट्टियों के दौरान दर्जनों के हिसाब से कृश्न चंदर से लेकर प्रभाकर माचवे तक के हिंदी उपन्यास-कहानी संग्रह पढ़ चुकने के बाद न सिर्फ मेरी हिंदी पटरी पर आती लगी, बल्कि 'तिर्यक रेखा' और 'लोलक' जैसी दुरूह शब्दावली की तह तक पहुँचने का सलीका भी धीरे-धीरे मुझे मिलता गया। हायर सैकेंड्री की फाइनल परीक्षा में भले ही मुझे हिंदी में अपने दूसरे विषयों के मुकाबले सबसे कम अंक मिले हों, लेकिन हिंदी माध्यम से भौतिक शास्त्र और रसायन की परीक्षाओं में अच्छे अंक लाने और इसी के समानांतर अंग्रेजी में दी गयी आई टी की प्रवेश परीक्षा में सफल होने में भी मुझे कोई कठिनाई पेश नहीं आयी। उस वक्त मैंने पाया था कि हिंदी में विज्ञान के तथाकथित कठिन विषयों को पढ़ना और समझना अंग्रेजी के मुकाबले कहीं अधिक सहज और आसान है क्योंकि बोलचाल की भाषा में किसी विषय को पढ़ते हुए दुरूहता का अहसास कतई नहीं होता। लेकिन पिछले चालीस बरसों में वक्त काफी बदल चुका है। कहा जाता है कि हिंदी अब दुनिया के अस्सी करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती है और इस हिसाब से यह दुनिया की पहली तीन सबसे बड़ी भाषाओं की गिनती में आ चुकी है। बल्कि बहुत से लोग इसे अंग्रेजी के बाद दूसरा स्थान भी दे रहे हैं। लेकिन हिंदी की यह तथाकथित विशालता कितनी सीमित और धोखादेह है, यह हम सब अच्छी तरह जानते हैं। हिंदी माध्यम से विज्ञान पढ़ने का चलन इन दिनों सिर्फ हिंदी भाषी प्रदेशों के कस्बों और गांवों तक ही सिमटकर रह गया है और महानगरों को तो जाने दें, देश के सबसे फिसड्डी शहर का विद्यार्थी भी आजकल हिंदी माध्यम से विज्ञान पढ़ना अपनी शान के खिलाफ समझने लगा है (बल्कि गली-गली में अंग्रेजीदां साइंस टीचर और ट्यूटर इन दिनों अच्छा-खासा पैसा बना रहे हैं और सुनते हैं कि कोटा जैसी छोटी जगह में तो आई आई टी की 'कोचिंग क्लासेज' ने पूरे शहर का नक्शा ही बदल डाला है)। एक

जमाना था जब सरकारी नौकरियों और दूसरी कारोबारी संभावनाओं के चलते केरल और कर्नाटक के बहुत से अहिंदीभाषियों ने हिंदी सीखने का बीड़ा उठाया था। आज सरकारी उद्यमों में हिंदी की खानापूरी के नाम पर इस भाषा के साथ जितना दुर्व्यवहार हो रहा है, और हिंदी साहित्य का सम्मानजनक अध्ययन जिस तरह विदेशी विश्वविद्यालयों के 'ओरियंटल लैंग्वेज' विभागों तक सीमित होकर रह गया है, उसे देखते हुए दुर्लभ वन्य पशुओं की 'एनडेंजर्ड स्पीशीज़' वाली जमात में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं को शामिल करने की सिफारिश करना उचित लगता है।

लेकिन वैश्वीकरण के तथाकथित दबावों तले भाषा की इन सारी तमाम बदकारियों से आगे हिंदी के लिए सबसे बड़ा खतरा इन दिनों अपने ही परिवेश और मीडिया की उस अंग्रेजीपरस्त जमात से दिखाई दे रहा है जो कभी दुरूहता और कभी बाजार की मांग की दुहाई देकर इन दिनों हिंदी को अंग्रेजी की बैसाखियों पर टिकी एक संस्कृतिविहीन बेजान भाषा में तब्दील कर डालने की साजिश रच रही हैं। कहते हैं कि भाषा को मारना इतना आसान नहीं होता। लेकिन बाजारवाद के ये नुमाइंदे अपने व्यापारिक बुद्धि के इस्तेमाल से इन दिनों असंभव को भी संभव बनाने का सपना देखने लगे हैं। बेगम अख्तर द्वारा गायी गई शकील की एक ग़ज़ल का शेर है-

मेरा अज़्म इतना बुलंद है कि पराए शोलों का डर नहीं ।
मुझे खौफ़ आतिश-ए-गुल से है, ये कहीं चमन को जला न दे

हम भाषा और बोली में शुद्धता के कायल नहीं हैं, लेकिन जबान जब संस्कृति में विलग हो जाती है तो उसे सिर्फ शब्दों का एक संवेदनाविहीन ढेर ही कहा जा सकता है। बाजारवार के ये चितेरे सिर्फ भाषा ही नहीं बल्कि हमारे समूचे सांस्कृतिक संवाद को इसी तरह के बेजान मलबे में बदलने की कोशिश कर रहे हैं।

देखा जाए तो दुनिया के अस्सी करोड़ लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा हिंदी के संदर्भ में इस तरह के खतरे की बात करना कुछ अटपटा लग सकता है, खास तौर पर उस समय, जब कि एक ओर दुनिया के दूर दराज के कोनों में हिंदी को लेकर तथाकथित विश्वस्तरीय आयोजन हो रहे हों, दूसरी तरफ देश के भीतर दुनिया भर की बहुराष्ट्रीय उपभोक्ता कंपनियां वैश्वीकरण की आंधी में इसके वर्चस्व को अपने विज्ञापनों के जरिए भुनाने में एड़ी चोटी का ज़ोर लगा रही हों और तीसरे कोण पर इसके अस्तित्व का सबसे मुखर संवाहक-सिनेमा, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी एक अभूतपूर्व पुख्ता व्यावसायिक पहचान बनते देख रहा हो। लेकिन यदि हम मानते हैं कि किसी प्रदेश की भाषा महज शब्दों का जमावड़ा नहीं, बल्कि उस धरती की सांस्कृतिक अस्मिता का एक अहम हिस्सा होती है, तो वैश्वीकरण के वर्तमान एकतरफा अंधे रुझान की पृष्ठभूमि में हमारे लिए हिंदी ही नहीं, इस देश की तमाम प्रादेशिक भाषाओं पर मंडराते संकट का अंदाज लगा पाना अपेक्षाकृत आसान होगा।

किसी भी देश और काल में भाषा के व्यावसायिक आग्रह महत्वपूर्ण होते हैं। इन आग्रहों के निर्वाह से ही भाषा फलती-फूलती और पनपती है। लेकिन मीडिया के कई महकमों में इन दिनों सतही फैलाव और व्यावसायिक 'व्यापकता' के नाम पर जिस तरह का खिलवाड़ भाषा के साथ हो रहा है, और जिस रफ्तार से उसके इस तथाकथित व्यापक फैलाव में रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए 'स्पेस' लगातार कम हो रही है, उसे देखते हुए भाषा के संदर्भ में 'क्राइसिस ऑफ क्रिएटिविटी' की बात करना बेजा नहीं होगा। दिक्कत भाषा के बाजारीकरण से हरगिज नहीं है क्योंकि बाजार में उतरे बगैर कोई भी भाषा समृद्ध नहीं हो सकती। संकट उस शॉर्ट कट वाली सतही अंग्रेजीदां प्रवृत्ति से है जिसके अंतर्गत मीडिया से जुड़ा एक पूरा का पूरा व्यावसायिक तबका इन दिनों वैश्वीकरण की आड़ में भाषा की समूची सांस्कृतिक संलग्नता और विविधता को जड़ से

उखाड़कर उसकी जगह एक बेजान, यांत्रिक जबान फिट करने की भयानक साजिश में जुटा है। दुखद यह भी है कि भाषा के साथ इस घोर दुर्व्यवहार में इन दिनों प्रादेशिक भाषाओं के कई हिंदी समाचार पत्र भी शामिल हो गए हैं। और इनके अगुआ/मार्गदर्शक हैं अंग्रेजी लेखक और देश में बहुराष्ट्रीय मानसिकता के सबसे शातिर प्रवक्ता गुरुचरण दास, जो लेखक होने के साथ साथ दुनिया की अग्रणी उपभोक्ता कंपनी प्रॉक्टर गैंबल इंडियाके अध्यक्ष भी रह चुके हैं। अंग्रेजी शब्दों को हिंदी की क्रियाओं के जरिए जोड़कर लिखी जाने वाली इस बेगैरत और यांत्रिक भाषा को वे बेशक 'हिंगलिश' की अनूठी संज्ञा देते हों, लेकिन इस तथाकथित नयी जबान के प्रयोग के छोटे अक्षरों या कि 'फाइन प्रिंट' में देशी भाषाओं की सांस्कृतिक पहचान के आमूल सफाए का मुकम्मल मसौदा भी अनिवार्य रूप से शामिल है। यह ज़बान विश्वविजय के अश्वमेघ यज्ञ पर निकले प्रॉक्टर गैंबल जैसे आकाओं और कोला दैत्यों के 'ये दिल मांगे मोर' छाप विज्ञापनों को घर-घर तक पहुंचाने में तो कामयाब हो सकती है, लेकिन इसके जरिए 'राग दरबारी' के लंगड़ या 'तीसरी कसम' के गंवई हीरामन की व्यथा को व्यक्त कर पाना या गुरूदत्त के विजय की तरह साहिर के मुखड़ों के साथ प्रेक्षागृह के दरवाजे पर ईसा मसीह की तरह बांहें फैलाना सर्वथा असंभव होगा। इस अपसंस्कृत भाषा को इन दिनों आप शहरों-कस्बों के गली-कूचों में, मोबाइल फोनों और उपभोक्ता वस्तुओं की विशालकाय होर्डिंग्स से लेकर स्थानीय समाचार पत्रों में प्रकाशित फुटकर खबरों और टी वी की कुछ चैनेलों पर सुबह शाम प्रसारित होने वाले अंग्रेजीदां फिल्मी सितारों के तथाकथित हिंदी साक्षात्कारों में प्रयुक्त होने वाली भाषा तक कहीं भी देख सकते हैं। हिंदी लेखक प्रभु जोशी अपने शहर के अखबार में प्रकाशित होने वाली इस भाषा का एक सटीक उदाहरण यूं पेश करते हैं :

मार्निंग आवर्स के ट्रैफिक को देखते हुए डिस्ट्रिक्ट ऐडमिनिस्ट्रेशन ने जो ट्रैफिक रूल्स को इंप्लिमेंट करने के एफर्ट्स लिए हैं, वे रोड को प्रोन टु ऐक्सिडेंट बना रहे है क्योंकि सारे वेहिकल्स लेफ्ट टर्न लेकर युनिवर्सिटी की रोड को ब्लॉक कर देते है। इस प्रॉब्लम का इमीडिएट सॉल्यूशन मस्ट है।

हिंदी के शब्दों को रोमन लिपि में प्रस्तुत करने की आदत इसी बीमारी का दूसरा हिस्सा है। इस पर चुटकी लेते हुए कवि राजेश जोशी कहते हैं, ''जरा 'हवाबाण हर्डे' को रोमन लिपि में लिखकर बताइए तो जानें!''

लेकिन मजाक से अलग, अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को हिंदी क्रियाओं से जोड़कर इस्तेमाल में लायी जाने वाली भाषा के प्रवक्ताओं का गंभीर अभिमत है कि हिंदुस्तानी हाथों से पकी अंग्रेजी शब्दों की यह तथाकथित खिचड़ी ही आने वाले उपभोक्ता समाज में मानक भाषा का पर्याय होने जा रही है। ऐसा सोचने के पीछे उनके अपने निहित स्वार्थ हैं। वे चाहते हैं कि आने वाले दिनों में हिंदी सहित 'वर्नाकुलर' भाषाओं को पढ़ने और समझने का झंझट ही जड़ से समाप्त हो जाए। गौरतलब यह है कि इस मुहिम में इन दिनों बाजारवाद के प्रवक्ताओं के साथ-साथ बिके हुए बुद्धिजीवियों, संपादकों और मीडिया बैरनों की एक पूरी जमात भी शामिल हो गयी है। कुछ और हैं, जो अपनी अवसरवादी खामोशी से इस अभियान को मूक समर्थन दे रहे हैं। अभी हाल तक प्रधान संपादक कमलेश्वर की देखरेख में छपने वाली बहु-संस्करणीय हिंदी 'दैनिक भास्कर' में पिछले दिनों 'आम और खास लोगों की भाषा बनती हिंगलिश' शीर्षक से इस मुद्दे का मसौदा तय करने वाली एक संपादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। इसी का यह हिस्सा मुलाहिजा फरमाइए:

''यह जानना पीड़ादायक है कि भारतीयों को भाषाई स्तालिनवादियों द्वारा बोगस दलीलें देकर रोका जा रहा है।... दो भाषाओं का फैशनेबल मिलन हो रहा है जिसे हिंग्लिश कहा जाता है और यह पूरे भारत में गली-कूचों की भाषा बन गयी है। अंग्रेजी निम्न और मध्यवर्ग की आकांक्षाओं, सपनों की भाषा है। इसके

साथ यह उच्च वर्ग के ड्राइंग रूम की फैशनेबल भाषा भी है। हिंग्लिश बॉलीवुड, एफ एम रेडियो और विज्ञापनों की स्टाइलिश भाषा है। खाश तौर से विज्ञापनदाता 'लाइफ हो तो ऐसी!' 'जोश मशीन' और 'ये दिल मांगे मोर' जैसे जुमलों को मिली सफलता से आश्चर्यचकित हैं। रेडियो मिर्ची के 'लड़की को मारी लाइन, गर्लफ्रेंड बोली आई एम फाइन' जैसे गानों को भी पसंद किया गया। विज्ञापन, क्रिकेट सहित हमारा व्यापक कल्चर अंग्रेजी को बाजार की तरफ मोड़ रहा है। वामपंथियों और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के असुरक्षित दिमागों को छोड़कर कोई भी इसे अमेरिकनों या अंग्रेजों का वर्चस्व नहीं मानता है। हर भारतीय मां समझती है कि उसके बच्चे के भविष्य और रोजगार का पासपोर्ट अंग्रेजी है। यह हमें मध्यवर्ग में जगह दिलाएगी... हिंग्लिश के रूप में संभवतः हमने एक ऐसी भाषा पायी है जो दक्षिण से उत्तर भारत तक आम और खास आदमी की भाषा है। निम्न मध्यम वर्ग के लिए हिंग्लिश ऐसी चीज है जिसमें स्थानीय भाषा के साथ अंग्रेजी के कुछ शब्द मिले हैं। हिंग्लिश की समानता उर्दू से की जा सकती है। मुस्लिम राज का अंत होने के बाद उर्दू उपमहाद्वीप की स्वाभाविक भाषा बन गयी। मुस्लिम शासकों की भाषा उर्दू आयातित फारसी और स्थानीय भाषाओं के मेल से बनी है। सवाल है, हमारी मातृभाषाओं का क्या होगा? प्राइमरी स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ाने को लेकर चल रही बहस के पीछे असुरक्षा की यह भावना काम कर रही है। भाषायी कट्टरवादी भरोसा करते हैं कि अंग्रेजी के विस्मयकारी प्रभाव तले हमारी भाषाएं और संस्कृतियां खत्म हो जाएंगी। अंग्रेजी हमारे लिए अवसरों के द्वारा खोलती है। भाषायी राष्ट्रवाद गलत है क्योंकि यह अंग्रेजी सीखने की जनता की इच्छा के खिलाफ है। लोगों को अंग्रेजी सीखने के लिए अधिक शिक्षक मुहैया कराने के बजाए क्षेत्रीय भाषा के पक्षधर उनकी लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को अंगूठा दिखा रहे हैं।''

यह एक विडंबना है कि अपनी बात को समझाने के लिए गुरूचरण दास या उनके अनुवादक 'हिंग्लिश' की अपेक्षा विशुद्ध भाषा का प्रयोग ही श्रेयस्कर समझते हैं। उनसे गुजारिश की जा सकती है कि 'हवाबाण हर्डे' की ही तर्ज पर वे अपने तर्कों को 'हिंग्लिश' में प्रस्तुत करने की जहमत उठाएं और फिर उनका असर देखें। लेकिन प्रॉक्टर गैम्बल के भूतपूर्व सी एम डी की इस टिप्पणी को पढ़ चुकने के बाद कम से कम उनकी जमात के मंसूबों को समझने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए। इन मंसूबों में बहुराष्ट्रीय ताकतों द्वारा नियंत्रित पूरा का पूरा विज्ञापन जगत उनके साथ है। दृष्टव्य यह है कि आज मीडिया के इस तथाकथित लोकतंत्र में निम्न और मध्य वर्ग की बोलचाल की भाषा तय करने की जिम्मेदारी भी हमने प्रॉक्टर गैंबल, कोक-पेप्सी और उनके शातिर प्रवक्ताओं पर छोड़ दी है। इस लोकतंत्र में आप मीडिया के जरिए लालूप्रसाद यादव से लेकर सुरजीत, आडवाणी और सोनिया गांधी, किसी को भी गाली दे सकते हैं। लेकिन अगर आप कोक, पेप्सी या प्रॉक्टर गैंबल को उनकी ज्यादतियों के लिए जायज तर्कों के आधार पर लताड़ना चाहते हों तो दुनिया के इस सबसे बड़े प्रजातंत्र में कोई माई का लाल समाचार पत्र या टीवी चैनेल आपके अभिमत को दुर्योधन की तरह सुई की नोक के बराबर जगह देने के लिए भी तैयार नहीं होगा। सच है, पानी में रहते हुए मगर से बैर नहीं किया जा सकता। समाचार पत्रों के लिए इन बहुराष्ट्रीय दैत्यों द्वारा दिए जाने वाले विज्ञापन ही कमाई का सबसे बड़ा जरिया हैं। मध्यप्रदेश में समाचार पत्रों के चहेते कथाकार-चित्रकार-पत्रकार प्रभु जोशी ने भाषा के साथ चल रही इस शातिराना साजिश को लेकर एक लंबा लेख लिखा था। लेकिन संपादकों से इतने नजदीकी रिश्तों के बावजूद वे अपने लेख को किसी भी समाचार पत्र में छपवाने में कामयाब नहीं हुए। एक पत्र ने अनजाने में उसे तीन किश्तों में छापना मंजूर तो कर लिया, लेकिन पहली किश्त के छपने के बाद ही उस पर दबाव इतना बढ़ा कि वह बाकी की किश्तों को छापने से साफ मुकर गया। सुनते हैं कि हिंदी के एक बहुत बड़े समाचार पत्र ग्रुप ने अगले पांच वर्षों के दौरान अपने संस्करणों में विधिवत् 'हिंग्लिश' को प्रोत्साहित करने का 'मास्टर प्लान' भी बना लिया है। हिंदी रहे, न रहे, इस 'प्लान' के कार्यान्वित होने के बाद ग्रुप की विज्ञापन रेवेन्यू में कई गुना वृद्धि होने की पूरी उम्मीद है। इसी के

समानांतर टेलिविजिन पर इन दिनों 'पान पराग' की नई 'पैकिंग' का प्रचार करती हुई अमीन सायानी की आवाज सुबह से शाम तक सुनी जा सकती है:

यह बना है लेज़र टेक्नॉलॉजी से, इसका इमिटेशन है इमपॉसिब्ल और इसे खोलिए स्टाइल से!

तो दोस्तों, कद्रदानों, मेहरबानों, मत कीजिए तकरार, हो जाइए तैयार और स्वागत कीजिए इस नई खिचड़ी का, जो अस्सी करोड़ लोगों के दिमागों में जबर्दस्ती घर करने के इरादे से मीडिया के विशालकाय कढ़ाहों में पककर इन दिनों मुस्तैदी के साथ आपकों परोसी जा रही है! यानी,

कर क्लर्की, खा डबलरोटी, खुशी से फूल जा!

आमीन!

* *

बाजारवाद के बिचौलियों की बिसात और 'हिंग्लिश'

दिवंगत कवि धूमिल ने अपनी कविता में 'भाषा के बिचौलियों' जिक्र किया है। बिचौलिया यानी दलाल या 'मिड्लमैन'। बाजारू भाषा का इस्तेमाल करें तो 'दल्ला', 'पिम्प'! हर भाषा की एक स्वच्छंद सांस्कृतिक छटा होती है, जिसका सीधा सरोकार उसके आस्वाद से होता है। इन्हीं अर्थों में भाषा को पैरवीकारों या दलालों की कतई कोई जरूरत नहीं होती। जीभ की नोक पर रखते ही आप गुड़ की मिठास का अंदाज खुद-ब-खुद लगा लेते हैं, किसी को समझाने नहीं आना पड़ता। कुछ इसी तरह का किस्सा उस भाषा के साथ भी है जिसे आपने अपनी मां की गोद में या अपने बचपन के साथियों-दोस्तों या प्राथमिकत कक्षा के अध्यापकों के साथ सीखा होता है। आपके बचपन, आपके गांव, आपके नीम के पेड़, आपके गली-मुहल्ले की तमाम छोटी-बड़ी कारगुजारियों के बीच से होकर निकलने वाली यह भाषा आपके सांस्कृतिक संसार का एक अहम हिस्सा होती है, जिसे लेकर खरीद-फरोख्त की कोई गुंजाइश नहीं होती। गुड़ की भेली की तरह जीभ पर आते या कानों में पड़ते ही यह किसी कम्प्यूटर की तरह आपके दिमागी तहखानों में स्मृतियों और अनुभवों के न जाने कौन-कौन से चोर-दरवाजे खुद-ब-खुद खोलना शुरु कर देती है। गुड़ के स्वाद से उसके पकाए जाने के तापमान या उसके खांटीपन की पूरी जानकारी दे सकने वाला बड़ा-से-बड़ा हुनरमंद सौदागर भी आपके साथ मिठास के उस अनुभव को बांट नहीं सकता, जो भेली को जीभ पर रखते ही आपको प्राप्त हुआ होता है। भाषा की यह सांस्कृतिक सापेक्षता ही उसकी सबसे बड़ी ताकत, उसकी पहचान है। भाषा को चखा और जिया तो जा सकता है, उसे लेकर वकालत नहीं की जा सकती।

दिक्कत यह है कि 'हिंग्लिश' की हिमायत करने वाले सौदागरों की अपनी समूची सांस्कृतिक चेतना अंग्रेजी के इर्दगिर्द घूमती है, अस्सी करोड़ लोगों द्वारा गुड़ की मिठास की तरह समझी जाने वाली ज़बान से उनका कोई लेना-देना नहीं है। जिस 'हिंग्लिश' को बाजार के ये बिचौलिए वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद की अंधी भीड़ से किसी खोटे सिक्के की तरह चलाने की कोशिश कर रहे हैं, उसके साथ हमारा कोई सांस्कृतिक या संवेदनात्मक जुड़ाव नहीं है। लेकिन फिर भी मारकेटिंग के अचूक सिद्धांतों के अनुसार बाजार की सहूलियत के लिए इसकी तथाकथित उपादेयता गुरूचरण दास जैसों द्वारा हम पर थोपी जा रही है। गुरुचरणदास कहते हैं कि इस देश में ले-देकर सिर्फ़ दो वर्ग हैं – एक वे जो अंग्रेजी जानते हैं और दूसरे वे जिन्हें अंग्रेजी नहीं आती। अपनी स्वयं की स्वीकृति के अनुसार वे देश के निम्न और निम्न-मध्य तबके को दूसरे वर्ग में लेते हैं। उनका मानना है कि इस दूसरे तबके के बीच 'हिंग्लिश' (यानी एक घटिया, भदेस

किस्म की इंग्लिश) का चलन हो चुकने के बाद भाषा के आधार पर वर्गों का विभाजन और मुखर हो उठेगा, देश की रही-सही सांस्कृतिक पहचान भी धूमिल होती जाएगी और यहाँ की काहिल, गंवार खलकत को उच्च वर्ग द्वारा बोली जाने वाली अंगरेजी खुद-ब-खुद सुख, समृद्धि और यश की अंतिम स्वर्णिम सीढ़ी के रुप में दिखाई देने लगेगी। यूं भी, बकौल गुरुचरण दास, इस देश की हर मां समझ चुकी है कि उसके बच्चे के भविष्य और रोजगार का वास्तविक पासपोर्ट अंग्रेजी है।

सवाल पूछा जा सकता है कि तब हिंदी के नाम पर शब्दों के इस पाखंड के मुकाबले खालिस अंग्रेजी का इस्तेमाल और प्रचार क्या बुरा है? 'आम और खास की भाषा' की दुहाई देकर यह छद्म क्यों रचा जा रहा है? प्रभु जोशी के अनुसार मीडिया के इन नुमाइंदों को हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं से ऐतराज इसलिए है क्योंकि इन भाषाओं पर किसी-न-किसी रुप में 'राष्ट्रीयता' का लेबल लगा हुआ है, और राष्ट्रीयता जैसी संकुचित प्रवृत्तियां देर-सबेर वैश्वीकरण के व्यापक मुहिम में आड़े आती हैं। जमाने का तकाजा है कि राष्ट्र को भूल जाइए और विश्व की सोचिए। और विश्व भी पीने के पानी को तरसते गरीबों और भुखमरों का फिसड्डी विश्व नहीं, बल्कि वह नया चमकदार विश्व, जहां का बच्चा-बच्चा 'मैकडॉनल्ड' के हैमबर्ग और 'ये दिल मांगे मोर' के सपने देखते हुए पला-बढ़ा हो। 'भाषायी राष्ट्रवाद' गुरुचरण दास को नागवार गुजरता है क्योंकि इसके चलते प्रॉक्टर गैंबल का व्यावसायिक पैगाम गांव-गांव तक पहुंचाने में अनेकों सांस्कृतिक बाधाएं सामने आती हैं। इसलिए गांव में घुसना है तो पहले भाषा की पहचान को तोड़ो-मरोड़ो,उसे अपने ईजाद किए जुमलों में कैद कर दो! भाषा काबू में आ गयी तो बाकी का सांस्कृतिकतंत्र खुद-ब-खुद ढह जाएगा। हकीकत यह है कि 'हिंग्लिश' के नाम पर भाषा के महकमे में हो रही घुसपैठ बहुराष्ट्रीय ताकतों द्वारा वैश्विक स्तर पर चलायी जा रही सांस्कृतिक घुसपैठ का ही एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण हिस्सा है।

बरसों पहले महात्मा गांधी के नेतृत्व में इस देश ने अपनी भाषा को एक महत्वपूर्ण हथियार की तरह इस्तेमाल करते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपनी सरहदों से बाहर खदेड़ा था। 'विशाल भारत' और 'विप्लव' जैसे नामों की शक्ल में देश के स्वतंत्रता संग्राम में हिंदी पत्रकारिता का योगदान स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जा चुका है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध 'निज भाषा' की शक्ति को गांधी से बेहतर कौन जानता था? आजादी की घोषणा हो चुकने के बाद जब बी बी सी ने गांधी को बातचीत के लिए आमंत्रित किया था तो उन्होंने इस आमंत्रण को ठुकराते हुए कहा था, **''संसार को कह दो कि गांधी को अंग्रेजी नहीं आती, वह अंग्रेजी भूल गया है!''**

देखा जाए तो आज के इन बिचौलियों के प्रेरणा-स्रोत भी गांधी ही हैं। गांधी बाबा की सफलताओं से सीख ले चुकने के बाद वे अच्छी तरह समझ चुके हैं कि इस देश में वैश्विक स्तर के आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना के लिए पहले स्थानीय सांस्कृतिक पहचान चिन्हों को मिटाना होगा। भाषा को नष्ट करने की दिशा में मीडिया द्वारा 'हिंग्लिश' की शक्ल में चलाया जाने वाला यह ट्रोजन घोड़े का सा संदेहास्पद शगूफा इन्हीं अर्थों में अटूट बाजारवाद की स्थापना की दिशा में उनका एक जरुरी कदम है।

इस सारे कथन को अंग्रेजी का विरोध या गुरुचरण दास द्वारा इंगित की गयी भाषा संबंधी संकीर्णता या 'पैरोकिअल्जिम' न समझा जाए। आज के वैश्वीकृत जमाने में, जब मुल्कों और संस्कृतियों के बीच के फासले लगातार घटते दिखाई दे रहे हों, भाषा को लेकर किसी संकीर्ण अथवा सीमित नजरिए से बात नहीं की जा सकती। आज के समाज में विश्वव्यापी भाषा अंग्रेजी का महत्व जगज़ाहिर है। अंग्रेजी की 'अवसर-सम्पन्नता' को 'हिंग्लिश' के समर्थन के लिए इस्तेमाल करना दुराग्रहपूर्ण है। अंग्रेजी न जानने का मतलब अवसरों के दरवाजों का बंद हो जाना नहीं है, यह हमें जापान के निवासी बखूबी दिखा चुके हैं। यही नहीं, जापान की औद्योगिक सफलता के परिणामस्वरुप दुनिया भर में जापानी भाषा और वहां के साहित्य के प्रति

एक अभूतपूर्व सम्मान का भाव जागृत हुआ है। चीन, फ्रांस, जर्मनी और बहुत से अन्य देशों में आज भी अपनी भाषा को लेकर एक खूंख्वार निजत्व का भाव है, जिसके बूते पर वे इस बाजार में अपनी तय की गयी शर्तों पर न सिर्फ जिंदा हैं, बल्कि फल-फूल रहे हैं। लेकिन देखा जाए तो गुरुचरण दास और उनके अनुयायियों का कोई सरोकार हिंदी या उसकी व्यापक प्रेषणीयता से नहीं है। हिंदी भाषियों के हाथों में 'हिंग्लिश' का फैशनेबल रैपर वाला लॉलीपॉप थमाकर वे दरअसल अपनी कंपनी के प्रोडक्ट्स के रास्ते में बने सांस्कृतिक अवरोधों को ढाने की फिराक में हैं। भाषा की संवेदनात्मक पहचान को नष्ट करना उनकी सोची समझी गयी मारकेटिंग नीति का ही एक हिस्सा है।

भाषा के मंच पर इन बाजारवादी बिचौलियों के आगमन से पहले भी हिंदी एक दूसरी किस्म के सरकारी बिचौलियों का प्रतिघात झेल चुकी है। ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में जुटे मिशनरियों की तर्ज पर ही इस देश में राष्ट्रभाषा हिंदी को फैलाने की मुख्य जिम्मेदारी हिंदी क्षेत्र के महारथियों को सैंपी गयी, जिससे इस भाषा की ग्राह्यता और उसके सौहार्द को काफी गहरा नुकसान पहुँचा। सरकारी संस्थानों में हिंदी अनुपालन के नाम पर क्या कुछ गुजरता है, इसका जिक्र मैं अपनी कहानी 'राजरोग' में कर चुका हूँ (राजभाषा अनुपालन समिति की एक जांबाज़ महिला सांसद ने एक बार इस कहानी की फोटोस्टेट प्रतियां सभी सदस्यों को बंटवायी थी, लेकिन वह एक दीगर संदर्भ है)। यह काफी विडंबनापूर्ण स्थिति है कि हिंदी की जहां भारतीय भाषाओं को जोड़ने का काम करना चाहिए था, वहीं इसके राजभाषा वाले रुतबे से कुछ हद तक वैमनस्य की भावनाएँ भी पैदा हुई हैं। देश के जनमानस पर 'हिंग्लिश' आरोपित करने के प्रयासों के पीछे भी हिंदी के प्रति इस वैमनस्य भाव को देखा जा सकता है।

लेकिन अपनी तमाम असफलताओं के बावजूद अगर इस देश में और इसके बाहर हिंदी अपनी लड़ाई स्वयं लड़ सकी है तो साहित्य की छोटी-मोटी सुर्खियों के बाद इसका अधिकांश श्रेय इस देश के हिंदी सिनेमा को जाता है। व्यावसायिकता और अतिनाटिकीयता के तमाम तत्वों के बावजूद संप्रेषणीयता और भाषिक संवेदना का जो गहरा उछाह पिछले साठ-सत्तर वर्षों से हमने हिंदी सिनेमा में देखा है, उसके मुकाबले हिंदी प्रसार के तमाम दूसरे प्रयास फीके दिखाई देते हैं। इस सफलता में उर्दू अदब से आए मुकालमानवीसों और शायरों की लंबी चौड़ी जमात से लेकर शैलेन्द्र और प्रदीप, गुलज़ार और राही जैसे संवेदनशील फनकारों की विरासत और तहजीब शामिल है। यही नहीं, बड़े पर्दे के निहायत व्यावसायिक फलक पर भी इस शानदार विरासत को बरकरार रखने और इसे आगे बढ़ाने में सोहराब मोदी से लेकर अमिताभ बच्चन जैसी हस्तियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह समझाने की जरुरत नहीं कि अमिताभ जैसे सुपरस्टार की लोकप्रिय शख्सीयत का कितना बड़ा हिस्सा उनकी आवाज़, उनकी भाषा और उनके उस खालिस प्रादेशिक लहज़े पर टिका है, जिसे उन्होंने अपने पिता और अपने परिवार से विरासत में पाया। इस शब्द विन्यास और लहजे को उनसे अलग कर दीजिए तो अमिताभ अमिताभ नहीं रह जाएंगे। बल्कि एक और नजरिए से यह तक कहा जा सकता है कि हिंदी की भाषाई गरिमा को नई बुलंदियों तक पहुंचाने का जो काम अमिताभ जैसों ने अपने जीवनकाल में किया है उसे तथाकथित हिंदी की 'सेवा' करने वाली तमाम संस्थाएं पिछले पचास बरसों में नहीं कर पायी होंगी। गीतकार गुलजार जब टपोरी नाच-गाने के बीच भी 'सड़कों पे खाली रिक्शे सा पीछे-पीछे चलता है' जैसे चित्रमय मुखड़े की संरचना करते हैं तो हमारे सामने पीछे छूट चुके अपने छोटे शहर के न जाने कौन-कौनसे दृश्य यक-ब-यक जिंदा हो उठते हैं। भाषा की यह संप्रेषणीयता ही उसकी ताकत, उसकी पहचान है।

अपनी सारी खामियों और बदकारियों के बावजूद हिंदी सिनेमा हमारी भाषा की सांस्कृतिक पहचान और इसकी प्रेषणीयता का सफलतम संवाहक रहा है, इसमें दो राय नहीं हो सकती। सिनेमा की पहुंच उन

दूर दराज के इलाकों तक है, जहां साहित्य, टेलिविजन और दूसरे संचार माध्यम अभी पहुँच भी नहीं पाए हैं। सिनेमा में बोली जाने वाली भाषा एक तरह से संप्रेषणीयता की सबसे मुश्किल हदों को लांघती है क्योंकि इसमें उच्चारित शब्दों और दिखाई देने वाले 'विजुअल्स' का पूरक समन्वय होता है जिससे 'असंवाद' की बहुत कम गुंजाइश बाकी बचती है। सिनेमा में प्रयुक्त भाषा किसी भी अन्य प्रचार माध्यम अथवा अभियान का जामा पहने बगैर सीधे अपने प्रेक्षक से मुखातिब होती है। यहां लिपि को पढ़ने की साहित्य जैसी दुविधा भी सामने नहीं होती; शब्द खुद-ब-खुद आपके कानों तक पहुँचते रहते हैं और उनके अर्थ चलायमान तसवीरों के जरिए बहुत सहज ढंग से अपने-आप खुलते चले जाते हैं। इन्हीं मायनों में स्वीकार किया गया है कि भाषा के मामले में प्रतिकूल और असहिष्णु प्रदेशों में भी हिंदी को एक स्वीकार्य एवं सम्मानजक दर्जा दिलाने में सबसे महत्वपूर्ण और कारगर भूमिका सिनेमा की रही है। राजभाषा समितियों और प्रचारिणी सभाओं के समूचे दंद-फंद को काटकर सिनेमा डंके की चोट पर हिंदी को इस देश की भाषा के रुप में स्थापित करता है और आज अगर देश के सुदूरतम प्रदेशों में और देश के बाहर भी हिंदी समझी और कुछ हद तक बोली जाती है तो इसका सर्वाधिक श्रेय बॉलीवुड और मद्रास के हिंदी सिनेमा को जाता है। यह माध्यम बेहद सपाट, क्रूर और व्यवहारपरक है, इसमें गलतियों के लिए कोई जगह नहीं है, क्योंकि एक-एक मामूली भूल का खामियाज़ा यहां लाखों और अब करोड़ों में बैठता है। इसी के चलते सिनेमा के प्रारंभिक काल में यहां पारसी हीरोइनों का तलफ़्फुज़ सुधारने के लिए उर्दू और हिंदी के जानकार विद्वानों को नौकरी पर लगाया जाना जरुरी समझा गया, इसी के आग्रह पर मद्रास के ए वी एम और जेमिनी बरसों तक पंडित मुखराम शर्मा जैसे मुकालमानवीसों के नाम पर अडिग रहे और इसी का कहर था कि सुचित्रा सेन जैसी संवेदनशील बंगला अभिनेत्री चोटी के निर्माताओं और निर्देशकों की तमाम कोशिशों के बावजूद हिंदी प्रेक्षकों के बीच कभी अपनी मुकम्मल जगह नहीं बना सकी। बोलचाल की हो या लिखित, भाषा की पैठ हमारी सांस्कृतिक चेतना के गहनतम इलाकों तक होती है। इसे साधना मशक्कत का काम है। यह कोई खेत की मूली नहीं है, जिसे आप जब जी में आए उखाड़कर बाहर फेंक दें। इसके हटने से एक समूची संवेदनात्मक जमीन के खिसक जाने का गंभीर खतरा पैदा हो जाता है।

अभी हाल ही में पाकिस्तान में बनी फिल्म 'खामोश पानी' को देखना मेरे लिए एक गहरा संवेदनात्मक अनुभव था। यह फिल्म सांप्रदायिक प्रवृत्तियों पर गंभीर सवालिया निशान लगाती है। लेकिन इससे अलग मेरे लिए इसका सबसे भावनात्मक पक्ष थी इसमें प्रयुक्त पंजाबी भाषा, जो हू-ब-हू वही जबान थी जिसे मेरी दादी बोला करती थी और जो न जाने कब और कैसे मेरी जिंदगी से दूर होती चली गयी थीं। 'खामोश पानी' को देखते हुए अपनी किसी बेहद प्रिय चीज़ के छिन जाने का दुखद अहसास लगातार मेरे साथ था। एक बार फिर, यह भाषा की ताकत का एक मूक, बहुत गहरे में छू जाने वाला मामला था।

'कितने आदमी थे?... तेरा क्या होगा, कालिया?'

'हाय, यह दिन देखने से पहले मैं मर क्यों न गयी!'

'तुम पूछते हो कि क्या हुआ। अरे, यह पूछो कि क्या नहीं हुआ!'

'आहिस्ता बोल भागवान!... दीवारों के भी कान होते हैं!'

'क्या मैं अंदर आ सकता हूँ?... अरें, मैं तो अंदर आ ही गया!'

जरा सोचकर देखिए, हिंदी सिनेमा में 'क्लिशे' की आखिरी हदों से भी ज्यादा पिट चुके इन सहज वाक्यों और रुपहले पर्दे पर इनके चित्रण से बेहतर हिंदी भाषा का प्रशिक्षण क्या आपको दुनिया के किसी भी महंगे 'रैपिडेक्स' कोर्स से नसीब हो सकता है? बाजार के स्तर पर भाषा के प्रसार-प्रचार में हिंदी सिनेमा के इस योगदान की बराबरी क्या कोई भी निदेशालय या आयोग कर पाएगा? हिंदी सिनेमा के इस जबर्दस्त

सांस्कृतिक अभियान के बगैर इस देश के हर प्रदेश में हिंदी बोलने और समझने की सामान्य काबिलियत को विकसित करना क्या संभव था? यही एक माध्यम है जो सर्वव्यापी है और जिसके पास ऐसी आत्मीय और सहज भाषा है जो कहीं अनजाने में ही, बिना किसी इशारे के, हमें अपने सांस्कृतिक जुड़ाव का अहसास कराती है। अपनी सारी स्थूलता के बावजूद इसी में देशप्रेम समाहित है, इसी में पारिवारिक सुख-दुख, गांव की बदहाली, शहरों के संकट और हमारी समूची अस्मिता है। मद्रास के अहिंदीभाषी जेमिनी स्टूडियों से निकलने वाली किसी भी मसाला हिंदी फिल्म तक में आपको गलत भाषा का प्रयोग या भाषा के प्रति उदासीनता देखने को नहीं मिलेगी। हिंदी प्रदेशों में आज के कमल हसन की लोकप्रियता को निर्धारित कर पाना मुश्किल है, लेकिन यह तय है कि यदि वे उस पहले के जमाने में होते तो उनका हिंदी उच्चारण वहां के एम वी रामन या ए वी मैयप्पन या कम से कम उनके सलाहकारों को सख्त नागवार गुजरता। भाषा की सहजता और संप्रेषणीयता के प्रति यह जवाबदेही और जिम्मेदारी ही मद्रासी मसाला हिंदी फिल्मों की सफलता की असल कुंजी थी। इस सजगता और संलग्नता के कारण ही नुंगमबक्कम के खालिस तमिलदां स्टूडियो से निकलने के बावजूद ये मद्रासी फिल्में न सिर्फ अपार जनसमूह द्वारा देखी जाती थी, बल्कि छपरा, बहराइच और छिंदवाड़ा जैसे नामालूम छोटे शहरों में भी सिलवर जुब्लियां मनाती थी। यानी तब फिल्म के लिए, चाहे वह देश के किसी भी इलाके में क्यों न बनी हो, भाषा के सांस्कृतिक जुड़ाव के साथ खिलवाड़ करना या उस के साथ सतहीपन बरतना व्यावसायिक तहजीब के सख्त खिलाफ समझा जाता था। यही तहजीब आपको विदेशों से आने वाले और वहां बसे तमाम हिंदी विद्वानों की भाषा में मिलेगी। जर्मनी के हेन्ज़ वेस्लर, जापान के डाक्टर कोकिनागा, चेकोस्लोवाकिया की डाक्टर दागमार मार्कोवा और इटली की तूरिन अलस्सांदे अक्सर ऐसी हिंदी बोलते हैं जिसे सुनकर हिंदी वाले भी शरमा जाएं। इन सबको अब क्या दुबारा 'हिंग्लिश' का पाठ सीखना होगा?

हिंदी की इस शानदार परंपरा के मुकाबिल इन दिनों देश के तमाम टी वी चैनलों पर फिल्मी सितारों, निर्देशकों और यहां तक कि गायकों - गीतकारों के जो इंटरव्यू प्रसारित होते हैं, उनमें से अधिकांश में आपको मामूली क्रियाओं को छोड़कर बाकी के सारे शब्द अंग्रेजी के ही मिलेंगे। बल्कि अधिकांश सितारे तो 'वो ऐसा है कि...' या 'बात यह है कि...' जैसे दो-अढ़ाई हिंदी शब्दों की औपचारिकता निभाने के बाद सीधे अंग्रेजी पर उतर आते हैं। इंटरव्यूकर्ता हिंदी में सवाल पूछता जाता है और वे जवाब अंग्रेजी में देते हैं, गोया कि हिंदी की रोटियां तोड़ने के बावजूद इस भाषा में बात करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हों। इतावली मूल के बावजूद काफी प्रयत्न और मशक्कत के बाद हिंदी सीखकर इस भाषा में भाषण देने वाली सोनिया गांधी को उनके कुछ विरोधी राजनीतिज्ञों ने न जाने कौन-कौन से विशेषणों से अलंकृत कर बुरी तरह जलील किया था। तब फिर हिंदी सिनेमा के लोकप्रिय प्रतिनिधि होकर हिंदी में दो शब्द बोलने से भी कतराने वाले इन कॉन्वेंट छाप लॉलीपॉप हिंदुस्तानी सितारों को कौनसे चुनिंदा नामों से नवाजा जाना चाहिए, इसका फैसला आप स्वयं कर सकते हैं। कहना न होगा कि ये सब भी 'हिंग्लिश' की घासलेटी तहजीब के प्रचार-प्रसार से बराबरी के हिस्सेदार हैं।

कुछ वर्ष पहले हिंदी चैनेल 'ज़ी टी वी' ने अपने समाचार बुलेटिनों में इसी तथाकथित 'हिंग्लिश' का प्रयोग करने की जुर्रत की थी और मुंह की खायी थी। टी आर पी रेटिंग्स के अभूतपूर्व दबावों के चलते ज़ी चैनेल को अडवानी की इस्तीफा वापसी वाले अंदाज में दुबारा अपने बुलेटिनों में हिंदी को लौटाने पर मजबूर होना पड़ा था। यानी भाषा की सांस्कृतिक संप्रेषणीयता का मसला न बदला है, न बदल सकता है। इसीलिए आज भी अपने नए टेक्नीकलर संस्करण में जब 'मुगले-आज़म' जैसी फिल्म दुबारा रिलीज़ होती है तो उसके समानांतर चल रही नई-से-नई फिल्मों की भी खटिया खड़ी हो जाती हैं। आज की हर दूसरी फिल्म में लोगों ने 'मुगले-आज़म' के कम्प्यूटर रचित रंगों से बेहतर टेक्नीकलर देखा होगा, लेकिन 'मुगले-

आज़म' का असली जादू है उसकी भाषा और उस भाषा की सटीक अदाएगी! भाषा का यह वज़न इधर की तमाम फिल्मों से गायब हो चुका है और इसकी अदायगी को निभा पाना तो खैर इधर के अंग्रेजीदां लॉलीपॉप हीरो-हीरोइनों के बूते से कतई बाहर की चीज होगी।

क्लासिकी अंदाज में अक्सर कहा गया है कि भाषा एक विशाल नदी की तरह होती है जो अपना स्वरुप खोए बगैर बहुत सी मिलावट, बहुत सा कचरा और फालतू सामान अपने भीतर लिए चलती है। जमीन की ढलान और मौसम की चाल के अनुसार इसकी दिशा में भी परिवर्तन आता रहता है। परिवर्तन और समन्वय किसी भी जीवंत भाषा की पहली पहचान है। बल्कि आज की हिंदी तो कई नदियों का संगम भी है। इसमें देश की अनेकानेक विविधतापूर्ण बोलियों का समावेश है। उर्दू एवं दूसरी भाषाओं के समन्वय ने इसे निखारा है, इसके स्वरूप को लय और रवानगी दी है। इसी तरह अंग्रेजी के अनेकानेक शब्दों ने भी अपने मूल या फिर थोड़े से परिवर्तित रुप में हिंदी के विशाल पाट में जगह पायी है। कहने का मतलब यह है कि परहेज समन्वय से नहीं बल्कि भाषा के स्तर पर उस सांस्कृतिक दिवालिएपन से होना चाहिए जो आजकल हिंदी मीडिया और पत्रकारिता के कुछ महकमों में नजर आ रहा है और कुल मिलाकर जो किसी भी देशकाल में न तो अच्छी तहजीब का लक्षण हो सकता है और न ही कुशल एवं सकारात्मक बुद्धि का!

टेलिविजन पर चैनेलों के आकस्मिक विस्फोट ने भाषा के संदर्भ में हमारे मीडिया की तैयारी के अभाव को कुछ और उजागर कर दिया है। अंग्रेजी शार्टकटों के अलावा आजकल हर आए दिन आप अपने बुद्धूबक्से पर नौजवान रिपोर्टरों, वी जे और संचालकों को भाषा और उच्चारण की भयावह गलतियों के बीच डूबते-उतरते देख सकते हैं। टी आर पी रेटिंग्स की अंधी दौड़ में हमने हिंदी में अनेकानेक कार्यक्रम तो शुरु कर दिए हैं, लेकिन साफ जाहिर है कि या तो हम भाषा की अपार ताकत से पूरी तरह नावाकिफ हैं, या फिर तुरत-फुरत काम निपटाने की बचकानी एवं अपरिपक्व प्रवृत्ति के तहत हम इस ओर ध्यान देना जरुरी नहीं समझते। और इससे इतर यह तथ्य तो अपनी जगह है ही कि फास्ट फूड वाली आज की शहरी उपभोक्ता संस्कृति में हिंदी पढ़ने, समझने और सीखने का चलन अब कम हो रहा है। इसी के चलते आज हिंदी के विराट् स्वरुप को अपनी तात्कालिक सुविधा के अनुसार तोड़ने मरोड़ने और इसके बहाने एक चालू किस्म की बाजारु अंग्रेजियत को प्रस्थापित करने का ठेका हमारे अंग्रेजीदां मीडिया संरक्षकों ने ले लिया लगता है।

शायद इन्हें लगता है कि उनका वर्चस्व भाषा से भी ऊंचा है और अपने प्रयासों से वे देर-सबेर हिंदी के मूल स्वरुप को छिन्न-भिन्न कर उसके स्थान पर हिंग्लिश के ढांचे पर खड़ी अंग्रेजियत को स्थापित करने में सफल हो जाएंगे। हो सकता है कि कुछ शहरी महकमों में वे ऐसा कर भी लें। लेकिन हिंदी के विराट् भाषा प्रदेश में अगर अपनी सांस्कृतिक जड़ों के लिए जरा भी संवेदना बाकी बची है तो वह इन थोपे गए कुप्रयासों को कभी सफल नहीं होने देगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेजों का चार सौ वर्षों का शासनकाल भी इस देश में हिंदी और दूसरी प्रादेशिक भाषाओं को फलने-फूलने से रोक नहीं पाया। अंग्रेजों ने भी बहुत जल्दी जान लिया था कि इस देश पर हुकूमत करने के लिए उन्हें इस देश की भाषा में बात करनी होगी। प्रकृति के इस अनिवार्य नियम के विपरीत चलने के खतरनाक परिणाम हो सकते हैं। दुनिया के अस्सी करोड़ लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा वह खोखला और बेजान ढांचा नहीं है, जिसे हमारे सिर पर जबर्दस्ती लादने की कोशिश ये शातिर मीडिया संरक्षक कर रहे हैं। व्यावसायिक सफलता की अंधी हवस में धुत् ये सौदागर मीडिया की सम्पन्न और विकासशील इमारत से संवेदनात्मक प्रेषणीयता की उन आधारभूत शहतीरों को हटाने की कोशिश कर रहे हैं, जिनके हिलते ही यह सारा ढांचा भरभराकर नीचे आ जाएगा। इससे वर्षों से सजने, संवरने और परिष्कृत होने वाली एक महान जन-भाषा की अपूरणीय क्षति तो होगी ही, दुखद यह भी है कि तमाम चतुराइयों के बावजूद ये अदूरदर्शी सौदागर स्वयं को भी इसके भारी मलबे के नीचे दबकर फना होने से बचा नहीं पाएंगे।

निस्संग अँधेरे में आश्वस्ति की गुहार

यतीन्द्र मिश्र

मेरे कोई मित्र नहीं हैं, मुझे अपने साथ अकेले रहना होगा, लेकिन मैं जानता हूँ कि मेरी कला में ईश्वर दूसरों से अधिक मेरे निकट है। मैं बिना किसी भय के उसके साथ रह सकता हूँ। हर बार मैंने उसे पहचाना है, समझा है। न मुझे अपने संगीत के बारे में कोई चिन्ता है, उस पर कभी किसी अनिष्ट की छाया नहीं पड़ सकती। जो उसे समझेंगे, हमेशा के लिए, उन तमाम दुःखों से छुटकारा पा लेंगे, जिन्हें दूसरे लोग आजीवन अपने साथ घसीटते हैं।

– बीथोवन

संगीत के क्षेत्र में प्रतिबद्धता का प्रश्न एक उलझन-भरी चीज है। क्या संगीत में कुछ व्यक्त करने की क्षमता है, या नहीं है? स्ट्राविंस्की का ख्याल था कि संगीत में ऐसी कोई क्षमता नहीं है, लेकिन मुझे लगता है कि संगीत हमेशा कुछ न कुछ अभिव्यक्ति करता है। हाँ, कभी-कभी वह कुछ कहना चाहता है और कभी-कभी कुछ नहीं कहना चाहता। संगीत को भाषा से अलग मानते हुए क्या हम यह कह सकते हैं कि यह किसी दिए हुए समाज का प्रतीक है?

– ज्यां पॉल सार्त्र

मेरा संगीत एक अनवरत खोज है, एक तलाश, एक शोध प्रक्रिया – मैं संत नहीं हूँ, और एक कलाकार और संत में बड़ा अन्तर है। हमारी कला का सत्य, जीवन का अन्तिम सत्य नहीं। हम कलाकार सत्य के आंशिक साक्षात्कारों की कड़ी भर रचते हैं।

– किशोरी अमोनकर, मृणाल पाण्डे से बातचीत के दौरान

आरम्भ में ही स्पष्ट कर दूँ, यह लेख किशोरी अमोनकर की चरितकथा नहीं है। न ही, यह किशोरी अमोनकर के बहाने उत्तर भारत के शास्त्रीय संगीत की विवेचना ही है। मगर इतना जरूर है कि शास्त्रीय संगीत के बीहड़ माने जाने वाले रास्ते पर टहलते हुए जो अगल-बगल का दृश्य दिखाई पड़ता है, उसमें, उस दुर्गम-कला के परिदृश्य में किशोरी अमोनकर की उपस्थिति और उस उपस्थिति से सृजित इतने वर्षों की अभूतपूर्व संगीत-साधना की बानगी भर देने का प्रयास, यह लेख करता है।

किशोरी अमोनकर का मतलब मोघूबाई कुर्डीकर की बेटी और उस्ताद अल्लादिया खाँ की प्रशस्त परम्परा का सबसे नायाब फूल। किशोरी अमोनकर माने जयपुर-अतरौली घराने की सबसे मुखर अभिव्यक्ति। किशोरी अमोनकर का अर्थ परम्परा और घरानेदारी में विचलन पैदा करने वाला एक अवाँ गार्द कलाकार। यह ढेरों रूपक और सारी स्थापनाएँ मिलकर भी मुकम्मल ढंग से किशोरी अमोनकर की परिभाषा गढ़ नहीं पाते। इसका एक सीधा सा कारण यह भी है कि किशोरी जी ने कभी स्वयं की गायकी का कोई तय या स्थापित बाना नहीं स्वीकारा। एक कलाकार एक दृष्टि में अपनी परम्परा या घराने को लाँघता हुआ जिस 'स्पेस' की निर्मिति करता है; दरअसल वह प्रचलित अर्थों में कहीं न कहीं परम्परावादियों के द्वारा अछूत या समाज-बहिष्कृत मान लिया जाता है।

किशोरी जी पर विस्तृत चर्चा से पहले, हमें उसके पूर्ववर्ती संगीत समाज के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है, जिसके लिए हमें थोड़ा पीछे जाना होगा। पीछे जाने का अर्थ यहाँ इस सन्दर्भ में भी काबिलेगौर है कि वह समय आजादी के लिए जद्दोजहद करते वर्षों की ओर जाने का समय है या कि वह समय उस्ताद अल्लादिया खाँ की परम्परा और मोघूबाई कुर्डीकर की विरासत की ओर जाने का समय है। अतरौली खानदान में पैदा हुए उस्ताद अल्लादिया खाँ ने, जयपुर घराने की नींव रखी थी। एक दिन सांगली, महाराष्ट्र में संगीत सभा में उन्होंने मोघूबाई कुर्डीकर को मराठी नाट्य संगीत गाते सुना और सुनते ही रह गए। इसी समय उन्होंने मोघूबाई से आग्रह किया कि वे उन्हें संगीत की तालीम देना चाहते हैं। यह बात सन् 1920 ई. की है। उस दिन से जो मोघूबाई का गण्डा बंधन हुआ तो यह तालीम की यात्रा, उस्ताद की मृत्यु के वर्ष 1946 ई. तक अनवरत चलती रही। मोघूबाई के अलावा तानीबाई कागलकर, केसरबाई केरकर, मंझी खाँ और भुर्जी खाँ जैसे योग्य शिष्य-शिष्याओं के सहारे जयपुर अतरौली घराना समृद्ध होने लगा। उस्ताद अल्लादिया खाँ का एक विशेष गुण यह भी था कि उन्होंने न केवल बचपन में सुनी व सीखी आगरा घराने की बंदिशों को ढूँढ़कर उन्हें एक स्वनिर्मित रूप देकर जयपुर घराने का अंग बनाया बल्कि उन्होंने यह हुनर भी हासिल किया कि अब तक जो ध्रुपदियों की छत्र-छाया से वे सीखते चले आ रहे थे, इसमें उन्होंने ध्रुपद के आलाप को शुरू से ही पूरी तरह छाँटकर लयबद्ध बन्दिशी ख्याल मध्य लय में गाना शुरू कर दिया। यह 'मध्य लय' बाद में जयपुर अतरौली घराने की महत्त्वपूर्ण और 'सिग्नेचर लय' के रूप में प्रतिष्ठित हुई। हालांकि यहां यह स्पष्ट करना भी जरूरी है कि आमतौर पर जो मध्य लय अन्य घरानों में गायी जाती है, उससे जयपुर-अतरौली घराने की लय थोड़ी भिन्न है।

यह सारा समय यहाँ एक और शास्त्रीय संगीत के लिए बहुत उर्वर या संभावनापूर्ण समय था, वहीं दूसरी ओर भारत आजादी के लिए जद्दोजहद इन्हीं वर्षों में कर रहा था। सन् 1920 में, जो कि मोघूबाई के दीक्षा शुरू होने का वर्ष है के ठीक एक वर्ष बाद 1921 में मुम्बई में गान्धर्व महाविद्यालय के वार्षिक संगीत आयोजन में पहली बार किसी महिला कलाकार को मंच पर अपनी कला-प्रदर्शन का मौका मिला। इसके लिए यह श्रेय पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर को जाता है, जिन्होंने हीराबाई बडोदेकर को यह मौका दिया। यह वर्ष इस मायने में महत्त्वपूर्ण है कि इसी आयोजन के बाद से महिला कलाकारों ने इस गायन विधा को पूर्णकालिक आजीविका के तौर पर अपनाना शुरू किया। इन्हीं वर्षों में बनारस में भी बाइयों और गौनिहारिनों को आजादी की लड़ाई में अपना योगदान देने के लिए गाँधी जी ने प्रेरित करना शुरू किया था। इसका सबसे उज्ज्वल पक्ष यह उभरा कि ढेरों गायिकाओं ने अपनी शिष्याओं और बेटियों को सम्मानजनक ढंग से संगीत अपनाने के लिए प्रेरित किया। मोघूबाई कुर्डीकर ने आरम्भ में ही तय कर लिया था कि वे उस्ताद अल्लादिया खाँ से प्राप्त धरोहर की सबसे प्रमुख संवाहक अपनी बेटी किशोरी अमोनकर को बनायेंगी।

किशोरी अमोनकर की गायकी को ठीक ढंग से समझने के लिए हमें जिन चीज़ों के पास जाना होगा,

उसमें मुख्य रूप से दक्षिण भारत के संत श्री राघवेन्द्र स्वामी, माँ मोघूबाई, स्वरमण्डल और वीणा आते हैं। अध्यात्म और शास्त्रीय संगीत कुछ इस तरह आपस में गुँथे हुए हैं कि तमाम सारी प्रगतिशीलता और क्रान्तिकारी सोच के बाद भी भारतीय कलाकारों के लिए 'अध्यात्म' जैसे सबसे मनचाही शरणस्थली बन जाता है। किशोरी अमोनकर अपने ज्यादातर वक्तव्यों में इस बात पर खासा जोर देती हैं कि उनका गायन अध्यात्म को पूरी शुद्धता तथा सम्पूर्णता के साथ प्रतिष्ठित करता है। एक तरह से वे अपने शब्दों और स्वरों के माध्यम से इस 'अध्यात्म' का, जो कि जाहिर है उनके गायन द्वारा, उच्चरित बोलों से रचा गया है, संगीत में पुनर्वास करती हैं। उनके लिए राघवेन्द्र स्वामी के मठ में गाना, शायद इसी कारण जीवन का सबसे आह्लादकारी क्षण लगता है। यहाँ हम भारतीय संगीत में ढेरों ऐसे कलाकारों को याद कर सकते हैं जो धर्म, अध्यात्म और साधना जैसे पदों में अपनी सांगीतिक प्रतिभा का सबसे आश्वस्त निरूपण करते दिखाई देते हैं। एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी, पं. मल्लिकार्जुन मंसूर, पं. कुमार गंधर्व, पं. जसराज एवं गिरिजा देवी ऐसे ही मूर्धन्य हैं, जिन्होंने गायकी को हमेशा साधना और भक्ति के सोपानों के नीचे ही माना है। या इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि गायकी उनको ईश्वर तक ले जाने वाली सबसे सरल और सुगम सीढ़ी रही है। मीराबाई की शब्द-सत्ता को सिर्फ कवि या स्त्री की भक्ति न मानकर उसे अलौकिक स्पर्श देने में शायद इसी कारण एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी, गिरिजादेवी और किशोरी अमोनकर अग्रणी रही हैं। मीरा के पदों, मसलन - **'म्हारो प्रणाम बाँके बिहारी जी', 'सहेलियाँ साजन घर आया', 'जाओ निरमोहिया जानी थारी प्रीत', 'चला वाही देस', 'जसोदा ने लाख बधाई'** और **'कोई कहिए रे प्रभु आवन की'** जैसे भजनों में किशोरी अमोनकर की गायकी में यही 'आध्यात्मिक शुद्धता' देखने को मिलती है। ऐसी गायकी जिसे सुनकर शायद थोड़ी देर के लिए यह बात स्वाभाविक लगने लगे कि पूर्व में चैतन्य या मीरा जैसे सन्त इतनी ही तन्मयता से अपनी 'नवधा-भक्ति' का प्रदर्शन गाकर करते रहे हों।

किशोरी अमोनकर की गायकी संशय और आश्वस्ति के बीच आवाजाही करती है। एक दार्शनिक किस्म का गायन, जिसमें इस बात की पूरी सम्भावना बनी रहती है कि गायक, सुनने वाले की मानसिक स्थिति एवं उसके हृदय को पूरी तरह भिगो देगा या धो डालेगा। 'सोल-वाशिंग' जैसी प्रक्रिया जहाँ ज्ञान और जिज्ञासा के बीच का फर्क मिट जाता है। एक आत्ममुग्ध किस्म का खेल, जैसा भक्ति-युग में चैतन्य महाप्रभु, आण्डाल या अक्क महादेवी किया करती थीं। जयपुर-अतरौली घराने के बारे में यह किंवदन्ती मशहूर है कि अल्लादिया खाँ साहब के घराने में कोई बेसुरा नहीं गाता। अब अल्लादिया खां साहब की प्रशस्त परम्परा, तिस पर किशोरी अमोनकर जैसी प्रगतिशील, घरानेदारी से दूर भागती कलाकार और उस सब के बाद रोज नए ढंग का नवाचार और प्रयोग। स्वरों की शुद्धता पर जोर, मगर ख्याल की अदायगी में तमाम घरानों में बटोरा गया हुनर। इस सब से मिलकर जो मिश्रण बनता है, वह उसी तरह 'दुर्लभ' और 'स्पृहणीय' है, जिस तरह दो रागों का जोड़ राग या अनवट राग इस घराने की पहचान रहे हैं। किशोरी अमोनकर का गायन भाव और बुद्धि का संगम है। एक प्रकार की दमसाज गायकी जैसी कि स्वयं अपनी माँ मोघूबाई कुर्डीकर या पूर्ववर्ती गायिका केसरबाई केरकर की अपने समय रही है। चूँकि जयपुर घराने की गायकी हमेशा ताल के साथ जाती है, इस कारण ताल की शुद्धता को पकड़े हुए, स्वरमंडल के साथ जुगलबन्दी करती किशोरी अमोनकर की 'पुकार' उन्हें समकालीनों में सबसे अलग करती है। इसी घराने की एक युवा गायिका श्रुति सादोलिकर की यह टिप्पणी उन्हें समझने की एक सुन्दर तस्वीर हमारे सामने पेश करती है - ''किशोरी जी की गायकी क्लिष्ट नहीं है। उन्होंने अछोप (अनवट) रागों को भी इस तरह गाया है, लगता है जैसे उन रागों की बंदिशों को सुगमतापूर्वक गाकर सुलझा दिया है।'' एक तरह से जयपुर घराने की खूबियों और विशिष्टताओं को आत्मसात करते हुए किशोरी अमोनकर का वृत्त बड़ा बनता है। श्रुति सादोलिकर जिन अछोप रागों को लेकर उन पर यह टिप्पणी करती हैं कि उन्होंने उन रागों को व्याख्या करने

के स्तर पर खोल कर गाया है,उसमें प्रमुख रूप से किशोरी जी ने लगभग सभी ऐसे रागों को अपनी गायकी का अंग बनाया है। ऐसी श्रेणी के रागों में **नट के प्रकार, बिलावल के प्रकार, कल्याण के प्रकार, मल्हार के प्रकार, काफी कान्हड़ा, ललित विभास, बसन्ती केदार** आदि आते हैं। इस सन्दर्भ में यह जानना भी प्रासंगिक होगा कि शुरुआती दिनों में, अपने गायन के बिल्कुल आरम्भिक वर्षों में, उन क्षणों में जिनमें किसी नवोदित के भीतर संस्कार पड़ते हैं, वे हीराबाई बडोदेकर, केसरबाई केरकर, सरस्वती राने और बड़े गुलाम अली खाँ को सुना करती थीं। इन सबको मिलाकर ही हमें आज की किशोरी अमोनकर सुलभ होती हैं। एक अपरोक्ष संस्कार के तहत जिन कलाकारों का प्रभाव उन्होंने स्वीकारा है, वह उनके उदार व्यक्तित्व की एक निशानदेही भर है।

'वीणा' को लेकर या वीणा के साथ किशोरी अमोनकर ने कभी नहीं गाया। लेकिन एक आस्थावान कलाकार के रूप में वे वीणा को संगीत में अत्यधिक आदर के साथ देखती आयी हैं। 'वीणा' उनका 'आल टाइम फेवरिट' वाद्य है और शायद इसलिए भी कि वीणा पर मींड़ (एक स्वर से दूसरे स्वर तक बिना टूटे जाना) बहुत सुगमता से व्यक्त होता है। वीणा उनके प्रेरणा पुरुष गुरु, राघवेन्द्र स्वामी भी बजाते रहे हैं। (ऐसी मान्यता है कि राघवेन्द्र स्वामी वीणा का एक प्राचीन प्रकार, सरस्वती वीणा बजाते थे) इन सब तर्कों के चलते किशोरी अमोनकर गाते समय अपनी गायकी में 'मींड़' की 'उपज' उस दैवीय वीणा का ध्यान करते हुए करती हैं, जो शायद उनके साथ मंच या सभा में कभी उपस्थित भी नहीं होती। एक गायक की यह दीवानगी या श्रद्धा उससे कुछ अत्यन्त 'कल्पनातीत' की सृष्टि कराते हैं, जो शायद प्रचलित अर्थों में एक घराने में महदूद रहने वाला कलाकार सोच भी नहीं सकता।

किशोरी अमोनकर की गायकी में हमें कुछ साहित्यिक पदों की बिल्कुल गैर पारम्परिक व्याख्या होती नज़र आती है। प्रतीक्षा, विरह, आकांक्षा और शान्ति ऐसे पद हैं जिनकी सबसे सफल व मार्मिक अभिव्यक्ति हमें किशोरी जी ही सुलभ कराती हैं। राग मियां मल्हार की सुप्रसिद्ध बन्दिश 'करीम नाम तेरो' तथा राग **भिन्न षड़ज** की बन्दिश '**उड़ जा रे कागा**' में शान्ति, **भैरवी** की ठुमरी '**अब रतियाँ किधर गंवाई रे ओ बालम हरजाई**' तथा राग **ललित विभास** में 'चलो री सखी सौतन घर' में विरह को तरजीह देती हुई उलाहना के साथ राग **भूप** की प्रसिद्ध बन्दिश '**सहेला रे आ मिल गायें**' में आकांक्षा की अभिव्यक्ति जैसी चीजें उनके बेजोड़ गायन की सबसे उत्कृष्ट बानगियाँ हैं। फिर स्वयं स्वीकारती भी हैं कि शब्दों को बिना समझे, उसमें भाव की प्रतिष्ठा के बगैर गायकी को कोई रूप, कोई बाना, कोई अर्थ नहीं मिलता। यहाँ मृणाल पाण्डे से किशोरी अमोनकर की बीतचीतका यह अंश सुनाना शायद प्रासंगिक जान पड़े – ''संगीतकार के लिए अमूर्त स्वरों से एक अमूर्त भावना को मूर्त कर पाना, सबसे कठिन चुनौती है और इस कोशिश में आप सारे शास्त्रीय नियमों को दूर हटा कर सिर्फ कला की आत्मा टटोलते हैं। अब यूँ **बागेश्री** में पंचम बहुत अल्प लगता है। कई बार तो लगाते ही नहीं पर सारे स्वरों से लौट फिर कर जब मैं क्षण मात्र को पंचम स्पर्श करूँगी तो भभककर उस राग की सारी करुणा स्पष्ट हो उठेगी। क्षण भर को ही, पर होगा। जो हम चरम बिन्दु की बात कर रहे थे ना 'इन्टेन्सिटी' की!, वह यही एक क्षणिक बिन्दु है – एक चरम साक्षात्कार का क्षण, जिसे छूकर फिर मैं पलटती हूँ – राग की ओर, स्वरों की ओर, श्रोताओं की ओर।'' यह दृष्टि सिर्फ कलाकार हो जाने भर से कोई गायक फनकार नहीं अर्जित कर सकता बल्कि इसके लिए अपने घराने की चौहद्दी को कई बार लाँघकर या छोड़कर जाना होता है। यहाँ परम्परा का अतिक्रमण उसी तरह अनिवार्य हो जाता है जिस तरह 'कला' को उसके शुद्धतम रूप में जानते हुए उसमें कुछ अतिरिक्त, मिलाने से प्राप्त होता है। यह कहा भी जाता है कि शुद्ध सोने के गहने नहीं बनते, मतलब सोने की भी अपूर्व प्रतिष्ठा एवं उसके स्थापत्य के लिए सोने को खोटा या दागी करना पड़ता है। और फिर कुछ अतिरिक्त धातुओं के मिश्रण से बना सोना ही गहने बनाने के लिए अनुकूल हो पाता है। किशोरी अमोनकर या भीमसेन जोशी की कला भी इसी प्रकार की कीमियागीरी

का प्रतिफल है। जयपुर अतरोली या किराना घराने की 24 कैरेट की प्रतिबद्धता गायकी को सौ टंच का स्पर्श नहीं देती। यहाँ विचलन, शास्त्रीय नियमों से मोहभंग एवं अपने घराने की पारम्परिक विश्वसनीयता में थोड़ा पददलित होने से ही गायकी का सर्वोत्कृष्ट सुलभ हो पाता है। शायद इसी कारण पं. भीमसेन जोशी कहते हैं- ''मैंने अपने घराने से अलग, अन्य घरानों से बहुत कुछ सीखकर इतना कुछ चुराया है कि मेरी गायकी उससे एकाएक खिल उठी है। अन्य घरानों से सीखी चीजों को मैंने इस कदर आत्मसात किया है कि मेरी अपनी घराने की गायकी में उन तत्त्वों के समावेश के बावजूद आप मेरी चोरी को नहीं पकड़ सकते।'' किशोरी अमोनकर थोड़ा व्यग्र होकर इसी बात को दोहराती हैं - ''I do not restrict myself to a gharana because music is universal.'' (मैं अपने को किसी घराने में महदूद नहीं करती क्योंकि संगीत शाश्वत है।)

घराने से विचलन और गायकी का सर्वोत्तम पाने की कोटि में सिर्फ, किशोरी अमोनकर ही नहीं रहीं; बल्कि यह स्थिति उनके यहाँ उनकी परम्परा, उस्ताद अल्लादिया खां के समय से चलती चली आई है। और अब तो यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में वही कलाकार मूर्धन्य की श्रेणी में आ सके हैं जिन्होंने अपने घराने को पीठ दिखाते हुए लीक से थोड़ा दायें-बायें चलने का प्रयास किया है। उस्ताद फैयाज़ खाँ, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, उस्ताद अमीर खाँ, केसरबाई केरकर, पं. निवृत्ति बुआ सरनायक, पं. मल्लिकार्जुन मंसूर, पं कुमार गन्धर्व, भास्कर बुआ ऐसे ढेरों नाम हैं, जिन्होंने अपने गायन से घरानेदारी की चौखट को सीमित किया है।

अपनी माँ की तरह किशारी अमोनकर का यह सौभाग्य रहा कि समय-समय पर उनको अंजनीबाई मालपेकर, मोहनराव पालेकर, अनवर हुसैन खाँ, शरतचन्द्र आरोलकर और पं. हुस्नलाल जैसे गुरुओं-उस्तादों से संगीत की बारीकियों को सीखने के मौके मिले। इनमें से अधिकांश उनके घराने की छत के बाहर के लोग थे, जिन्होंने अपने सम्मिलित प्रयासों से एक विशिष्ट गायिका किशोरी अमोनकर का परिचय संगीत समाज से करवाया। इनमें आगरा घराने के अनवर हुसैन खाँ साहब ने किशोरी जी को मात्र एक चीज, राग **बहादुरी तोड़ी** सिखाई। वहीं अंजनीबाई मालपेकर ने उनकी गायकी में मींड़ को दुरुस्त किया। पं. हुस्नलाल ने सुगम संगीत और ग़ज़ल की बारीकियों से किशोरी जी का परिचय कराया। इस तरह अन्य घरानों की बारीकियों से समृद्ध होती हुई किशोरी अमोनकर ने जयपुर घराने की गायकी को आत्मसात करते वक़्त शास्त्रीय संगीत की शुद्धता, बंदिशों में भाव की महत्ता तथा रागों में तान, मींड़ और आलापचारी में महारत हासिल कर ली। पं. भीमसेन जोशी के शब्द उधार लेकर कहें तो अब यह वह किशोरी अमोनकर हैं, जिन्होंने अन्य घरानों से चीज़ें चुराकर इस तरह आत्मसात किया है कि वह एक दर्जे तक किशोरी अमोनकर की पहचान बन गया है।

किशोरी अमोनकर पर विमर्श करते समय जिस एक राग की चर्चा बेहद जरूरी है, वह राग जौनपुरी **(या जीवनपुरी)** है। हर कलाकार के जीवन में एक राग की आदयगी ऐसी हो जाती है कि वह उसके प्रतिष्ठा का लगभग रूपक ही बन जाता है। किशोरी अमोनकर वैसे तो राग **भिन्न षडज, मालकौंस, भूप, बहादुरी तोड़ी, ललित पंचम, पूरिया कल्याण** और **मीरा मल्हार** की गायकी में अपना सर्वोत्तम प्रदान करती हैं, मगर मुझे लगता है कि राग **जौनपुरी** का उनका गायन, विलम्बित में '**बाजे झन राजदुलारी तोरे आँगना**' और द्रुत में '**छूम छनन बिछुआ बाजे**' एक तरह से उनका 'सिग्नेचर-राग' बन गया है। ठाकुर जयदेव सिंह ने '**जौनपुरी**' के इस प्रदर्शन को अत्यन्त भाव प्रवण गायकी का उदाहरण माना है। एक हद तक ठाकुर जयदेव सिंह का यह कथन महत्वपूर्ण इसलिए भी है कि बेहद जटिल रागों और तानों के लिए मशहूर इस घराने में वे '**जौनपुरी**' जैसा मीठा राग लेकर उसकी अपूर्व प्रतिष्ठा कर देती हैं। यह उनके कलाकार की

खासियत है कि असमंजस और अधीरता का कोई सूत्र वे अपनी रागदारी के फैलाव के वक्त नहीं देतीं। व्याकरण के बँधे-बँधाये सीमान्त से अलग हटकर, वे 'राग' का इतना विस्तृत और साफ-सुथरा 'लैण्डस्केप' रचती हैं, जहाँ रस, भाव व आस्वाद की परिणति बेहद सात्विक से लगते भावनात्मक वैभव में तिरोहित हो जाती है। भारतीय शास्त्रीय संगीत शायद इसी मायने में अन्य देशों के संगीत से भिन्न तथा अनूठा है कि उसमें होने वाले ढेरों परिवर्तन व प्रयोग के बाद भी उसमें भाव तथा रस की गुंजाइश छूट ही जाती है। सिर्फ ख्याल या दादरा ही नहीं, टप्पा और अन्य गायकी में भी यह बात ध्यान देने लायक है कि वहाँ गायक और श्रोता के बीच कहीं एक अनाम डोर जुड़ी रहती है जिसके सहारे 'आस्वाद' का अनुभव किया जाता है। यह डोर जितनी नाजुक होती है, कलाकार के ऊपर अपने श्रोता को प्रभावित करके बाँधे रखने का दायित्व उतना बड़ा होता है। ऐसे में ये कलाकार रस और भाव की ही गुफा में जाकर शरण खोजते हैं। एक सम्मोहन के रचे जाने भर की अवधि के लिए गायकी में रस का उत्पन्न होते रहना बेहद अनिवार्य हो जाता है। किशोरी जी जैसे कलाकार की सिफ़त यह है कि उनके यहाँ भाव और रस की डोर एकदम अदृश्य सी लगती हुई भी बेहद मजबूत होती है, जिसमें वे अपने श्रोता को ज्यादा लम्बी अवधि तक साधारणीकरण की दुनिया में बाँधे रखती हैं। ऐसे में वहाँ राग और समय भी अप्रासंगिक हो जाता है। केवल गायक की स्वर-यात्रा का अनुभव जादुई स्तर तक रस में डूबे श्रोता करते रहते हैं। किशोरी जी की कला दरअसल एक सम्पन्न गायक की शिखर पर पहुँच चुकी कला का अप्रतिम उदाहरण है, जिसको बार-बार सुनने पर एक दुर्लभ किस्म का आत्मिक संतोष होता है।

यह कम लोग जानते होंगे कि किशोरी अमोनकर के रियाज का कमरा, जिसे वे 'साधना-कक्ष' कहतीं हैं, सफेद है। हर ओर सिर्फ सफेद रंग की सत्ता, जिसमें एक कलाकार अपने मनचाहे रंग भर सकता है। 'सफेद' के बारे में, अगर थोड़ी देर के लिए हम उसे एक 'बिम्ब' मान लें, तो ऐसी अनुभूति है जहाँ सिर्फ एक बिन्दु या विराट के छूटने का आभास मिलता है। यह धवलता साधनामार्गियों के लिए अपना विशिष्ट अर्थ लिए होती है, लेकिन सामान्य जन उसमें सिर्फ उदासीनता या अलगाव का अर्थ लेते मिलते हैं। अगर किशोरी अमोनकर की गायकी को एक रंग या एक शब्द या एक पंक्ति में बाँधकर समझाना पड़े तो शायद सफेद रंग ही ऐसा होगा, जो उनकी 'कला' के विस्तार के अर्थ में सबसे सटीक ठहरे। जैसे सफेदी अपनी सम्पूर्णता में ढेरों रंगों की संभावना लिये हुए भी अकेली और प्रशस्त होती है, उसी तरह किशोरी अमोनकर की गायकी तानों के समृद्ध जंगल से दूर, गमक और मुरकियों के छोटे-छोटे अलंकरणों से दूर, 'स्वर' को पहचानती हुई अकेली खड़ी मिलती है। वह 'स्वर' को साधती हुई निस्संग अँधेरे में, आश्वस्ति की गुहार है, जहाँ 'सफेद' की या 'स्वर' की अपूर्व सम्भावना बिखरी हुई है।

भरत के नाट्यशास्त्र में एक शब्द आता है - 'लोकधर्मी'। लोकधर्मी से अभिप्राय उन धर्मों से है, जो लोकसिद्ध हैं तथा जिसका ग्रहण कवि या अभिनेता, काव्य कला या अभिनय में अत्यन्त सहजता एवं प्राणवत्ता के साथ करता है। किशोरी अमोनकर पदों और बंदिशों के चयन में इतनी सतर्क हैं कि ज्यादातर बंदिशें लोकधर्मी समाज से चुनकर गाती हैं। उनके यहाँ भक्त कवि या संत जितनी प्रमुखता से दिखायी पड़ेंगे, राजदरबारों के कवि-वाग्गेयकार, सदारंग-अदारंग जैसे लोग भूले भटके ही ढूंढ़ने पर मिलेंगे। फिर जिस प्राणवत्ता के साथ उनकी आवाज़ 'स्वरों' पर अर्थ की व्याख्या के लिए बलाघात करती है, वह देखने लायक है। कबीर के भजन **'मैं कैसे आऊँगी साँवरिया तोरी विकट नगरिया'** में 'तोरी' शब्द पर इस तरह बलाघात होता है कि यह देखते ही बनता है - यह जो नगरी - वह कितनी अगम्य, कितनी दूर है और जहाँ एक साधारण स्त्री की पहुँच न के बराबर है। इस मामले में किशोरी अमोनकर आध्यात्मिकता के करीब रहते हुए कहीं सामाजिकता के बहुत पड़ोस तक चली आती हैं। उनके लिए फिर कृष्ण और कबीर में, स्त्री और पुरुष में, भक्ति और सत्ता में, ज्ञान और आस्था में भेद कर पाना बहुत आसान हो जाता है।

किशोरी अमोनकर की बात हो और उनके मिज़ाज की चर्चा न हो तो बात कुछ अधूरी सी लगती है। उनको लेकर इतनी बातें, ढेरों किस्से, नकचढ़ेपन की कहानियाँ और नाराजगी आदि के इतने ब्यौरे संगीत हल्कों में सुनाई देते हैं जितने कि शायद साहित्य, सिनेमा या राजनीति के क्षेत्र में किसी और के बारे में नहीं सुने गये होंगे। लेकिन ये सारी बातें जहाँ एक ओर उनके चाहने वालों या संगीतज्ञों के बीच में उनकी कुछ-कुछ रहस्यमय सी छवि गढ़ते हैं, वहीं, दूसरी ओर इस बात का भी इशारा करते हैं कि अपनी गायकी एवं व्यक्तित्व की परस्पर विरोधी लगने वाली छवियों के बावजूद भी वे हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में केन्द्र स्थानीय चरित्र रही हैं। उनको लेकर होने वाले इतने शोर का सीधा सा एक मतलब उनका विशुद्ध रूप से बड़ा कद होना ही है।

किशोरी अमोनकर जैसे कलाकार के बारे में कुछ भी तय कर पाना या स्थापित कर पाना मुश्किल नहीं, तो कम से कम जोखिम भरा काम है। क्योंकि आप जब तक किसी तर्क की प्रतिष्ठा में संलग्न होंगे, हो सकता है किशोरी अमोनकर किसी मंच पर स्वरमंडल से बिल्कुल नयी जमीन तोड़ती गज़लनुमा ठुमरी गाती दिखाई दे जायें। या किसी महफिल में श्रोता और आयोजकों पर नाराज होकर अपने ख्याल गायन का मूड ही चौपट कर डालें। यह भी बहुत मुमकिन है कि शुरुआती दिनों में 'गीत गाया पत्थरों ने' जैसी फिल्म के लिए बिलकुल व्यावसायिक गायन करते हुए आज किसी नयी फिल्म में उप शास्त्रीय गायन करने लगें, जैसा कि हाल ही में उन्होंने 'दृष्टि' फिल्म के लिए गाकर किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि किशोरी अमोनकर जैसी जीवन्त और हमेशा प्रयोग करते रहने वाली कलाकार से कुछ भी पारम्परिक या लीक में बंधा हुआ पाने की आकांक्षा बेमानी है। वे हमें अपने गायन से हरदम आश्वस्त तो करती ही रहेंगी, मगर सागर में उठने गिरने वाली लहरों की तरह अक्सर चौंका भी देंगी। वे सही मायनों में अवाँ-गार्द हैं। शुद्धतम रूप में नवाचार की प्रबल पक्षधर। भले ही वे समवेत स्वर की बंदिश **'सहेला रे आ मिल गायें'** गाकर राग की अद्‌भुत प्रतिष्ठा कर देती हों, मगर उन्हें सुनने वाला जानता है कि दरअसल वे कोरस में मिलकर नहीं बल्कि अकेली ही एकदम अवधूत की भाँति गाती हैं और लीक छोड़ कर चलती हैं। **'सहेला रे आ मिल गायें'** की बंदिश से ज़्यादा यहाँ उन पर कबीर की गायी भजन की पंक्तियाँ चरितार्थ होती हैं -

मैं कैसे आऊँगी
साँवरिया तोरी विकट नगरिया
मैं कैसे आऊँगी

यह हम सभी जानते हैं कि उन जैसा कलाकार भीड़ में अलग ही खड़ा दिखाई देता है और अपने ईश्वर को खोजता हुआ बीथोवन की तरह अकेले रहने को मजबूर होता है।

* *

यतीन्द्र मिश्र का जन्म 12 अप्रैल 1977 को अयोध्या में हुआ। अब तक तीन कविता संग्रह प्रकाशित। हाल ही में राजकमल से उनका संग्रह ''इयोढी पर आलाप'' आया है। अर्धवार्षिक पत्रिका ''सहित'' के संपादक हैं। गिरिजा देवी की गायकी और उनके सांगीतिक अवदान पर हिन्दी और अंग्रेजी में पुस्तक प्रकाशित। पहल में पहली बार। अगली बार इस श्रृंखला में वे सत्यजीत रे पर लिखेंगे।

ओरहान पामुक

आमने सामने

कट्टरवादी ताकतों और आधुनिकता के पैरोकारों से सवाल

अनुवाद : शिवप्रसाद जोशी

7 जून 1952 को तुर्की की राजधानी इस्तांबुल में इंजीनियर पिता के रईस परिवार में जन्मे ओरहान पामुक इस समय तुर्की के सबसे ज्यादा लोकप्रिय उपन्यासकार माने जाते हैं और समकालीन यूरोपीय साहित्य में भी उनका नाम अदब से लिया जाता हैं। पामुक ने 1977 में इस्तांबुल युनिवर्सिटी से पत्रकारिता में स्नातक किया लेकिन इसे पेशे के तौर पर अपनाने से पहले ही वो लेखन की ओर मुड़ गए। 1985 से 1988 तक वो अमेरिका में रहे और इस दौरान मशहूर आयोवा युनिवर्सिटी में विज़िटिंग फेलो भी बने। 1974 से यानी 22 साल की उम्र से पामुक सिर्फ लेखन कर रहे हैं। किशोर उम्र में पामुक को पेंटिंग का शौक था और वो पेंटर बनना चाहते थे। लेकिन स्मृति, इतिहास, अकेलेपन से प्रेम और एक सूफियाना किस्म के मिज़ाज ने उन्हें धीरे धीरे लेखन के करीब कर दिया। पिछले इकतीस साल से लेखन में सक्रिय पामुक के इस लंबे रचनाकाल से ही समझा जाता है कि वो कितने धक्काड़ लेखक हैं। उनकी किताबों का दुनिया की 20 से 30 भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। पाठकों को बता दें कि ओरहान पामुक का लेखन यूरोप और अन्य पश्चिमी मुल्कों में बड़ी हलचल पैदा कर चुका है और आने वाले कुछ वर्षों में वो नोबेल के साहित्य पुरस्कार के सबसे प्रबल दावेदारों में गिने जाने लगे हैं।

उनके पहले उपन्यास, Karanlik ve Istk (Darkness and Light) को 1979 में मिलियत प्रेस की एक नॉवल प्रतियोगिता में साझा तौर पर पहला पुरस्कार मिला। 1982 में ये उपन्यास Cevdet Bey ve Ogullari (Mr. Cevdet and His Sons) के नाम से छपा और ये इस्तांबुल के बुर्जुआजी पर केंद्रित एक क्लासिकल महाआख्यान है। 1983 में इसे ओरहान कमाल पुरस्कार मिला। 1983 में ही प्रकाशित अपने दूसरे उपन्यास Sessiz Ev (The Silent House) के लिए पामुक को 1984 में तुर्की का एक सम्मान और 1991 में इसके फ्रेंच अनुवाद के साथ यूरोप का एक प्रतिष्ठित पुरस्कार हासिल हुआ। 1985 में पामुक का ऐतिहासिक उपन्यास Beyas Kale (The White Castle) आया जिससे पामुक का अंतर्राष्ट्रीय साहित्य में सम्मान और बढ़ गया। 1990 में इसे भी पुरस्कृत किया गया। एक तुर्किश मालिक और एक यूरोपियाई गुलाम के आपसी संबंधों पर लिखा गया ये उपन्यास पामुक की पारंपरिकता और आधुनिकता को मिलाने के चिंतन या उनमें सामंजस्य की छटपटाती तलाश की एक बेजोड़ मिसाल भी माना जाता है। उपन्यास के अंत में एक समीक्षा के मुताबिक दोनों मुख्य पात्रों में फर्क करना नामुमकिन हो जाता है। उनमें से एक की मृत्यु हो जाती है लेकिन पामुक के शिल्प का करिश्मा ही है कि पाठक तय

नहीं कर पाते कि मरने [illegible] पामुक की तारीफ में तब लिखा कि ''पूरब में एक नया सितारा प्रकट हो चुका है।'' उनके पांचवे उपन्यास *Yeni Hayat (new life)* ने तो मानो तहलका ही मचा दिया। इस नॉवल की अपार ख्याति का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि न सिर्फ तुर्की में इसकी बहुत ज़बर्दस्त बिक्री हुई बल्कि तुर्की के आधुनिक साहित्य में सबसे ज़्यादा और सबसे तेज़ी से बिकने वाली रचना पुस्तक भी ये मानी गयी। आलम ये रहा कि किताब के पहले प्रिंट की एक लाख की बेजोड़ रिकार्ड बिक्री पर एक अखबार ने जब यकीन नहीं किया तो किताब के प्रकाशकों ने इस पर अदालत का दरवाज़ा खटखटा दिया। 2002 में उनका छठा उपन्यास Kar (Snow) आया और 2003 में सातवां उपन्यास Istanbul-Hatiralar ve Sehir (Istanbul) इस तरह देखें तो पामुक के लिखने की रफ्तार और लेखकीय कौशल किसी करिश्मे से कम नहीं।

देश के इस्लामी बुद्धिजीवी, पामुक पर पश्चिमी उत्तर आधुनिकता के नाम पर ऐतिहासिक और धार्मिक मान्यताओं से छेड़छाड़ का आरोप लगाते हैं। दूसरी तरफ देश का 'सेक्युलर' सत्ता प्रतिष्ठान देश की आइडोलॉजी की अनदेखी के लिए उन्हें कोसता रहा है। पामुक कुर्दों के हालात पर अपने सत्ता विरोधी नज़रिए के लिए भी जाने जाते हैं। अपने नरम बग़ावती लेखकीय मिज़ाज की वजह से पामुक नयी पीढ़ी को काफी आकर्षित करते हैं। तुर्की में इस्लाम और सेक्युलरिज़्म के बीच चले आ रहे द्वंद्व को पामुक का लेखन न सिर्फ रेखांकित करता है बल्कि ऐसे सवाल और निदान भी उपलब्ध कराता है जिस पर सहसा ग़ौर कर लेना सत्ता प्रतिष्ठान और समाज को सूझ ही नहीं रहा। पामुक इस विडंबना को उजागर करने वाले लेखक माने जाते हैं। वो कहते हैं कि ये मान लेने में क्या हर्ज है कि तुर्की की दो आत्माएं हैं और वे एक दूसरे से कभी टकराती नहीं। उनका ये सवाल पश्चिम के लेखन जगत में बहस बनाता रहा है कि भौगोलिक तौर पर तुर्की यूरोप का हिस्सा है लेकिन राजनैतिक तौर पर उसकी जगह कहां हैं। अपने शहर इस्तांबुल के बारे में पामुक का कहना है कि इसकी न कोई सिमिट्री है, न इसका कोई ज्यामितीय बोध, यहां तक कि दो समांतर रेखाएं भी नहीं, परंपरा और आधुनिकता पर बहसें अपने यहां भी उठायी जाती रही हैं और परंपरा को ठोकर मारने की नकली अधकचरी आधुनिकता और मक्कार बौद्धिक प्रवृत्तियां भी यहां देखी जा सकती हैं ठीक उसी तरह जैसे परंपरा के नाम पर निहायत अश्लील और घातक किस्म का कठमुल्लापन, पिछड़ापन और अतीतोन्माद भी पसरा हुआ देखा जा सकता है। पामुक अपने तुर्की में दर्दनाक और अक्सर उग्र हो उठते इस विरोधाभास से जूझते हुए अपनी छटपटाहट दर्ज करते रहे हैं। पामुक का कहना है कि उनके लेखन में जिन चीज़ों को आमतौर पर प्रयोगधर्मी, अनूठा और नया पाया जाता है, वे दरअसल पारंपरिक रूपों और स्थितियों की महज़ एक पुनर्खोज हैं। उनका एक प्रसिद्ध वक्तव्य है कि, ''अगर स्मृतियों को दबाए रखने की कोशिशें की जाएंगी तो कुछ न कुछ हमेशा लौट लौट कर आएगा। जैसे कि मैं...''

प्रस्तुत अनुवाद, पामुक के चर्चित उपन्यास स्नो (बर्फ) का एक अंश है। मूल तुर्की में मॉरीन फ्रीली ने इसका अँग्रेज़ी में अनुवाद किया है। उपन्यास यूके में फेबर और अमेरिका में अल्फ्रेड ए नॉफ द्वारा प्रकाशित है। उपन्यास का ये अंश A religious conversation शीर्षक से ग्रांटा-85, स्प्रिंग 2004 अंक में छपा है। ये उपन्यास तुर्की में कार्स नाम से छपा था, अंग्रेज़ी में जिसके माने बर्फ है। तुर्की के सुदूर छोर पर बसा कार्स उपेक्षा, जिल्लत, पिछड़ेपन, कट्टरवाद, पश्चिमीकरण और हुकूमत के दमन से दबा कराहता छोटा सा शहर है जहां कई वर्षों का निर्वासन बिताकर एक कवि लौटता है। उसकी निगाह से कार्स के राजनैतिक सामाजिक हालात को परखा गया है। समाज में फैली जड़ता, धार्मिकता के नाम पर कट्टरवादी ताकतों के असर और सेक्युलर सरकार के डाइलमा पर पामुक उँगली रखते हैं। सिर पर स्कार्फ ओढ़कर यानी पर्दा कर स्कूल कालेज जाने वाली लड़कियों को तालीम से मनाही के सरकारी आदेश के खिलाफ

नफरत और बदले की भावना के हिंसक इज़हार, आधुनिकता पर यकीन करने वालों को पश्चिम का गुलाम मानने वाली इस्लामी बौद्धिकों की जमात और खुद उनके भीतर पनप रहे अंतर्विरोधों को उपन्यास में उठाया गया है। बड़े पैमाने पर लड़कियां बगैर कुछ कहे बगैर कुछ बताए आत्महत्या कर रहीं थीं। कुछ कुछ जादुई यथार्थवाद की छाया में पामुक ने आत्महत्याओं के अंतहीन सिलसिले को बयान किया है। सरकार और समाज में कहीं से कोई ऐसा असरदार और ईमानदार चिंतन नहीं उठ रहा जो इस घटनाओं को काबू में करने पर कुछ कह सके। कुछ हलकों में पामुक के इस उपन्यास को पश्चिम परस्त और कुछ हलकों में रूढ़िवाद और मज़हबी कट्टरता का समर्थक कहा गया। लेकिन सच तो ये है कि पामुक ने एक रचनाधर्मी के अंतर्राष्ट्रीय दायित्वबोध के साथ इस उपन्यास में विवादास्पद से दिखने वाले मुद्दों को छुआ है। वो निर्भयता के साथ निजाम को चुनौती देते हैं जो सेक्युलरवाद और मॉडर्निटी का तहखाना विकसित कर उसकी आड़ में दकियानूसी तरीके से परंपरा और मान्यता और कोमल विश्वासों को रौंदने पर आमादा नज़र आता है, उसी बेलाग बिंदास अंदाज़ में वो इस्लामी बौद्धिकता के किनारों पर पनप रहे कट्टरवाद और उससे निकलने वाली नफरत की आग को भी ललकारते दिखते हैं। चाहे उसकी आंच से उनकी आत्मा का कोई कोना क्यों न झुलस जाए। इस लिहाज़ से पामुक का समूचा लेखन और खास तौर पर ये नॉवल 'स्नो' राजनीति और परंपरा और स्मृति के मैदानों में बढ़ रही वीरानियों के प्रति खबरदारी का एक सशक्त ज़रिया बन गया है; शायद इसलिए जो पॉजिटिव लेकिन धीमे धीमे होने वाले बदलाव से जुड़ी ज़ाहिरा आलोचना और विवाद का जोखिम उठाने से भी ग़ुरेज़ नहीं करता। पाठकों की सुविधा के लिए बता दें कि इसी साल अप्रैल में लंदन स्थित बीबीसी रेडियो-3 पर स्नो के एक भाग का नाट्यरूपांतर भी पेश किया गया और स्नो को न्यूयार्क टाइम्स ने 2004 की दुनिया की 10 सर्वश्रेष्ठ किताबों में शुमार किया है।

स्नो के इस अंश में कार्स के ऐसे ही अँधेरे से घिरे हालात में एक कॉफी की दूकान पर एक जुनूनी हत्यारे के साथ शिक्षा निदेशक का मार्मिक वार्तालाप है। जिसमें सिर पर स्कार्फ धारण करने वाली लड़कियों को शिक्षा की मनाही के मुद्दे को धर्म और सियासत, परंपरा और आधुनिकता, इतिहास, भूगोल और स्मृति के विरोधाभासों, टकराहटों और द्वंद्व के लहुलूहान मंज़र पर उठाया गया है। उपन्यास के कवि को कार्स की यात्रा के दौरान ये वाक्या भी पता चलता है जो संयोग से शिक्षा निदेशक के पास मौजूद टेप रिकार्डर में शुरू से अंत तक दर्ज हो गया था। इस इस तरह गुम हो चुके इतिहास और मान्यताओं और आधुनिकता की टकराहट की कई अंतरकथाएं इस उपन्यास के शिल्प में कवि की यात्रा के साथ बहती है हैं। कुछ उसके मन में, कुछ उसके सामने।

(उपरोक्त टिप्पणी टाइम पत्रिका के 13 सितम्बर 1999 के अंक की इंटरनेट प्रति और पामुक के रचनाकर्म पर इंटरनेट में उपलब्ध विभिन्न साहित्यिक और अखबारी साइट्स पर प्रकाशित सामग्रियों के आधार पर)

पामुक ने इस कहानी के जरिए कट्टरवादी ताकतों और आधुनिकता के पैरोकारों के सामने बुनियादी सवाल उठाए हैं। पामुक द्वंद्वात्मक किस्म की समझदारी के साथ कठमुल्लेपन को बेपर्द भी करते हैं, जो औरतों के सम्मान की हिफाज़त के लिए महज़ एक पर्दा चाहता है, बाकी सवालों पर खामोश है जो औरत के विकास और आज़ादख्याली से जुड़े हैं। इसके बरक्स ख़तरनाक स्थिति ये भी है कि जब प्रगतिशीलता का जामा पहने रहने के बावजूद कोई विचार औरत की मुकम्मल हिफाज़त या सपोर्ट में सामने आने से कतराता है, उसकी चीखों की मापजोख कभी साहित्यिक कभी राजनैतिक अंदाज़ में करता है और इस तरह उन्हें कट्टरपंथ के जबड़े में जाने देता है। और अगर ये विचार सत्ता प्रतिष्ठान से ताल्लुक रखता हो और उसके बावजूद नाकारा बना रहे (यथास्थितिवादी) तो हालात की भयावहता और जटिलता

का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। अपने यहां भी सत्ता तंत्र की इन कमज़ोरियों को भला कौन नहीं जानता, जिसका फायदा अंततः समाज को पीछे ले जाने वाली, उसमें दरार पैदा करने वाली और उस दरार में मासूमों को फेंक देने वाली ताकतें उठाती रही हैं। सेक्युलर होना एक व्यवस्था को मानने से कहीं बढ़कर, एक मानवीय नैतिक विश्वास में पुरज़ोर यकीन रखना है। कहने को आप सेक्युलर मुल्क में हों और वहां मस्जिद गिरायी जाएं, प्रेम करने वालों को मौत या समाज से बेदखल करने की सज़ा सुनायी जाए, स्कूल-कॉलेज से लौटती लड़कियों पर सरेराह कारों में उठाकर ज़ुल्म किया जाए, उन्हें गर्भ में ही चिह्नित कर मार दिया जाए, उन्हें बुनियादी हकों से महरूम रखा जाए जिनमें शिक्षा और स्वास्थय जैसे मुद्दे भी शामिल हैं या गुजरात कांड जैसी वीभत्सताएं हों तो ये आखिर क्या माजरा है? समझ और दायित्व और कार्रवाई की अनुपस्थिति के इस शून्य में कौन पनप रहा है और फना कौन हो रहा है? पामुक अपने मुल्क की राजनैतिक सामाजिक विडंबना को ऐसे ही समझ रहे हैं। जहाँ उनके मुताबिक आधुनिकतावाद को बढ़ावा देने के नाम पर स्थानिकता, परंपरा और स्मृतियों को कुचला जा रहा है, और परंपरा और मान्यताओं की रखवाली के नाम पर मज़हबी उग्रवाद की विषबेल जड़ें जमा रही है। आधुनिकता और परंपरा ख्याल की गठरी में बंद, आहें भर रही हैं, कैसा असहज संयोग है कि ये दोनों स्त्रीलिंग शब्द हैं।

आमने सामने

'आदाब अर्ज़ है, जनाब! क्या आपने मुझे पहचाना?'

'नहीं, माफ करना, नहीं पहचाना।'

'यही सोचा था मैंने कि आप यही कहेंगे, जनाब। क्योंकि हम कभी नहीं मिले हैं। मैं कल रात आया था और आपसे मिलने की कोशिश की थी और आज सुबह फिर की। कल पुलिस ने मुझे स्कूल के गेट पर फटकने नहीं दिया। आज सुबह मैं किसी तरह अंदर घुसा लेकिन आपके सेक्रेटरी ने आपसे मिलने नहीं दिया। मैं आपके क्लास में जाने से पहले ही आपसे मिल लेना चाहता था। तभी आपने मुझे देखा था। अब आपने मुझे पहचाना, सर?'

'नहीं!'

'क्या आप ये कह रहे हैं कि आपको मेरी याद नहीं, या ये कि आपको इस बात की याद नहीं कि मुझे देखा था?'

'तुम क्या चाहते थे कि मैं क्या देखता?'

'अगर सच कहूं, मैं आपसे घंटों, शायद कई दिनों तक बात करना चाहता हूँ। दुनिया की हर चीज के बारे में आपके ख़्याल जानना चाहता हूँ। आप एक आलिम फाजिल मुमताज़ शख्स हैं। अफसोस, कि मैं अपनी तालीम जारी न रख सका। लेकिन एक मसला है जिसका मुझे आगा पीछा सब मालूम है। और इसी मसले पर मैं आपसे बातचीत का तलबगार था। मुझे माफ करिएगा, जनाब! कहीं मैं आपका बहुत ज़्यादा वक्त तो नहीं ले रहा हूँ?'

'बिल्कुल नहीं।'

'माफ करिएगा, जनाब, क्या मैं बैठ जाऊं? हमें बहुत सारे मसलों को सुलझाना है।'

'ज़रूर! खुद को मेरा मेहमान समझो! (किसी के कुर्सी खिसकाने की आवाज़)'

'देखता हूँ कि आप अखरोट वाली पेस्ट्री खा रहे हैं। टोकाट (tokat) में बहुत सारे अखरोट के पेड़ हैं। क्या आप कभी टोकाट गए हैं?'

'माफ करना, मैं कभी गया नहीं।'

'बड़ा अफसोस हुआ सुनकर, जनाब। कभी आप अगर जाएं, तो मेरे साथ रहिएगा। मैंने अपनी पूरी ज़िंदगी टोकाट में बितायी है। पूरे छत्तीस साल। टोकाट बहुत सुंदर है। बाकी तुर्की भी बहुत ख़ूबसूरत है। लेकिन ये बड़ी शर्म की बात है कि अपने मुल्क के बारे में हम इतना कम जानते हैं, कि अपने ढंग से प्यार करने लायक इसे अपने दिल में पाते ही नहीं। बल्कि हम उन्हें तरजीह देते हैं जो हमारे मुल्क की हक़ारत (बेइज़्ज़ती) करते हैं और उसके लोगों को धोखा देते हैं। मुझे उम्मीद है आप बुरा न मानेंगे अगर आपसे एक सवाल पूछूं, जनाब! आप मुनकिर (नास्तिक) नहीं हैं, है न?'

'नहीं! मैं नहीं हूँ!'

'लोग कहते हैं आप हैं, लेकिन मुझे खुद ये समझने में दिक्कत हुई कि आपकी जैसी तालीम वाला आदमी-खुदा न करे - उसके वजूद को नकारे। लेकिन आप यहूदी नहीं हैं, क्यों?'

'नहीं, मैं नहीं हूँ।'

'आप मुसलमान हैं।'

'हाँ, इंशा अल्लाह। मैं हूँ'

'आप मुस्करा रहे हैं, जनाब। आप मेरा सवाल ज़रा ग़ौर से सुनें और ठीक से जवाब दें! क्योंकि सिर्फ इस सवाल पर आपका जवाब सुनने, मैं कड़ाके की इस ठंड में टोकाट से चला हूँ।'

'टोकाट में तुम्हें मेरे बारे में कैसे पता चला?'

'इस्तांबुल के अखबारों में आपके उस फैसले के बारे में कुछ नहीं छपा था जिसमें आपने उन लड़कियों को स्कूल में रखने की मनाही की थी जो अपने मज़हब और पाक कुरान के मुताबिक अपना सिर ढांपे रहती हैं। वे सभी अखबार फैशन मॉडलों के स्कैंडलों का ख्याल रखते हैं लेकिन अपने खूबसूरत टोकाट में हमारा एक मुस्लिम रेडियो स्टेशन है जिसका नाम है फ्लैग, जो हमें मुल्क के हर कोने में अल्लाह के बंदों पर होने वाले ज़ुल्मो सितम के बारे में बताता रहता है।'

'मैं एक मोमिन (आस्तिक) पर कभी ज़ुल्म नहीं कर सकता। मैं भी खुदा से डरता हूँ।'

'मुझे यहां पहुंचने मे दो दिन लगे जनाब। बर्फीली, तूफानी सड़कों पर दो दिन। बस में बैठे हुए मैं सिर्फ आपके बारे में सोचता था। और मेरा यकीन करें, मुझे कतई पता था कि आप मुझसे यहीं कहेंगे कि आप खुदा से डरते हैं। अब ये रहा वो सवाल जो मैंने उस वक्त सोचा था कि आपसे पूछूंगा। पूरे अदब के साथ प्रोफेसर नूरी यिलमाज़-अगर आप खुदा से डरते हैं, अगर आप मानते हैं कि पाक कुरान में खुदा के बोल हैं, तो ज़रा सूरा अल-नूर की खूबसूरत इकतीसवीं आयत के बारे में अपने ख़्याल बताएं।'

'हां, यकीनन! इस आयत में साफ साफ लिखा है कि औरतों को अपना सिर और यहां तक कि अपना चेहरा ढांप कर रखना चाहिए।'

'मुबारक हो, जनाब! ये एक बढ़िया सीधा जवाब है। और अब आपकी इज़ाज़त से जनाब, मैं आपसे

कुछ और पूछना चाहता हूं। सिर ढांपने वाली लड़कियों को क्लास में आने से महरूम करने के अपने फैसले से, आप कैसे खुदा के हुक्म को टाल सकते हैं?'

'हम एक सेक्युलर मुल्क में रहते हैं। ये सेक्युलर मुल्क ही है जिसने पर्दा करने वाली लड़कियों को स्कूलों और क्लासों में आने पर रोक लगाई।'

'माफ करिए जनाब। क्या मैं आपसे एक सवाल पूछ सकता हूँ? क्या मुल्क का जारी किया क़ानून हमारे खुदा के हुक्म को ख़ारिज़ कर सकता है?'

'ये एक बहुत अच्छा सवाल है। लेकिन एक सेक्युलर मुल्क में ये बातें जुदा हैं।'

'ये एक अच्छा, सीधा जवाब है जनाब। क्या मैं आपके हाथ चूम सकता हूँ? मेहरबानी कर जनाब, डरें नहीं। अपना हाथ मुझे दें। अपना हाथ मुझे दें और देखें कि मैं कितनी मुहब्बत से आपको चूमता हूँ। ओह, अलहम्दोलिल्लाह (God be praised), शुक्रिया। अब आपको पता चला कि मेरे दिल में आपके लिए कितनी इज़्ज़त है! क्या मैं आपसे दूसरा सवाल पूछ सकता हूँ, जनाब?'

'ज़रूर, पूछो।'

'मेरा सवाल ये है जनाब, क्या ''आईन'' (constitution) शब्द का मतलब ''बगैर खुदा'' है?'

'नहीं।'

'ऐसे हालात में, आप ये कैसे समझाएंगे कि मुल्क क्यों इतनी सारी लड़कियों को सेक्युलरिज़्म के नाम पर क्लास से बेदखल कर रहा है, जबकि वे महज़ अपने मजहब के क़ानूनों पर अमल कर रही हैं?'

'ईमानदारी से देखें मेरे बेटे तो ऐसी बातों पर बहस करने से तुम्हें कुछ हासिल नहीं होगा। इस्तांबुल टेलीविज़न पर दिन और रात इस पर बहस होती है और इससे हमें क्या मिलता है? लड़कियां अपना सिर का स्कार्फ उतारने से अभी भी मना कर रही हैं और मुल्क उन्हें अभी भी क्लास में आने से रोक रहा है।'

'ऐसे हालात में, जनाब, क्या मैं आपसे एक और सवाल पूछूं? माफ करिएगा, लेकिन जब मैं अपनी इन ग़रीब, मेहनतकश लड़कियों के बारे में सोचता हूं जिन्हें तालीम की मनाही है, जो इतनी ख़ाकसार (विनम्र) और शरीफ़ हैं और जो अपने सिर खुदा ही जानता है कितने कानूनों के सामने पहले ही झुका चुकी हैं... एक सवाल पूछे बिना दिल नहीं मानता : ये सारी बातें उस सब में कैसे अंटती होती हैं जो हमारा आईन, तालीमी और मज़हबी आज़ादी के बारे में कहता है? बराएमेहरबानी, जनाब, बताइये मुझे। क्या आपका शऊर (conscience) आपको परीशान नहीं कर रहा?'

'अगर वे लड़कियां उतनी फरमाबदार हैं जितना कि तुम कह रहे हो, तब उन्हें सिर से स्कार्फ उतार लेने चाहिए थे। तुम्हारा नाम क्या है, मेरे बेटे? तुम कहां रहते हो? क्या काम करते हो?'

'मैं हैप्पी फ्रेंड्स टीहाउस में काम करता हूँ। जो कि टोकाट के मशहूर मॉथलाइट हमाम की बगल में है। मैं स्टोव और चाय के बर्तनों का इंचार्ज हूं। मेरा नाम अहमियत नहीं रखता। मैं दिन भर फ्लैग रेडियो सुनता रहता हूं। जब भी मैं खुदा के एक बंदे पर हुए जुल्म के बारे में सुनता हूं, मैं परेशान हो जाता हूं। और क्योंकि मैं जम्हूरियत में यकीन रखता हूँ, क्योंकि मैं एक आज़ाद आदमी हूं जो अपने मन से चल सकता है, तब मैं खुद को एक बस पर चढ़ा पाता हूं। तुर्की के आखिरी छोर तक उस जुल्मी की तलाश में, जहां भी वो है उससे हिसाब बराबर करने। आमने सामने। इसलिए, जनाब, मेरे सवाल का जवाब दीजिए। क्या चीज़ ज़्यादा अहम है, अंकारा का क़ानून या खुदा का क़ानून?'

'ये बहस बेमानी है, बेटा। तुम किस होटल में ठहरे हो?'

'क्या-क्या आप मुझे पुलिस के हवाले करना चाहते हैं? मुझसे डरिए मत, जनाब। मेरा किसी मज़हबी गुट से ताल्लुक नहीं है। मैं टेररिज़्म को पसंद नहीं करता हूं। मैं खुदा की मुहब्बत और ख़्यालों की आज़ादी में यकीन करता हूँ, इसके बावजूद कि मुझे फौरन गुस्सा आ जाता है। मैं आपसे इतना चाहता हूं कि आप इस सवाल का जवाब दें। इसलिए, जनाब, मुझे माफ करें, लेकिन जब आप अपने उस ज़ालिम रवैये के बारे में सोचते हैं जिसके साथ आप अपने इंस्टीट्यूट के सामने इन लड़कियों से पेश आए-जब आपको याद आता है कि ये लड़कियां महज़ खुदा की मर्ज़ी की तामील कर रहीं थीं जैसा कि पाक कुरान के सूरा अलह-अहज़ाब और सूरा अल-नूर सूरा में साफ तौर पर दर्ज है - तब क्या आपका शऊर आपको बिल्कुल भी बेचैन नहीं करता?'

'मेरे बेटे, कुरान में तो ये भी लिखा है कि लुटेरों के हाथ क़लम कर दिए जाने चाहिए। लेकिन मुल्क ऐसा तो नहीं करता। तुम इसकी मुख़ालफत क्यों नहीं करते?'

'बेहतरीन जवाब दिया, जनाब। मुझे अपने हाथ चूमने की इज़ाज़त दें। लेकिन आप एक लुटेरे के हाथ से हमारी औरतों की इस्मत की बराबरी कैसे कर सकते हैं? अमेरिका के एक काले मुसलमान प्रोफेसर मरविन किंग के जारी किए आंकड़ों के मुताबिक, उन इस्लामी मुल्कों में जहां औरतें अपने को ढांप कर रखती हैं, वहां बलात्कार की घटना न के बराबर है। और उन्हें सताने की बात तो सुनी ही नहीं जाती। ऐसा इसलिए है क्योंकि खुद को ढांप कर रखने वाली औरत एक बयान दे रही है। अपने पहनावे की पसंद के मार्फत वो कह रही है, मुझे मत सताओ। लिहाज़ा बराएमेहरबानी जनाब, मैं आपसे एक सवाल पूछूं? क्या हम वाकई अपनी इन औरतों को तालीम का हक़ ठुकरा कर समाज के हाशिए पर धकेलना चाहते हैं? अगर हम उन औरतों की इबादत करते रहे जो अपना बुर्का उतार देती हैं, और भी सभी कुछ, तो क्या हमारे सामने अपनी औरतों का दर्जा गिर जाने का जोखिम नहीं है जैसा कि हमने यूरोप में देखा है जहां जिंसी इंकलाब (यौन क्रांति) के बाद कई सारी औरतों का ज़वाल (पतन) हुआ। और अगर हम औरतों के ज़वाल में कामयाब हो जाते हैं तो क्या हम खुद को - मेरे कहे को माफ करें - भड़ुवों (औरतों के दलालों) में बदलने का जोखिम नहीं उठा रहे?'

'मैंने अपना नान (croissant-एक तरह का नान या कुलचा) खत्म कर लिया, बेटे। मैं चलता हूँ।'

'अपनी कुर्सी पर बैठे रहें जनाब। कुर्सी पर बैठे रहें और मुझे ये न इस्तेमाल करना पड़े। क्या आप देखते हैं, ये क्या है जनाब?'

'हां, ये बंदूक है।'

'ठीक कहा जनाब, उम्मीद है आप बुरा नहीं मानेंगे। मैं बहुत दूर से आपसे मिलने आया हूँ। मैं बेवकूफ नहीं हूँ। मुझे लगा था कि आप मुझे सुनने से इंकार कर सकते हैं लिहाज़ा मैंने एहतियात बरता था।'

'तुम्हारा क्या नाम है बेटा?'

'वाहीत सूज़्मे (vahit suzme), सलीम फसमेकान (Salim fesmekkan)। हकीकत में, जनाब, इससे क्या फर्क पड़ता है। मैं उन गुमनाम बहादुरों का गुमनाम हिमायती हूँ जिन्होंने सेक्युलर मटेरियलिज़्म की चपेट में आ गए समाज में अपने मज़हबी यकीनों को बनाए रखने की खातिर बड़ी भारी तक़लीफें सही हैं। मैं किसी ऑर्गनाइजेशन का मेंबर नहीं हूं। मैं ह्युमन राइट्स की इज़्ज़त करता हूँ और मैं ताक़त के नाजायज़ इस्तेमाल की मुख़ालफत करता हूँ। लिहाज़ा अपनी बंदूक अपनी जेब में रख रहा हूँ। मैं

आपसे सिर्फ इतना चाहता हूँ कि आप मेरे सवाल का जवाब दें।'

'ठीक है।'

'तब चलिए वापस शुरुआत की तरफ चलते हैं, जनाब! याद करते हैं कि आपने इन नाज़पर्वर्द: (जिनकी परवरिश में कई साल की प्यार भरी देखभाल लगी थी) लड़कियों के साथ क्या किया था। जो अपने मां बाप की आंखों का नूर थीं। जो बहुत होशियार थीं। उन्होंने कड़ी मेहनत से पढ़ाई की थी। जो हमेशा क्लास में सबसे टॉप आती थी। जब अंकारा से हुक्म आया तो आपने उनके वजूद को नकारने की तैयारी कर ली। अगर उनमें से कोई एटेंडेंस शीट पर अपना नाम लिख देती थी तो आप उसे काट देते – सिर्फ इसलिए कि वो सिर पर स्कार्फ ओढ़े थी। अगर सात लड़कियां अपने टीचर के साथ बैठती थीं, आप ऐसा दिखाते थे कि जिसने स्कार्फ ओढ़ा है वो वहां है ही नहीं और आप छह चाय मंगवाते। क्या आप जानते हैं कि आपने इन लड़कियों के साथ क्या किया था। आपने उन्हें रोने पर मजबूर कर दिया था।

लेकिन ये वहीं खत्म नहीं हुआ। अंकारा से जल्द ही एक फरमान और आया, और उसके बाद आपने उन्हें उनकी क्लासों से बेदखल कर दिया। आपने उन्हें बाहर गलियारों में फेंक दिया और फिर आपने उन्हें गलियारों से भी निकालकर सड़क पर फिंकवा दिया। और फिर जब इनमें से चुनिंदा लड़कियां कांपती हुईं स्कूल के दरवाज़ों पर गुहार लगाने के लिए जमा हुईं, आपने फोन उठाया और पुलिस को बुलवा लिया।

'पुलिस को हमने नहीं बुलाया था।'

'मैं जानता हूँ आपको मेरी जेब में पड़ी बंदूक का खौफ है। लेकिन मेहरबानी कर, जनाब झूठ न बोलें। उस रात के बाद जब आपने उन लड़कियों को बाहर फिंकवा कर गिरफ्तार करवा दिया, क्या आपके शऊर ने आपको सोने दिया? मेरा सवाल ये है।'

'ज़ाहिर है, हक़ीक़ी सवाल ये है कि हमने सिर के स्कार्फों को अलामत (प्रतीकों) में बदलकर – अपनी औरत बिरादरी को कितनी तकलीफ पहुंचायी है – और औरतों को सियासी खेल में मोहरों की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं।'

'आप इसे खेल कैसे कह सकते हैं, जनाब? जब वो लड़की, जिसे अपनी इज़्ज़त और अपनी तालीम में से किसी एक को चुनना था – कैसे ट्रेजेडी है – डिप्रेशन में डूब गयी और उसने खुद को खत्म कर दिया। क्या वो खेल था?'

'तुम बहुत नाराज़ हो मेरे बच्चे। लेकिन क्या तुम्हें कभी ये नहीं सूझा कि इस सब के पीछे बाहरी ताकतें हो सकती हैं? क्या तुम नहीं देखते हो कि सिर के स्कार्फ के मुद्दे को उन्होंने किस तरह सियासी बनाया होगा जिससे वो तुर्की को एक कमज़ोर और बंटे हुए मुल्क में तब्दील कर सकें?'

'अगर आपने उन लड़कियों को अपने स्कूल में फिर से ले लिया होता, जनाब, तो ये मुद्दा नहीं बनता।'

'क्या ये वाकई मेरा फैसला है? ये हुक्म अंकारा से आते हैं। मेरी पत्नी तक सिर पर स्कार्फ ओढ़ती है।'

'मुझे झांसा देना बंद करें। जो सवाल मैंने अभी पूछा था उसका जवाब दें।'

'क्या सवाल था वो?'

'क्या आपका शऊर आपको बेचैन कर रहा है?'

'मेरे बच्चे, मैं एक बाप भी हूं। ज़ाहिर है मुझे उन लड़कियों के लिए अफसोस है।'

'देखिए! मैं खुद पर काबू रखना बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। लेकिन एक बार मेरा दिमाग फिर गया तो सब खत्म। जब मैं जेल में था, मैंने एक आदमी को सिर्फ इसलिए पीट डाला क्योंकि वो जम्हाई लेते वक्त मुंह ढकना भूल गया था। जी हां, वहां मैंने सबको इंसान बना दिया। उस जेल में मैंने हर शख्स की तमाम बुरी आदतें सुधार दीं। मैंने उन्हें इबादत तक सिखा दी। लिहाज़ा इस फ़ज़ीहत से बच निकलने की कोशिश बंद कीजिए! मेरे सवाल का जवाब दीजिए!'

'तुमने क्या पूछा था बेटा? उस बंदूक को नीचे कर दो!'

'मैं आपको बता सकता हूं कि मैंने क्या नहीं पूछा। मैंने ये नहीं पूछा कि आपकी कोई बेटी है या आपको कोई पछतावा है।'

'माफ करना बेटा। तुमने क्या पूछा था?'

'ये न सोचिए कि बंदूक के डर से निजात पाने की खातिर आप मुझे मना लेंगे। सिर्फ ये सोचिए कि मैंने क्या पूछा था।' (खामोशी)

'क्या पूछा था तुमने?'

'मैंने तुमसे ये पूछा था, काफिर, कि क्या तुम्हारा शऊर तुम्हें परेशान कर रहा था?'

'ज़ाहिर है, ये मुझे कचोट रहा है।'

'फिर तुम क्यों अड़े हुए हो? क्या इसलिए कि तुममें कोई शर्म नहीं रही?'

'मेरे बेटे, मैं एक टीचर हूं। तुम्हारे बाप की उम्र का हूँ। क्या ये कुरान में लिखा है कि अपने बड़ों पर बंदूकताननी चाहिए और उनकी बेइज़्ज़ती करनी चाहिए?'

'अपनी ज़बान से ''कुरान'' का नाम लेने की हिमाकत न करना। क्या तुमने सुना? और अपने कंधों को उचकाकर देखना बंद करो जैसे किसी से मदद मांग रहे हो। अगर तुम चिल्लाए, मैं हिचकिचाऊंगा नहीं, शूट कर दूंगा। समझ गए?'

'हां, समझ गया।'

'फिर इस सवाल का जवाब दो: औरतें अपना सिर नंगा रखें, इससे इस मुल्क का क्या भला होगा? कोई एक अच्छा नतीजा बताओ। कुछ ऐसा कहो जिस पर तुम अपने दिल से यकीन करते हो। मिसाल के लिए, कहो, सिर न ढांपकर वे यूरोप के लोगों के सामने ये जतला सकेंगी कि वे उनके साथ इंसानों जैसा सलूक करना शुरू करें। कम से कम तब मैं समझूंगा कि तुम्हारे इरादे क्या हैं और फिर मैं तुम्हें शूट नहीं करूंगा। मैं तुम्हें छोड़ दूंगा।'

'मेरे प्यारे बच्चे, मेरी भी एक बेटी है। वो सिर पर स्कार्फ नहीं डालती। मैं उसके फैसलों में दखल नहीं देता, ठीक जैसे कि मैं सिर ढकने के अपनी बीवी के फैसले में दखल नहीं देता।'

'तुम्हारी बेटी ने खुद को नंगा करने का फैसला क्यों किया? क्या वो फिल्म स्टार बनना चाहती है?'

'उसने मुझे ऐसा कुछ कभी नहीं कहा। वो अंकारा में रहकर पब्लिक रिलेशन्स की पढ़ाई कर रही है। लेकिन इस स्कार्फ मुद्दे पर जबसे मुझ पर हमले हो रहे हैं वो मुझे बड़ा सपोर्ट कर रही है। जब भी मैं लोगों

की कही बातों पर परेशान हो जाता हूं। जब भी मुझ पर कीचड़ उछाला जाता है या मुझे धमकाया जाता है। जब भी मुझे अपने दुश्मनों के हमलों का सामना करना पड़ता है – या जैसे तुम लोग हो –जिन्हें गुस्सा करने का पूरा हक है, तब वो मुझे अंकारा से फोन करती है और...'

'और वो कहती है, ''अपना दिल कड़ा कर लीजिए, डैड। मैं फिल्म स्टार बनना चाहती हूं।'''

नहीं, बेटा, वो ये नहीं कहती। वो कहती है, ''प्यारे अब्बा, अगर मुझे बुर्को वाली लड़कियों से भली क्लास में जाना पड़ता, तो मैं बगैर बुर्के के अंदर जाने की हिम्मत न करती। न चाहते हुए भी मैं उसे ओढ़ती।''

'तो क्या हुआ जो वो खुद को ढांपना नहीं चाहती थी – इससे क्या नुकसान हो जाता?'

'ईमानदारी से, मैं तुम्हें नहीं बता सकता। तुमने मुझे वजह बताने को कहा था।'

'फिर मुझे बताओ, काफिर, क्या तुम्हारी यही सोच थी कि खुदा के हुक्म पर अपने सिरों को ढांपे रखने वाली, मज़हब की वफादार (devout) इन लड़कियों को पुलिस जकड़ ले? क्या तुम मुझे ये बताने की कोशिश कर रहे हो कि अपनी बेटी को खुश करने के लिए ही तुमने उन्हें खुदकुशी की तरफ धकेल दिया?'

'तुर्की में ऐसी बहुत सारी औरतें हैं जो मेरी बेटी की तरह सोचती हैं।'

'इस मुल्क में नब्बे फीसदी औरतें सिर पर स्कार्फ रखती हैं, ऐसे में ये समझना मुश्किल है कि ये फिल्मी सितारे आखिर किसके लिए बोल रहे हैं। तुम्हें अपनी बेटी को जिस्म की नुमायश कराते देखने में फ़ख़्र हो सकता हो, काफिर, लेकिन ये बात अपने भेजे में घुसा लो। मैं भले ही प्रोफेसर नहीं, लेकिन इस बारे में मैं तुमसे बहुत ज़्यादा जानता हूं।'

'मेरे अच्छे आदमी, बराएमेहरबानी अपनी बंदूक मुझ पर न तानो... तुम बहुत उखड़े हुये हो। अगर बंदूक चल गयी तो तुम महज़ पछताने के लिए ज़िंदा रहोगे।'

'मैं क्यों पछताऊंगा? इस भीषण बर्फबारी में दो दिन ग़ुज़ार कर आने का क्या फायदा अगर मैं एक काफिर का नामोनिशान न मिटा पाया।? जैसा कि पाक कुरान में कहा गया है, ऐसे किसी ख़तावार ज़ालिम को खत्म करना मेरा फर्ज है जो खुदा के बंदों पर कहर ढाता है। लेकिन, मुझे तुम पर रहम आता है, लिहाज़ा मैं तुम्हें एक आखिरी मौका देता हूं। मुझे एक वजह बताओ कि जब तुम पर्दानशीं औरतों को बेपर्द होने का हुक्म देते हो तब तुम्हारा ज़मीर तुम्हें परेशान क्यों नहीं करता है और कसम है मैं तुम्हें शूट नहीं करूंगा।'

'जब एक औरत अपने सिर से स्कार्फ हटा लेती है, तो वो समाज में ज़्यादा आरामदेह जगह और ज़्यादा इज़्ज़त हासिल करती है।'

'ये सोचना होगा तुम्हारी फिल्म स्टार बेटी का। लेकिन इसका उल्टा सच है। स्कार्फ औरतों को अज़ीयत (harassment), बलात्कार और ज़वाल से बचाते हैं। स्कार्फ की बदौलत ही औरतों को इज़्ज़त और समाज में सुकून वाली जगह मिलती है। ये हमने कई औरतों से सुना है जिन्होंने बाद में खुद के लिए पर्दे वाली ज़िंदगी को चुना। औरतें पुरानी बैले-डांसर मेलाहात सांड्रा को पसंद करती हैं। बुर्का औरतों को सड़क पर मर्द के वहशियाना रवैये से बचाता है। वो उन्हें हसीनाओं के कंपटीशन में दूसरी औरतों के मुकाबिल खड़ा किए जाने की हुज्जत से बचाता है। उन्हें सेक्स के सामान की तरह रहने की ज़रूरत नहीं, रोज़ाना मेकअप करने की ज़रूरत नहीं। जैसा कि प्रोफेसर मरविन किंग ने नोट किया था, अगर मशहूर फिल्म स्टार

एलिज़ाबेथ टेलर ने आपने आखिरी बीस साल पर्दे में रहकर ग़ुज़ारे होते तो उसे अपने मोटापे की इतनी चिंता न सताती। उसे आखिरकार मेंटल अस्पताल में न दाखिल होना पड़ता। उसे कुछ खुशी का पता चल पाता। माफ करिएगा जनाब, एक सवाल पूछूं? आप हंस क्यों रहे हैं, जनाब? क्या आप सोचते हैं कि मैं मज़ाक करने की कोशिश कर रहा हूँ?' (खामोशी)...

'चलो, मुझे बताओ बेहया मुनकिर, तुम क्यों हंस रहे हो?'

'मेरे प्यारे बच्चे, मेरा यकीन करो। मैं हंस नहीं रहा हूँ। और अगर मैं हंसा था तो ये नर्वस हँसी थी।'

'नहीं! तुम पक्के एतिमाद (conviction) के साथ हंस रहे थे।'

'मेहरबानी कर मेरा यकीन करो, मैं इस मुल्क के सभी लोगों के लिए हमदर्दी रखता हूं - जैसे तुम, जैसे वे लड़कियां - वे जो इस मक़सद के लिए तकलीफ भुगत रहे हैं।'

'मैंने तुम्हें बताया था, भले लफ्ज़ों से कुछ नहीं होगा। मुझे ज़रा भी तक़लीफ नहीं। लेकिन खुदकुशी करने वाली उन लड़कियों पर हंसने के लिए तुम अब भुगतोगे। और अब जबकि तुम उन पर हंसे हो, तुम्हें पछताने का कोई मौका नहीं मिलेगा। इसलिए अब मैं तुम्हें बताता हूं माजरा क्या है। कुछ समय हुआ जब फ्रीडम फाइटर्स फोर इस्लामिक जस्टिस ने तुम्हारी मौत का फरमान निकाला था। पांच दिन पहले टोकाट में उन्होंने अपने फैसले पर मुहर लगायी और मुझे उस पर अमल करने के लिए यहां भेजा। अगर तुम न हँसते, मैं पीछे हट जाता और तुम्हें माफ कर देता। काग़ज़ का ये टुकड़ा उठाओ। अपनी मौत का फरमान तुम खुद पढ़कर सुनाओ।...' (खामोशी) '... औरत की तरह रोना बंद करो। इसे उम्दा कड़ी आवाज़ में पढ़ो। जल्दी करो, बेहया मूर्ख। अगर तुमने जल्दी नहीं की, तो मैं तुम्हें शूट करता हूँ।'

''मैं, प्रोफेसर नूरी यिलमाज़। एक मुलहिद हूं...'' मेरे प्यारे बच्चे, मैं मुलहिद नहीं हूँ।

'पढ़ते रहो।'

'मेरे बच्चे, ये पढ़ते वक्त मुझे गोली तो नहीं मार दोगे तुम, क्यों?'

'अगर तुम पढ़ना चालू नहीं रखोगे, तो मार दूंगा।'

''मैं कुबूल करता हूँ कि मैं सेक्युलर तुर्की रिपब्लिक के मुसलमानों से उनके मज़हब, उनकी इज़्ज़त को छीनने की जुर्रत करने वाली और इस तरह उन्हें पच्छिम का ग़ुलाम बनाने वाले खुफिया मंसूबे में मोहरा रहा हूँ। जहाँ तक उन लड़कियों की बात है जो अपने स्कार्फ नहीं उतारना चाहती थीं - क्योंकि वे मज़हबी और कुरान में बेइंतहा यकीन रखने वालीं थी, उस पर मैंने इतना ज़ुल्म ढाया कि एक लड़की उसे ज़्यादा नहीं झेल सकी और उसने खुदकुशी कर ली...''। 'मेरे प्यारे बेटे, तुम्हारी इज़ाज़त से मैं यहां पर एक एतराज़ जताना चाहता हूँ। मैं तुम्हारा अहसानमंद रहूंगा अगर तुम ये बात उस कमेटी तक पहुंचा सको जिसने तुम्हें भेजा है। उस लड़की ने फंदा इसलिए गले में नहीं डाला कि उसे क्लास में आने से रोका गया था। और उसके पिता का उस पर कोई दबाव भी न था। जैसा कि MiT हमें पहले बता चुकी है, उसका दिल टूटा हुआ था।'

'अपने सुसाइड नोट में उसने ये तो नहीं कहा था।'

'मुझे माफ करना, लेकिन मेरे बच्चे, मैं सोचता हूँ तुम्हें जानना चाहिए-मेहरबानी कर उस बंदूक को नीचे कर दो - कि अपनी शादी से पहले, वो अनपढ़ लड़की इतनी नादान थी कि उम्र में अपने से पच्चीस साल बड़े एक पुलिस वाले को अपना दिल दे बैठी। और - ये एक निहायत ही शर्म की बात है - लेकिन ये तब हुआ जब उस आदमी ने उसे बता दिया था कि वो शादीशुदा है और उससे शादी का उसका कोई इरादा

नहीं...'

'खामोश हो जाओ, ज़लील। तुम्हारी बाज़ारी बेटी ही ऐसा कर सकती है।'

'ऐसा मत करो, मेरे बेटे। मेरे बच्चे, ऐसा मत करो। मुझे गोली मारकर तुम अपने मुस्तकबिल को अंधेरे में डुबो रहे हो।'

'कहो कि तुम्हें अफसोस है!'

'मुझे अफसोस है, बेटा। गोली मत मारो।'

'अपना मुंह खोलो। मैं ये बंदूक अंदर घुसेड़ता हूँ। फिर मेरी अंगुली पर अपनी अंगुली रख ट्रिगर खींच दो। तुम रहोगे तो काफिर ही लेकिन कम से कम इज़्ज़त से मरोगे।' (खामोशी)

'मेरे बच्चे, देखो मैं क्या हो गया हूँ। इस उम्र में, मैं रो रहा हूँ। मैं तुमसे भीख मांग रहा हूँ। मुझ पर रहम करो। खुद पर रहम करो। तुम अभी इतने जवान हो। और तुम हत्यारा बन रहे हो।'

'फिर तुम खुद ही ट्रिगर खींच दो। खुद देखो कि ख़ुदकशी में कितनी चोट पहुंचती है।'

'मेरे बच्चे, मैं मुसलमान हूं। मैं खुदकुशी के खिलाफ हूँ।'

'अपना मुंह खोलो।' (खामोशी)... 'इस तरह मत रोओ। क्या तुम्हें कभी ये नहीं लगा कि, तुमने जो किया उसकी कीमत तुम्हें एक दिन चुकानी पड़ेगी? रोना बंद करो वरना मैं शूट कर दूंगा।'

(दूर से एक बूढ़े वेटर की आवाज़) 'क्या मैं आपकी चाय इस टेबुल पर ले आऊं, जनाब?'

'नहीं, शुक्रिया! मैं जाने ही वाला हूँ।'

'वेटर की तरफ मत देखो! अपनी मौत का फरमान पढ़ते रहो!'

'मेरे बेटे, मेहरबानी कर मुझे माफ कर दो!'

'मैंने कहा पढ़ो!'

''मैंने जो कुछ किया उसके लिए शर्मिन्दा हूँ। मैं जानता हूँ मुझे मर जाना चाहिए। और इस उम्मीद में कि अल्लाह मुझे माफ कर देगा...''

'पढ़ते रहो।'

'मेरे प्यारे, प्यारे बच्चे! इस बूढ़े आदमी को कुछ देर रो लेने दो। मुझे अपनी बीवी और अपनी बेटी के बारे में आखिरी दफा सोच लेने दो।'

'उन लड़कियों के बारे में सोचो जिनकी ज़िंदगी तुमने तबाह कर दी। एक को नर्वस ब्रेकडाउन हो गया, चार को उनके तीसरे साल में स्कूल से निकाल दिया गया। एक ने खुदकुशी कर ली। जो तुम्हारे स्कूल के दरवाज़ों पर कांपती खड़ी थीं, वे सब बुखार में घिर गयीं और बिस्तर पर जा गिरी। उनकी ज़िंदगी बरबाद हो गयी।'

'मुझे बहुत अफसोस है, मेरे प्यारे बच्चे! लेकिन इससे आखिर क्या भला होगा जो तुम मुझे मार कर हत्यारा कहलाओ! सोचो तो!'

'अच्छा ठीक है। सोचता हूँ।' (खामोशी)... 'मैने कुछ देर सोचा जनाब और मैंने ये पाया...'

'क्या?'

'मैं दो दिन से कार्स की भीषण गलियों में भटकता रहा और मुझे कोई रास्ता नहीं सूझा। फिर मैंने फैसला किया कि ये किस्मत होगी, लिहाज़ा मैंने टोकाट की वापसी की टिकट खरीद ली। मैं चाय का आखिरी गिलास पी रहा था कि तभी...'

'मेरे बच्चे, अगर तुम सोच रहे हो कि मुझे मारकर कार्स से जाने वाली आखिरी बस से बच निकलोगे। तो मैं तुम्हें आगाह कर दूं: बर्फ की वजह से सड़कें बंद हैं। छह बजे जाने वाली बस रद्द हो गयी है। फिर इस पर पछताना मत।'

'मैं मुड़ ही रहा था कि अल्लाह ने तुम्हें न्यू लाइफ पेस्ट्री की दूकान के अंदर भेज दिया। और अगर अल्लाह ही तुम्हें माफ नहीं करना चाहता तो मैं क्यों करूं? अपने आखिरी लफ्ज़ बोल लो! बोलो, ''अल्लाहु अक्बर!'' '

'बैठ जाओ बेटा। मैं तुम्हें आगाह कर रहा हूँ, हमारा ये मुल्क तुम सबको पकड़ लेगा और तुम सबको फांसी पर लटका देगा।'

'बोलो, ''अल्लाहु अक्बर!'' '

'शांत हो जाओ, मेरे बच्चे। रुको। बैठे जाओ। एक बार और सोच लो। उस ट्रिगर को न खींचो। रुक जाओ।' ... (गोली की आवाज़। कुर्सी लुढ़कने की आवाज़)

'नहीं, मेरे बेटे!'

(दो और गोलियों की आवाज़ें। खामोशी। एक आह। टेलीविज़न की आवाज़। एक और गोली। खामोशी।)

यह धार्मिक वार्तालाप तुर्की भाषा से अंग्रेजी में मॉरेन फ्रीले ने किया और अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद शिवप्रसाद जोशी ने उपलब्ध कराया। 'ग्रांटा' से साभार।

... शहर में यारों की किस तरह बसर होगी

गजेन्द्र पाठक

जिसे मैंने अपनी आँखों से देखा है वह मेरा आधा सच है और मैं अपने कानों से सुन पाया हूँ वह मेरा आधा झूठ है। अपनी बात मैं इस आधे झूठ से शुरू करने की इजाजत चाहूँगा।

मैंने सुना है कि किसी जमाने में यहाँ मोरध्वज का शासन हुआ करता था। मुझे मालूम है कि राज करने वाले थोड़े बहुत अन्तर के बावजूद एक जैसे होते हैं और इन एक जैसी बातों में कोई दिलचस्पी न होने के कारण मैं उन राजाओं की चर्चा से बचते हुए उन लोगों की बात करना चाहूँगा जो सदियों से गुलामी का पगहा तोड़ने के लिए बेचैन रहे हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिस भोजपुरी कहावत का आश्रय लिया है उसके आधार पर यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि सोन के किनारे अपने किसी गाँव से बाणभट्ट जब उज्जयिनी की ओर चले होंगे तब उनका 'नौ हाथ का पगहा' जरूर इसी आरा शहर में छूट गया होगा। आरा इसी नौ हाथ के पगहे में बँधा हुआ एक 'लाचार शहर' है।

ब्रिटिश शासन में शाहाबाद की राजधानी और भारत के पहले स्वाधीनता आंदोलन का साक्षी यह शहर वीर कुँवर सिंह से लेकर नक्सलबाड़ी आंदोलन के अग्रदूत जगदीश मास्टर की कर्मभूमि रह चुका है। वही मास्टर साहब, जो महाश्वेता देवी के एक उपन्यास के नायक रह चुके हैं। 1857 में अंग्रेज कलेक्टर को कई दिन तक कैद करने वाले इस शहर ने कभी लंदन की नींद हराम कर दी थी और एक बूढ़े आदमी के साहस ने उन्हें इस कदर भयभीत कर दिया था कि बाद में वे अपने वैज्ञानिकों को इस बात पर शोध करने की सलाह देने लगे कि आखिर आरा जिले के लोग कौन सी चीज खाते हैं जिससे वे अस्सी साल में भी जवान बने रहते हैं और साहस ही नहीं, इतना दुस्साहस भी रखते हैं कि गोली लगने पर भी किसी डॉक्टर के यहाँ जाने के बजाय अपना ऑपरेशन भी खुद ही कर लेते हैं। बाबू कुँवर सिंह ने अपना एक हाथ जिसमें गोली लग चुकी थी, का इलाज अपने दूसरे हाथ से काटकर कर लिया था। लंदन और कलकत्ता की गोरी मेमनें अपने पतियों को बार-बार कुँवर सिंह का उदाहरण देकर जलील किया करती थीं। हो सकता है कि ताकत की खोज ने ही अंग्रेजों को चावल खाने के लिए मजबूर किया हो। क्योंकि, आज तक लंदन में जिस चावल की धूम मची रहती है उस चावल का नाम 'पटना राइस' है और वह इसी शाहाबाद की उपज है।

कौन कहता है कि यह सिर्फ विरोध, विद्रोह और युद्ध की रणभूमि रहा है! यह सिर्फ आधा सच है।

पूरा सच यही है कि युद्ध करने वाले कठोर कवचों के पास एक नरम और मुलायम हृदय भी रहा है, जिसमें प्यार की धड़कनें भी सुनी गई हैं। 'स्कंदगुप्त' का भट्टार्क जानता था कि वीर एक कान से तलवार की झंकार सुनते हैं और दूसरे कान से पायलों की झंकार। जिन्होंने आरा में सिर्फ तलवार और तोप की आवाज सुनी है उनसे निवेदन है कि वे बीबी जान के मकबरे से धर्मन चौक तक की दोबारा यात्रा करें। यह वाकया कितना दिलचस्प है कि लंदन से आये हुए आरा के पहले कलेक्टर डीन्स साहब के जीवन साथी की तलाश इसी आरा में पूरी हुई थी तो इसी अंग्रेजी सियासत का विरोध करने वाले जगदीशपुर रियासत के बाबू कुँवर सिंह के दिल का तार भी इसी आरा शहर में झंकृत हुआ था।

कह नहीं सकता कि वे कौन से कारण थे जिनके चलते अपने पड़ोसी शहरों – छपरा, बलिया, बक्सर और पटना को गंगा के किनारे छोड़कर आरा कुछ दूर चला आया। और फिर, आते-आते वही नौ हाथ का पगहा 'गांगी' के रूप में सटा हुआ चला आया। शायद अहसान-फरामोशी इस शहर की रवायत में ही नहीं है, वह चाहे गंगा माँ ही क्यों न हों।

यह भी नहीं कह सकता कि अरण्य देवी का मंदिर कितना पुराना है लेकिन जो कह सकता हूँ वह मेरा आंखिन देखा आधा सच यही है कि जो चांदी के सिक्के किसी धनवान, श्रद्धालु ने काँटियों से ठोक-ठोककर अर्पित किए थे उन सिक्कों की रक्षा माँ अरण्य देवी नहीं कर पाईं। यह भी नहीं कह सकता कि जब बगल में लिच्छवी और मगध साम्राज्य की राजधानियाँ हुआ करती थीं उस समय सिन्हा घाट के सामने गंगा से होकर स्वर्ण मुद्राओं से लदी हुई कितनी नावें कितनी बार आया जाया करती थीं। यह भी नहीं कह सकता कि ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध बने सिद्धार्थ को सारनाथ जाने के क्रम में आरा के जंगलों में कितनी कठिनाई उठानी पड़ी थी या भगवान महावीर जब आरा आए थे उस समय आरा में उनको सुनने कितने लोग पहुँचे थे! लेकिन इतना जरूर कह सकता हूँ कि जैन सिद्धांत भवन की अनमोल पांडुलिपियाँ और असंख्य जैन मंदिर आरा के अतीत के बारे में जो कहना चाहते हैं उसे इस हिंसक माहौल के प्रतिपक्ष में एक निवेदन के रूप में देखा जा सकता है। यह भी नहीं कह सकता कि गाँधी जी जब आरा और जमीरा में आए थे तो यहाँ के लोगों ने उनके बारे में क्या सोचा होगा। मैं यह नहीं कह सकता कि प्रथम विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड की रक्षा के लिए जर्मनी की धरती पर शहीद हुए कारीसाथ के उन लहना सिहों के नाम क्या थे। लेकिन इतना जरूर कह सकता हूँ कि उनकी व्यथा को अभिव्यक्त करने वाला कोई गुलेरी उनके नसीब में नहीं था। यहीं पर यह कहने का भी मन हो रहा है कि आरा के उस पार सिताब दियारा के जयप्रकाश नारायण 1974 के आंदोलन में जब घंटों आरा शहर में भाषण करते थे तब लोग यह भूल जाते थे कि कुँवर सिंह और गाँधी जी के अंग्रेजों के खिलाफ चलाए हुए आंदोलन और कांग्रेस के खिलाफ जयप्रकाश के आंदोलन में कोई बुनियादी अंतर भी है।

(2)

जीवन की लगभग पहली ट्रेन यात्रा के बाद 1981 के जाड़े की किसी सुबह पहली बार आरा पहुँचा था। छात्रवृत्ति की परीक्षा देने के लिए कक्षा छह के विद्यार्थी के रूप में अपने चार पाँच सहपाठियों के साथ। आगे-आगे प्राथमिक पाठशाला के हमारे गुरु जी और पीछे-पीछे हम। एक अज्ञात शहर की यात्रा। कुहासे के लिहाफ में लिपटे शहर की यात्रा। गुरु जी ने उस लिहाफ को उठाने से बेहतर यही समझा कि जब तक धूप न हो जाए तब तक इस शहर की नींद में खलल डालना उचित नहीं होगा। हम गाँव के लोग देर तक सोने वाले शहर का मिजाज नहीं समझ पाए थे। लिहाजा, निपटने के लिए शहर के बाहर सोन नहर के किनारे चले गए। गुरु जी ने बताया कि यह नहर भी उसी नहर जैसी है जो हमारे गांव के पास से गुजरती है। उन्होंने यह भी बताया था कि इसे अंग्रेजों ने सौ साल पहले बनवाया था। शाहाबाद की धरती को चीरकर डिहरी के पास सोन को बाँधकर जगह-जगह से निकाली गईं नहरें जो बाद में शाहाबाद को आबाद करने का प्रमुख

जरिया बनीं। अब मुझे ऐसा लगता है कि चौसा की लड़ाई के बाद मुगल साम्राज्य को पाँच वर्षों के लिए बेदखल करने वाले शेरशाह के जिले में अंग्रेजी हुकूमत का इस बात पर विचार करना गैरज़रूरी नहीं था कि शहाबाद के लोग सियासत की बुनियाद में निर्माण की चाह रखते हैं। अपने छोटे शासनकाल के बावजूद शेरशाह ने भारत के पूर्वी छोर से पश्चिमी छोर को जोड़ने वाली सड़क के माध्यम से राजनीति और विकास के रिश्ते का उदाहरण प्रस्तुत किया था।

शाहाबाद में सोन नहर प्रणाली ब्रिटिश शासनकाल में तब तक देश की सबसे बड़ी सिंचाई प्रणाली थी। शेरशाह के प्रति शायद यह अंग्रेजों की श्रद्धांजलि थी। इस श्रद्धांजलि के पीछे शायद उनके मन का वह भय हो जिसने महान मुगल साम्राज्य की निरन्तरता को कुछ सालों के लिए स्थगित कर दिया था। 'ग्रेट ब्रिटिश एम्पायर' शायद भारत में इस तरह की कोई गलती दुहराने के सख्त खिलाफ था। इसीलिए उसे शेरशाह जैसे लोगों से साधवान रहने की जरूरत थी। 1857 ने जब इस जिले में कुँवर सिंह को नायक बनाया तब अँग्रेज जरूरत से ज्यादा सावधान हो गए थे। उन्हें शेरशाह का अवतार नहीं चाहिए था। वैसे भी, इसी जिले की लड़ाई ने 1764 ई. में ब्रिटिश साम्राज्य को लम्बे समय तक भारत में बने रहने के लिए आश्वस्त किया था। जहाँ से आश्वस्ति मिलती है वहां से विरोध का छोटा स्वर भी ज्यादा अप्रिय लगता है। 1857 के आंदोलन के बाद शाहाबाद के लोगों के लिए एक 'पैकेज' के रूप में, एक तोहफे के रूप में, 'पटना राइस' की ब्रिटेन में सुनिश्चित 'सप्लाई' के लिए। यह नहर आरा में अपना लय तोड़ते हुए रेलवे लाइन के नीचे से गुजरते हुए गांगी और फिर गंगा और फिर बंगाल की खाड़ी मे मिल जाती थी। गुरु जी ने ऐसा ही बताया था। गुरु जी ने यह भी बताया था कि आरा और पटना के बीच जब सोन गंगा में मिल जाती है, तब सोन का पानी भी गंगा का जल बन जाता है और उसी गंगा के जल से कलकत्ता की सड़कें धोई जाती हैं। यह अंग्रेजों की बनाई व्यवस्था थी। जिस गंगा का जल हमारे मरणासन्न बुजुर्गों के मुँह में तुलसी पत्ते के साथ दिया जाता हो उससे सड़कें धोई जाएँ-घोर कलिजुग। उन्होंने यह भी समझाया था कि जितना अंग्रेजों ने गंगा का नुकसान नहीं किया उससे अधिक हम लोग कर रहे हैं। हरिद्वार से लेकर कलकत्ता तक हर शहर का गलीज गंगा में मिल जाता है। गंगा को गंदा करने का यह काम आरा में भी हो रहा है। वे विज्ञान के शिक्षक थे। इसी परीक्षा ने आरा में पुनः बुलाया, एक विद्यार्थी के रूप में अपने एक लम्बे साथी के रूप में।

मेरा मित्र दिनेश कहता था कि हर आदमी की गर्दन में एक पगहा बँधा रहता है और वह पगहा हमेशा किसी खूँटे के इंतजार में होता है। मेरे बारे में उसका मानना यह था कि मेरी गर्दन के पगहे का खूँटा जरूर इसी आरा में कहीं गड़ा हुआ है। उसकी यह बात तब की है जब मैं यहाँ से मैट्रिक पास करने के बाद, आरा छोड़ने के कुछ प्रयास के बावजूद, पुनः जैन कॉलेज में दाखिला लेने के लिए आरा गया था। लेकिन उसकी बात तब और भी सही साबित हुई जब आठ-नौ वर्षों के दिल्ली प्रवास के बाद बिहार विश्वविद्यालय सेवा आयोग द्वारा जो नियुक्ति-पत्र प्राप्त हुआ, उसमें मुझे जिस विश्वविद्यालय में योगदान करने का निर्देश था उसका नाम वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा था। अपने ही गुरुकुल में गुरु बनने का अवसर। उसी पगहे से पुनः बंधने की तैयारी, उसी खूँटे के परितः चक्कर की शुरुआत जिसे तोड़कर मैं दिल्ली चला गया था।

दिल्ली रहते हुए ही हमें पता चला था कि मधुकर सिंह जो जैन स्कूल में हमारे अध्यापक थे, वे हिन्दी के एक बड़े कहानीकार हैं, जिनके बारे में हम तब कुछ भी नहीं जानते थे। 'सारिका' के पुराने अंक साक्षी हैं कि मधुकर सिंह साठ और उसके बाद के दशकों में किस तरह हिन्दी कहानी में छाए हुए थे। मिथिलेश्वर जी जो जैन कालेज में हम लोगों को पढ़ाया करते थे, उनकी कहानी 'बाबूजी' का जोरदार मंचन श्रीराम सेन्टर में हुआ था और वह भी अपने समय के सबसे बड़े रंगमंच निर्देशक ब.व. कारन्त के निर्देशन में। निलय उपाध्याय को इंडिया टुडे की साहित्य वार्षिकी में मैनेजर पाण्डेय ने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ युवा कवि के रूप

में चुना था। मुशर्रफ आलम जौकी हर दो तीन महीने में एक नई कहानी के साथ हंस में उपस्थित हो जाते थे। इसी कड़ी में अनंत कुमार सिंह, राकेश कुमार सिंह, बद्रीनारायण, प्रेमरंजन अनिमेष और हरेप्रकाश उन उम्मीदों के नाम हैं जिनके बारे में केदार जी की एक कविता है - ''मौसम चाहे जितना भी खराब हो, उम्मीद नहीं छोड़ती कविता'' - स्वयं केदार जी अपने गुरु हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह इसी जनपद के 'जवारी' हैं। एक छोटे से शहर से बादलों पर तैरते हुए आसमान के परिन्दों में तब्दील हो जाना - छोटे शहर के रचनाकारों की ऐसी विशिष्टता रही है जिसके बल पर वे बड़ों-बड़ों से होड़ लेने को तैयार रहे हैं। अरुण कमल जो स्वयं इसी शाहाबाद की उपज हैं, का यह कहना ठीक लगता है कि हिन्दी कविता या कहानी का जो भी नक्शा बनाया जाएगा वह आरा जिले की उपेक्षा करके बन ही नहीं सकता। अभी भी आरा में दो तीन पीढ़ियों के रचनाकार एक साथ मौजूद हैं जो आचार्य शिवपूजन सहाय और राजा राधिका रमण सिंह की परम्परा को जीवंत बनाए हुए हैं। नये रचनाकारों द्वारा सृजन की नयी भित्ति तैयार हो रही है मगर पुरानी भित्ति की कीमत पर नहीं।

मेरे एक मित्र की राय में आरा मिनी इलाहाबाद है। इसके दो कारण वह बताता है। पहला तो यह कि इलाहाबाद की तरह यहाँ भी प्रति एक हजार की आबादी पर कोई न कोई एक लेखक या कवि है तथा दूसरा कारण यह कि यहाँ भी हर गली मुहल्ले में कोई न कोई एक 'लॉज' है। विद्यार्थियों की संख्या का जो प्रतिशत इलाहाबाद में है वही प्रतिशत आरा में भी है। छुट्टियों में ढनढनाने वाला शहर और इम्तहान के दिनों में अपने पूरे शबाब पर रहने वाला शहर। जैन स्कूल में पढ़ते हुए आरा की इस विशेषता का इलहाम हमें भी था। तब हमारे लिए आरा एक परदेश था। हॉस्टल का 92 रु. 75 पैसे प्रति माह वाला भोजन और पंडित जी के समोसे के बल पर जैन स्कूल के आक्रांत जी, रमाकांत जी, रहमान जी, के.पी. पाण्डेय, अजीत सिंह कुशवाहा, रामजी बाबू, टी.एन. सिंह, परमहंस सिंह, गोविंद जी, हुसैन जी सरीखे शिक्षकों के एक एक शब्द को आत्मसात् करने की सनक ने जीवन में पहली बार ज्ञान की एक नई दुनिया का दरवाजा खोला था। दुनिया के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने का अहसास भी पहली बार यहीं हुआ। जिस गांव से हम आए थे उस गाँव का स्कूल अब पढ़ने के अलावा बाकी सभी विषयों में विशेषज्ञता हासिल कर चुका था। हम उन विशेषज्ञों में न थे इसलिए भी आरा आकर सुकून मिला था। इसी जैन स्कूल के बंद प्रांगण से कभी आँख बचाकर तो कभी देह छुपाकर आरा के अनुसंधान की शुरुआत हुई थी जो आज तक पूरी नहीं हो पाई है।

पहली बार आरा में ही साइकिल सीखने के क्रम में, साइकिल चला लेने की खुशी में आरा के पूर्वी छोर पर गया था जहाँ के जैन बाला विश्राम में मेरी बड़ी बहन पढ़ चुकी थी, रह चुकी थी। आरा के बारे में मेरा जो भी प्रारम्भिक ज्ञान था वह मेरी बहन द्वारा जैन बाला विश्राम के विशाल जंगलनुमा परिसर के सच्चे झूठे किस्सों द्वारा निर्मित था। किस तरह अंधेरा होते ही वहां के मंदिर में अपने आप घंटी बजने लगती है, और बत्ती जल उठती है, इत्यादि बातें मेरी बहन बता चुकी थी। मैं सीधे मौके पर पहुँचकर इन सारी बातों की तहकीकात करना चाहता था। लेकिन दरवाजे के अन्दर किसी पुरुष वेषधारी के प्रवेश निषेध की हिदायत से जीवन में पहली बार सारे लोकतंत्र के बावजूद एक झटका सा महसूस हुआ। मैं बताना चाहता था कि इस विद्यालय में मेरी बहन पढ़ चुकी है इसलिए इस विद्यालय से मेरा एक भाई का रिश्ता बनता है। लेकिन मेरी बातों का असर वहाँ नहीं होना था क्योंकि वहाँ जो कान थे वे लोहे के थे। अपनी साइकिल मैंने सड़क की दूसरी ओर मोड़ दी थी जहाँ दिगम्बर जैनियों द्वारा संचालित अंध विद्यालय था। अपने सभी काम साफ-सुथरे ढंग से निपटाते हुए अन्धे लड़कों की एक ऐसी दुनिया जहाँ आँसुओं को देखने वाली आँख भी नहीं थी - दुनिया के रंग की बात कौन करे! अपनी आँखों पर भरोसा करने वाले कवि कबीर की दुनिया नहीं बल्कि अपनी आँखों से वंचित कवि सूरदास की दुनिया। कहीं यही कारण तो नहीं कि कबीर के निर्गुण पन्थ का सर्वाधिक मुखर विरोध सूरदास के यहाँ मौजूद है। कैसा विपर्यय है! जिसको अपनी आँखों पर भरोसा है वह

रंगहीन, रूपहीन ईश्वर की बात करता है और जिसके पास आँखें ही नहीं है, वह 'घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित' भगवान श्रीकृष्ण को देखता है। जो जिसके पास नहीं है वही उसका महत्त्व जानता है। जिसके पास जो है वह उस पर सिर्फ गुमान कर सकता है। इस अंध विद्यालय को देखकर पहली बार मेरे मन में भी आँख वाला होने का गुमान पैदा हुआ था। जो इस दुनिया को देख ही नहीं सकता वह भी यदि दुनिया में अपनी जगह बनाने के प्रति सजग है तब तो आँख वालों की जिम्मेदारी और भी अधिक है। जैन धर्मावलम्बियों द्वारा संचालित इस स्कूल को देखकर पहली बार जैन धर्म के प्रति मन में एक ऊँचा भाव पैदा हुआ था।

आरा के उसी समय के रविवारीय सर्वेक्षण में आरा के भूगोल और उस भूगोल के माध्यम से इतिहास का परिचय हुआ। चन्दवा से लेकर धरहरा और मझौआ से लेकर अनाईठ तक फैला हुआ आरा जैन, इस्लाम, ब्रिटिश और नक्सलवादी संस्कृति का भी जीता जागता दस्तावेज है। चन्दवा में ही बाबू जगजीवन राम का पैलेस नुमा घर देखकर मन में हलचल पैदा हुई थी। मैं सोचता था कि यदि मैं उनकी जगह पर रहता तो अपनी पुश्तैनी झोपड़ी को उसी रूप में कायम रखता क्योंकि झोपड़ियों की बस्ती में गुलाबी महल अश्लील लगता है।

आरा में ही वैज्ञानिक वशिष्ठ नारायण सिंह को देखने का मौका मिला था। महाराजा कालेज के प्रांगण में उनका परिचय देते हुए हिन्दी के आचार्य सर्वदेव तिवारी 'राकेश' फूट-फूटकर रो पड़े थे – एक प्रतिभा का विस्फोट और फिर उसके नष्ट हो जाने की मार्मिक कथा का नाम ही है डॉ. वशिष्ठ नारायण सिंह। अपनी प्रतिभा का डंका कैलीफोर्निया में बजाने के बाद पागलों की तरह 'स्पेस' की बात करना। उस भारी भीड़ में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं था जो वशिष्ठ नारायण सिंह की पागलपन भरी बात सुनकर हँस रहा हो। बल्कि, इसके विपरीत सबकी आँखें नम थीं और चेहरे उदास थे। आरा के लोगों का यह रूप मैं चाहकर भी नहीं भुला सकता। यह मेरा देखा हुआ सच है और न तो आधा सच है और न ही अधूरा सच। अपने बीच से निकली प्रतिभा के प्रति कितनी हमदर्दी यहाँ के लोगों के मन में है इसे मैंने देख लिया है। आरा की यही ताकत है जो इसे इसके अनगढ़पन के बावजूद सुन्दर बनाती है।

1983 में यहीं रमना मैदान में मेनका गाँधी को देखने का मौका मिला था। एक प्रधानमंत्री के घर से निकली या निकाल दी गई एक सिक्ख की बेटी, संजय गाँधी की विधवा। 'संजय विचार मंच' नाम से एक पार्टी बनाकर चुनाव प्रचार करने आई थीं। उदास सौंदर्य की प्रतिमूर्त्ति। कह रही थीं कि इंदिरा गाँधी की नीति उस माँ की तरह है जो अपने बच्चों को भूखा नंगा रखकर ड्राइंग रूम में मेहमानों को रसमलाई खिला रही है। 1984 में इसी इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद के दंगों में, इसी आरा में सिक्खों को शहर छोड़कर पंजाब मेल से भागते हुए भी देखा है शहर के बीचोबीच अपनी बसी बसाई समृद्ध दुनिया को छोड़कर एक अनजान भविष्य में जाने को विवश। साम्प्रदायिकता सिर्फ दिल्ली जैसे बड़े शहरों का ही रोग नहीं है, छोटे शहर भी पीछे नहीं, 1984 में यहीं देखने को मिला था। हमारे स्कूल के कई सहपाठी जिनकी पगड़ियाँ और चुटकुले हमें बेहद पसंद थे,हमें छोड़कर रातों-रात सदा-सदा के लिए पता नहीं, कहाँ चले गये। 1984 हम लोगों के लिए एक और कारण से बहुत दुखद रहा। जिन चेहरों को देखकर हम जैन स्कूल की कठिन दिनचर्या में भी तरोताजा हो लिया करते थे उन चेहरों को किन्हीं अज्ञात कारणों से स्कूल से देशनिकाला दे दिया गया- सह-शिक्षा और सहजीवन के सपनों पर सबसे बड़ा आघात। हॉस्टल के हमारे कई 'सीनियर' जिनके बालों को सँवारने में कई कंघियों को शहीद होना पड़ा था, उनकी बची हुई कंघियों को हमने बेरोजगार होते हुए भी इसी समय देखा था। सुना है कि 1850 के आसपास स्त्री शिक्षा के मामले में आरा बिहार ही नहीं, देश में एक मिसाल था।

आरा में ही रामसुभग बाबू का घर है। वही रामसुभग बाबू जो अमेरिका में शिक्षा प्राप्त करने के बाद

लोकसभा के सदस्य बने और जिन्हें लोकसभा में पहली बार विपक्ष के नेता के रूप में कैबिनेट मंत्री का दर्जा प्राप्त हुआ। ईमानदार राजनीति के उदाहरण जिनका टूटा फूटा घर उनके बारे में सब कुछ कह जाता है। आरा के लोग कहते हैं कि बिहार को भारत के प्रधानमंत्री की कुर्सी भले ही नसीब न हुई हो लेकिन इस कुर्सी के काफी करीब पहुंचने का गौरव आरा को जगजीवन बाबू और रामसुभग बाबू द्वारा मिल चुका है। वैसे, जगजीवन बाबू कई पीढ़ियों तक की व्यवस्था कर गए, और रामसुभग बाबू अगली पीढ़ी के लिए भी कुछ छोड़कर नहीं गए, आरा में यह कहने वाले भी कहते हुए मिल जाएंगे।

अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली गद्य को आगे बढ़ाने वाले जिन चार महानुभावों का नाम लिया है उनमें से एक हैं सदल मिश्र। सदल मिश्र इसी आरा के रहने वाले थे जो फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता में अध्यापक थे। 'नसिकेतोपख्यान' इनकी मशहूर कृति है, जिसकी भाषा के बारे में आचार्य शुक्ल की राय है कि - ''इसमें व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सकता है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 231)

यह वही आरा है जहाँ 1903 में आचार्य शिवपूजन सहाय ने सातवीं कक्षा में दाखिला लिया था और जहाँ उनके, ''गुरुतुल्य ईश्वरी प्रसाद शर्मा, आरा नगर की नागरी प्रचारिणी सभा में प्रतिदिन संध्या समय अपने साथ ले जाते और पत्र पत्रिकाएँ चुनकर पढ़ते थे, उनमें से आवश्यक बातें लिख लेने के लिए निर्देश करते थे'' (शिवपूजन सहाय, प्र.सं., ने.बु.ट्र., पृ. 157) इन्हीं ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने सन 1910 ई. में आरा से 'मनोरंजन' नामक मासिक पत्र निकाला था। शिवपूजन सहाय की पहली कहानी 'राजा से रंक' इसी में प्रकाशित हुई थी। इसी के आसपास नागरी प्रचारिणी सभा से 'साहित्यिक पत्रिका' भी मासिक के रूप में निकल रही थी। आज भी आरा से मधुकर सिंह द्वारा 'इस बार', अनन्त कुमार सिंह द्वारा 'जनपथ' और मिथिलेश्वर द्वारा 'मित्र' के संपादन और प्रकाशन इस बात के संकेत हैं कि पढ़ने-लिखने की संस्कृति को शासन तंत्र की उदासीनता समाप्त नहीं कर सकती। लम्बे समय से गहराई में रोप दी गई जड़ों को एकबारगी नष्ट करना मुश्किल होता है।

बनारस के बाद आरा में नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना अपने आप में एक ऐतिहासिक महत्त्व की बात थी। हिन्दी को आजादी के आंदोलन के साथ जोड़कर देखने का जो राष्ट्रव्यापी आंदोलन चल रहा था उसमें आरा भी पीछे रहने वाला नहीं था। आचार्य शिवपूजन सहाय 1914 में यहीं के एक स्कूल में शिक्षक भी बने और लगभग छह साल तक यहीं रहे। 'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पांजलि' और 'त्रिवेणी' का प्रकाशन 1919 ई. में इसी आरा शहर से हुआ था। बहुत बाद में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, शिवबालक राय, जगदीश पांडेय, चंद्रभूषण तिवारी, रामेश्वरनाथ तिवारी, विजयमोहन सिंह, रमेशकुंतल मेघ, रवीन्द्र भ्रमर, शुकदेव सिंह और विश्वनाथ सिंह जैसे लोग आरा के जैन कालेज और महाराजा कालेज से किसी न किसी समय जुड़े रहे। सुना है कि केदारनाथ सिंह भी एक बार यहाँ महाराजा कॉलेज में साक्षात्कार देने के लिए आए थे। हिन्दी के यशस्वी आलोचक नामवर सिंह, कवि त्रिलोचन एवं केदारनाथ सिंह के गुरु मार्कण्डेय सिंह के वंशजों का महाराजा कालेज में होना भी इस बात का सूचक है कि आरा मगध और काशी के बीच एक सेतु का काम करता रहा है। एक समय था जब बिहार के मुख्यमंत्री और महाराजा कॉलेज प्रबंधन समिति के सर्वेसर्वा सरदार हरिहर सिंह के प्रयास से बनारस में रचे पगे जे.पी. सिंह महाराजा कालेज के प्रधानाचार्य के रूप में यहाँ आये थे। प्रधानाचार्य शब्द बाद में जिस एकेडमिक जड़ता का प्रतीक बन गया उसका निराकरण करने के लिए जे.पी. सिंह की प्रतिभा का उदाहरण ही पर्याप्त होगा। एक जमाने में आरा के इन दोनों महाविद्यालयों ने शिक्षा की जो जमीन तैयार की थी उससे देश के कई विश्वविद्यालय लहलहा रहे थे। एक विश्वविद्यालय यहाँ बनना ही चाहिए था।

छोटी जगहों पर हर काम धीरे-धीरे होता है। धीरे-धीरे सुबह होती है और धीरे-धीरे दिन ढलता है। आरा में भी जो परिवर्तन की प्रक्रिया है वह धीरे-धीरे घटित हो रही है। आरा बदल रहा है। लेकिन वैसे नहीं, जैसे बाकी देश और दुनिया। एक खूँटे में कसकर, एक मजबूत पगहे द्वारा बंधे होने के कारण यह बदलाव दूर से देखने पर कुछ नए-नए घरों के रूप में दिखाई पड़ सकता है। वही लोग जो कभी गैर बराबरी के सूत्रधार थे आज गाँवों में आतंक के भय से शहरों में बीघा के बदले कट्ठा की तलाश कर रहे हैं। बड़े-बड़े घरों में रहने वाले लोग आरा में 'फ्लैट' बनाकर अपनी असुरक्षा ग्रन्थि को सहलाते हुए एक नई जिन्दगी शुरू कर रहे हैं। प्रो. अमर्त्य सेन ने इसी संक्रमण के बारे में लिखा था कि गाँवों को हमने रहने लायक छोड़ा नहीं और शहरों को रहने लायक बनाया नहीं। यह बात आरा और इस जनपद पर सौ फीसद सही साबित होती है।

आरा के महाराजा कॉलेज परिसर स्थित 'आरा हाउस' के तहखाने में जहाँ हम स्कूल के दिनों में बड़ी जिज्ञासा के साथ उन सुरंगों को देखने जाते थे जहाँ कभी सुबह हुआ ही नहीं करती थी। वे सुरंगें कहां जाती थीं और कहां से आती थीं, यह सब सुनी सुनाई बातें हैं। लेकिन, इतना तो तय है कि इन सुरंगों के अवशेष हमें मुक्तिबोध की डायरी के उन पन्नों की ओर ले जाते हैं जहाँ उन्हें (मुक्तिबोध को) लगता था कि हर सभ्यता की बुनियाद में एक बूढ़ा आदमी रहा होगा, कुछ पुरानी जर्जर दीवारें रही होंगी जिनके अन्दर दबकर वह बूढ़ा मर चुका होगा और उसी ध्वंस पर नई-नई इमारतें उठ रही होंगी, जिनकी छतों पर लापरवाह और सुंदर लड़कियाँ मुस्कुराते हुए तफरी कर रही होंगी। कह सकता हूँ कि मुक्तिबोध कभी आरा नहीं आए थे लेकिन यह नहीं कह सकता कि उनका यह बिम्ब इस 'आरा हाउस' से उठाया हुआ बिम्ब नहीं है। आरा में बहुत कुछ है। ताल-पोखरे तो मुक्तिबोध के यहाँ बार-बार आते हैं उनकी भी आरा में कमी नहीं है और न ही उन ब्रह्मराक्षसों की जो पूरी सभ्यता और इस अधूरे शहर को अपने ढंग से परिभाषित करने पर तुले हुए हैं। फैज अहमद 'फैज' को लगता था कि -

> **''वाइज है नः जाहिद है, नासेह है नः कातिल है**
> **अब शहर में यारों की किस तरह बसर होगी।''**

मुझे लगता है कि जब वाइज, जाहिद, नासेह और कातिल सब एक साथ बैठ कर गुफ्तगू कर रहे हों तब उस शहर में यारों का हाल क्या होगा? आरा में रहने वाले लोग शायद बेहतर जानते हैं।

* *

गजेन्द्र पाठक का एक लेख पाठक पहल के हाल ही के एक अंक में पढ़ चुके हैं। भविष्य में हम साहित्य के छोटे छोटे केन्द्रों पर इस तरह की रचनाएँ प्रकाशित करना चाहते हैं।

कविताएँ

तापोष चक्रवर्ती

दिल्ली के पेड़

शहर में फाल्गुन का महीना है।
शहर के पिछवाड़ों में
पेड़ हैं, हरे हैं, भरे हैं;
नीचे स्कूली बच्चे खेल रहे हैं, दोपहर में।
पेड़ों के बीच पेड़ों के भविष्य की तरह,
हरे तोते तीरों की तरह छूट रहे हैं;
पेड़ों की पत्तियों पर, पेड़ों के अतीत की तरह,
मँडराती चीलों की काली छायाएँ विचर रही हैं;
जैसे कायनात का सब कुछ यहाँ मौजूद है।
बेशक दूर शहर का शोर है,
जहाँ सड़कें हैं, बस अड्डे हैं, जीवन चक्र हैं;
तमाम ध्वस्त संसार है।

झूठ

अगर सब कुछ नश्वर है
तो क्यों अंधेरे में रोशन होते हैं चिराग
क्यों गोपियों ने तज दी थी लोक-कुल की मर्यादा,
क्यों जोती गयी सूखी धरती बार-बार,

क्यों बनती हैं गुलेलें, झूले, गोटे की साड़ियाँ,
क्यों होती हैं सुबहें, सड़कें, दुआएँ,
क्यों रोते हैं बच्चे,
क्यों भरती होते हैं लड़के फौजों में,
क्यों बनाये जाते हैं कैलेंडर, नक्शे, कालीन;
ये सारा चरागाँ क्यों है?

नश्वरता झूठ है;
प्रोपेगेंडा है।

रामायण

रामायण में
राम, एक बड़ा राजा,
हर कदम पर
अपने को मजबूर पाता है,
ज़िन्दगी भर;
राम, एक ऐसा आदमी,
जो चाहे तो शिवधनुष तोड़ सकता है।

एक गरीब की कहानी है यह,
चुरायी हुई;
तभी यह रामायण है हमेशा।

पिछवाड़े पर चाँद

अमावस के करीब आता हुआ
लुप्त होता हुआ चाँद
भोर के करीब, स्थिर घड़ियों में निकलता है,
दिन के पिछवाड़े में, मन के;
अपनी आखिरी रोशनी पूरी डालता है।

यह पिछवाड़ा,
पिछवाड़ा है पूरे जीवन का,
शिकस्तों का म्यूज़ियम,

दर्दों और दर्द के ठूठों का अंतिम आरामगाह।
इसकी चौकीदारी करते हैं आजीवन
बाहर की नज़रों से;
वर्तमान दर्दों से बाहर थोड़ी जगह है,
कुछ समय आराम करने की;
चाँद की सफेद रोशनी में,
सूरज की लाल रोशनी से पहले।

कल्लू का कलयुग

कल एक मिली थी,
चमकती, नयी सी, लाल, गोल,
किसी नायाब अनदेखी खिलौना गाड़ी के
खोये हुए लम्बोतरे पहिए जैसी
जिसके दोनों छोरों पर चाँदी की बिंदियाँ हैं,
जो जमीन पर ठेल देने से
स्थितप्रज्ञ की धीर चाल से चलती हैं,
जिसको बाजे में डाल देने से
वो बोलने, बजने लगता है,
जिसके मखमली खंभे जैसे शरीर पर
अंग्रेजी तस्वीर है।
ऐसी 18 हैं अब तक मेरे पास;
100 हो जाने पर 5 रुपये मिलेंगे,
कल्लू की तरह।

ऐसे करोड़ों कल्लू
लाखों कबाड़ी ठेकेदारों को
फुँकी बैटरियाँ बीन दे रहे हैं
अपनी इकलौती कमीजों से रगड़कर
चमकाकर;
जहाँ से कचरा मंडियों के गोदामों तक पहुँचकर
ट्रकों में लदकर ये सैकड़ों मील चलेंगी,
और बड़े कारखानों में पहुँचकर, धूल झाड़कर,
तोड़ कर, जला कर, पीस कर, पिघला कर, सुखा कर,
इन्हें फिर से नयी बैटरियाँ बनाकर,

सुन्दर गत्तों के डिब्बों में सजाकर,
ट्रकों, रेलगाड़ियों से, सैकड़ों मील ले जाकर,
चमकती दुकानों में झलका कर, बिकवा कर,
फिर बाजों में डाला जाएगा,
जो इनके फिर से फुँक जाने तक
दुनिया भर की बातें करेंगे, गीत गाएँगे।

कचरा ठेकों से, मंडियों से, कारखानों से,
बाज़ारों से, दुकानों से, जेबों से,
पैसा बैंकों में इकट्ठा होकर,
टेलीफोन के तारों से,
दिल्ली, बम्बई घूम कर, ग्लोबल होकर,
आकाश की ओर उड़ जाएगा
जहाँ फिट कर रखी अंग्रेजों की चाँदी की तश्तरी से
उछल कर वापिस छिटकेगा,
और अंग्रेजी आकाश से होता हुआ
वहाँ के टेलीफोन के तारों के जरिये
अंग्रेजी बैंकों, कारखानों, दुकानों, जेबों तक जाकर
साँस लेगा।

* *

विज्ञान पर पहल पुस्तिका तापोष चक्रवर्ती का ऐसा काम था जिसे पाठक आज भी याद करते है। उनके कई लेख पहल में प्रकाशित हैं। मूलतः अर्थशास्त्र की विधा में पारंगत और हाल ही में आई.डी.बी.आई. से स्वैच्छिक अवकाश लेकर सेवानिवृत्त। कविताएं एक संग्रह के रूप में लगभग तैयार लेकिन पहल में पहली बार प्रमुख रूप से प्रकाशन। दिल्ली में रहते हैं।

"चार कविताएँ"
दिनेश जुगरान

रुख़सत से पहले

मैंने ही हर बार
देर की है
निर्णय लेने में
हवा तो कई बार गुजरी
मेरे बहुत करीब से
हाथ थे जिस्म में लिपटे हुए
और मुट्ठियाँ बन्द

आवाज़ें भटकती हुई
रोशनी वाले चौराहे से
गुजर कर
मेरी गली की कगार तक
पहुँच गई हैं
एक हत्यारा भी
दाखिल होने वाला होगा
उसकी परछाईं बिखरी हुई है

इस बेजान लम्हे में
तुम मेरे बहुत करीब से भी गुजरो

तो भी
उन हमला करने वाले हाथों को
देख नहीं पाओगे
बचाना तो कभी
तुम्हारी कोशिश में शामिल नहीं था

इस शहर की पुरानी इमारतें
अपने मौन में
किसे याद करती हैं
इनकी आँखें कहाँ हैं
कोई भी आवाज क्यों सुनाई नहीं देती
सारी खामोशी मेरी पीठ पर लदी है

एक अजनबी
दीवार के पास खड़ा
मुस्कुरा रहा है
वे लम्हे
जिन्हें मैंने अपना साक्षी बनाया था
मेरी हड्डियों में चुभ रहे हैं

एक गूँगा व्यक्ति
बहुत देर से
मेरे करीब बैठा हुआ है
मेरी आवाज का सारा तिलिस्म
गायब हो चुका है
बहुत सारे चकनाचूर चेहरों के बीच
तुम मुझे साफ दिखाई दे रहे हो

एक तारा
जिसकी आँखें हैं नम
हौले से आवाज देकर
रोकता है मुझे
उसकी मुट्ठियों में बन्द है
शायद
रुख़सत से पहले
गुजरा हुआ वक्त

मेरी याददाश्त का फ़रिश्ता
कहीं गुम हो गया है

जब देर रात
देह में उठता है दर्द
तब मेरी आँखों
और होठों का फासला
बहुत कम हो जाता है

मुझे अकेला छोड़ दो
मुझे जाना है
अपने बेतरतीब
और बेवजह बातों के
सिलसिलों को
आगे बढ़ाने के लिए
जहाँ 90 साल की दादी
अकेले ही रात को
पहाड़ों में
एक लाठी के साथ
अपनी गाय को
खोजने के लिए निकल जाती है

पहाड़

पहाड़ों पर लिखी हुई
इबारत को
दूर से
पढ़ा नहीं जा सकता
और करीब जाने का हौसला
तुम्हारे पास नहीं है

मुझे मालूम है
दूर-दूर तक फैली हुई
पहाड़ों की वादियाँ
छोटे-छोटे घर

पगडण्डियों के घेरे
कतार में चलती औरतें
दूर-दूर तक बसे हुए गाँव
तुम्हें बहुत खूबसूरत लगते हैं

इस तमाम हरियाली के पीछे
पहाड़ों का दर्द
तुम्हें क्या मालूम

मैं पहाड़ों के
बहुत करीब रहा हूँ
और सारी इबारतों को पढ़ भी सकता हूँ
तुम लेकिन इसे समझ नहीं पाओगे
तुम्हें तो इशारों से
की गई बातें ही समझ में आती हैं

पहाड़ों के सन्नाटे की
लम्बाई को
नापते हैं
अपनी छड़ियों से
कुछ बचे हुए लोग
जब जब ऐसा होता है
उनके आस-पास
की बर्फ भी पिघलने लगे
धै* लगा कर बुला लेते हैं
एक दूसरे को
अपने आस-पास

मुझे नहीं मालूम
कहाँ ले जाऊँगा अपनी
बूढ़ी दादी को
अगर वह अचानक हुई बीमार
पहाड़ ही थप-थपा देते हैं उसकी पीठ
और पी लेते हैं उसकी सारी पीड़ा

---

* धै आवाज देना (पहाड़ी शब्द)

पहाड़ कभी चाँद की ओर नहीं देखते
और न ही चाहते हैं किसी तारे को छूना
वह देखते हैं एकटक
उन्हें
जो चले गये हैं उनसे दूर
इन्तजार है उनकी वापसी का

मेरे और तुम्हारे बीच

जब मैं मिलता हूँ तुमसे
कोई बात नहीं करता
मेरी बातों और
तुम्हारे बीच
इतनी दूरी हो गई है
मैं तुम्हें कोई भी
आप बीती नहीं सुना सकता
कोई एक घास का तिनका भी
नहीं बचा है
मेरे अन्दर जिसे
शब्दों के बदले मैं दे सकूँ

ये समय वैसे भी
लम्बी-लम्बी बातें
करने का
नहीं रह गया है
सबकी कलाइयों में घड़ियाँ
अलग-अलग समय दिखा रही हैं

तुम वैसे
कुछ सुनने को तैयार भी नहीं हो
तुम्हें एहसास है
मेरे पास कहने को कुछ नया नहीं है
तुम्हारी चुप्पी से मुझे कोई भय नहीं है
डर मुझे सिर्फ
तुम्हारी आँखों से है
जो लगातार पैनी होती जा रही हैं

तुम करो कोई बात
या मैं दूँ कोई जवाब
कोई फर्क नहीं पड़ता है
समय की खामोशी को
आओ आपस में बाँट लेते हैं

देखो, बाहर रात का अन्धेरा है
पूरी दोपहर तुम काफी बोल चुके हो
अन्धेरा महसूस करो
सुबह जागते समय
फिर चिल्ला लेना

रात होने तक

ये क्या वही आँखें हैं
जो थोड़ी देर पहले
मुझे सड़क के किनारे
घूर रहीं थीं

उन आँखों का रंग
शाम होने तक
मेरी दीवारों पर
लिपटे स्लेटी रंग
से मिलता हुआ लगता है

कहीं वे मेरी ही आँखें तो नहीं हैं
जो शाम होने तक
लगने लगती हैं
इतनी भयावह

तुमने सुबह-सुबह
जिस माथे को छू कर
किया था बिदा
घर लौटते वक्त
उस पर लिखी होती हैं

मौत की कई इबारतें
हम आदी हो गये हैं
अपने-अपने
भय के दायरे में
जीने के
रात होने तक
मेरी आवाज भी
उगलने लगती है
अन्धेरा

हवाएँ घर की चार दीवारी के बाहर
चौकन्नी
शहर के चौकीदारों के हाथों में
एलान करता हुआ
एक भोंपू है
अन्धेरे में छुपी हुई परछाइयों की तलाश में

मेरे पास तुम्हें तसल्ली देने के लिए
कोई शब्द नहीं
तुम सो जाओ बच्चों के साथ
मैं सो जाता हूँ दरवाजे के करीब

* *

अपने दो कविता संग्रहों और उनकी चर्चा से जाने माने गए। 26 जुलाई 1945 को लखनऊ में जन्म। मूल निवास पौड़ी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शिक्षा पूरी की। 1966 से भारतीय पुलिस सेवा में। भोपाल में रहते हैं। संगीत, कविता और सत्संग में गहरी रूचि।

अनूप कुमार की कविताएँ

मांडवेदिकर के वे बच्चे और बसंत खोजती चिड़िया

मांडवेदिगर एक गांव है - अपनी उपेक्षित, वंचित, प्यासी स्थितियों से ग्रस्त उसके यथार्थ का स्वप्न है - प्यास बुझाने के लिए पानी का टैंकर मिलना। मांडवेदिगर सिर्फ एक गांव नहीं, वह पूरा हिन्दुस्तान है। अकर्मण्य, कामचोर, साहस न जुटा पाने वाले कर्मचारियों, नेताओं और शासकों से ग्रस्त, अविकसित मांडवेदिगर हमारे देश का ऐतिहासिक कालखंड यानी वर्तमान है। इस कविता के कला रूप में नाट्य, कथा, पत्रकारिता का संश्लेष है। मुझे कविता का अंतिम अंश भी बहुत पसंद है - क्योंकि वह आरोपित नहीं। पूरी कविता गांव की अंदरूनी वास्तविकता का विश्वसनीयता से निर्माण करती है।

''बसंत खोजती चिड़िया''। जैसी कविता मैंने पहले नहीं पढ़ी। बसंत के आने पर उसके सौन्दर्य का चित्रण बहुत मिलता है, उसके आने के लक्षण भी बहुत किन्तु बसंत खोजती चिड़िया का चित्र, एकदम नया है। प्रकृति और मनुष्य जिसे चराचर कहें ऐसी आंतरिक एकलयता चित्रित करना कोई मामूली बात नहीं है। प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष की लय दिखाना वस्तु और रूप की एकात्मता की सिद्धि है।

-विश्वनाथ त्रिपाठी

धूप थी बहुत तेज
बगूले उड़ रहे थे आग के कनों के
मांडवेदिगर गांव पूरा डूबा था धूल में
गांव क्या टेकड़ी पर बसी बावन घरों की बस्ती
धरती के पांव की फटी बिवाई जैसी
अभिशप्त प्यास का दूसरा नाम था मांडवेदिगर
प्यास का मौसम था वहाँ प्यास जो थी बारहमासी
प्यास से दरक गई थी मांडवेदिगर की छाती
पेड़ों के हलक भी ऐंठ गये थे प्यास से

गायें ढो रही थीं प्यास सूखे पिंजरों में
मांडवेदिगर के धूसर आसमान में
बादल का एक टुकड़ा न था।
तिलतिलाती धूप में एक चील मंडराती थी
जैसे चीखती थी मनहूस..दुष्काल..दुष्काल!!

* * *

भेज दो टैंकर मांडवेदिगर!
कहता है मैले साफे की कोर से पसीना पैंद्ता
भटकों का कारभारी विश्राम भोजू धनगर
प्यास से हलख गया है मांडवेदिगर
एक माठ पानी के लिए औरतें जाती हैं चार कोस भर
पैरों में बना लिये हैं कांटों ने बिस्तर
भेज दो टैंकर मांडवेदिगर
नहाने को कौन कहे दाल सिजाने को नहीं पानी थेंब भर
आते हैं सावळदा गांव में टैंकर चार चार चक्कर
एक उधर भी भेज दो सरकार मांडवेदिगर
रास्ता खराब है तो क्या हुआ
कर लेंगे हम रास्ता हमवार सब
उठाएंगे फेंक देंगे रास्ते के दगड़ पत्थर
भेज दो टैंकर मांडवेदिगर

* * *

नहीं जा सकता टैंकर मांडवेदिगर
वहाँ नहीं जाती कोई सड़क कोई जीप कोई अफसर
टेकड़ी पर का छोटा सा तो गांव है मांडवेदिगर
वहाँ पर नहीं है पानी की समस्या सर
है भी तो सालों को आदत है सर
कहता है सावळदा ग्रुप ग्राम पंचायत का
ग्राम सेवक मानकर
जिसके हवाले है तीन सौ की बस्ती मांडवेदिगर
नहीं जा सकता टैंकर मांडवेदिगर

* * *

नहीं जायेगा टैंकर मांडवेदिगर
कोई रास्ता नहीं जाता वहां, वहां हैं फक्त दगड़ पत्थर
टैंकर का पानी रास्ते में छलक कर भाप हो जायेगा सब
हर साल ही जाती हैं उनकी औरतें, पांच पांच कोस भर
नहीं है कोई तकरार उनकी दरकार समझे सरकार

कम किया सावळदा के टैंकर का एक भी फेरा
तो बज जाएंगे आपके कचेरी पर तीन तेरा
टंकी को नहीं पुरेगा पानी
मांडवेदिगर के बच्चे
उन्होंने देख लिया था टैंकर
वे दौड़े इस तरह जैसे दौड़ते है छौने
गोधूलि में लौटती मांझो को देखकर
वे उठा रहे थे रास्ते के दगड़ पत्थर
वे चुन रहे थे कच्ची सड़क के नुकीले कंकड़
अपने नन्हें सधे हाथों को तेजी से चलाते
वे कर रहे थे टैंकर के दुश्वार रस्ते को हमवार
मांडवेदिगर के वे बच्चे
नहीं उठा रहे थे छोटे छोटे कंकड पत्थर
वे तो उठा रहे थे भारी भारी शिलाएँ
और बना रहे थे एक पुल
प्यास और टैंकर के दरम्यान

बसंत खोजती चिड़िया

झरबेरी के झाड़ में बसंत खोजती है पीली चोंच वाली लम्बी सी चिड़िया
पर्णहीन पेड़ पर कुल्हाड़ी सी चोंच से खुटखुट करता
काठ में दरवाजा खोजता है कठफाड़वा
भरी बदली पेड़ के नीचे ऊपर
धूप खोजती है भीगी सी गिलहरी
मुंडेर से उड़ान भर आंगन में देर तक
दाने खोजती है गौरेया
कचरा किरिच कांच प्लास्टिक के ढेर में
रोटी खोजता है
कचरा बीनता अधनंगा बच्चा

सड़क

गहरे भूरे काले रंग के चकत्तों वाली
सर्पिणी सी चमकती पीठ जैसी

लगातार चलते रहने के बावजूद
अलसाई पड़ी क्लांत लेटी सी
पहाड़ के घुमावदार मोड़ों पर
फुर्ती से धनुष सी तानती सारी काया
अदम्य पाओगे हर रूप में उसे
भूगोल की दुर्गम ज्यामितियों से
एक अद्भुत समीकरण बनाते
पाओगे उसे जूझता हमेशा
अस्तित्व की चिंधियां करती
विपरीत स्थितियों से
ये सड़क है
जो जलते हुए चारकोल को
मलहम सा पीठ पर मलती
हमेशा रौंदी जाती फिर भी
कच्छप की पीठ सी
सारी पीड़ा को निरपेक्षता से अंतर्मुख करती
सड़क साक्षी है जीवन की गति अगति की
आईना होती है समूचे देशकाल का सड़क
सारे दावों की अंदरूनी सच्चाइयों के बारे में
एक तटस्थ गवाह का बयान होती है सड़क
सड़क को पता होते हैं
चालाकी से छुपाए गये वो दस्तावेज
जो उसके बारे में
तमाम जालसाजियां
तकनीकी सलीके से दर्ज करते हैं
सड़क को कंठस्थ होती है
माप पुस्तिकाओं की वो सारी मापें
जिनके चलते उसकी मरी हुई
त्वचा के भीतर भूसा भर कर
मीलपत्थरों की इबारतों के साथ
लिटा दिया जाता है उसे
जिंदा लाश की तरह
एक भयानक खड्डे से भरी सड़क से गुजरते
नपुंसक आक्रोश से जब भर जाते हो तुम
तो कृपा करके सड़क को गाली मत उछालना

सुनना उसे ध्यान से
वह क्षण वह सिर्फ दम नहीं तोड़ती होती है
पूरी व्यवस्था को नामज़द करती
मृत्युपूर्व बयान देती होती है सड़क

द्वारकाबाई सोनवणे की संभावित मृत्यु

किसी को पता नहीं कि कैसे हुई
द्वारकाबाई सोनवणे के सात साल से लापता
पागल पति की संभावित मृत्यु
सड़क पर लारी से दबकर
पटरियों पर ट्रेन के नीचे आकर
पागलखाने की सलाखों से टकरा कर
भूख से तड़प कर जाड़े से ठिठुर कर
नदी पर बने पुल से गिर कर
लेकिन द्वारकाबाई सोनवणे की संभावित मृत्यु
भारतीय साक्ष्य संहिता के
अनुच्छेद 7 के उप अनुच्छेद (3) से दबकर हो गई थी
वैसे तो अकसर ही हो रही थी आजकल
द्वारकाबाई सोनवणे की टुकड़ा टुकड़ा मृत्यु
कभी बड़ी बड़ी फाइलों के बीच घुटकर
कभी प्रशस्त जिला कार्यालय की ड्योढ़ियों से टकराकर
कभी चपरासियों की घुड़कियों से हड़क कर
पिछले सात साल से पागल पति की संभावित मृत्यु
और जिंदा रहने की संभावना के बीच
एक पेंडुलम की तरह स्थितप्रज्ञ दुनिया की
कठोर दिवारों से टकराती रही थी वो
पति के लापता होने और मर जाने के बीच की उम्मीदें खुरचती हुई
पिछले कुछ महीनों में तो हर दिन ही
एक एक कतरा मरती रही है द्वारकाबाई सोनवणे
कभी बच्चों की भूख तड़प और रोने से अकुलाकर
कभी पियक्कड़ पागल पति के छोड़े कर्जों के तकाजों से पिस कर
चार घरों में बासन मलते मालकिनों के बोल खाकर
और कभी बस यूं ही बेवजह मरती रही है द्वारकाबाई सोनवणी
पिछले महीने कुछ हितचिंतक पड़ोसियों की सलाह पर उसने डाली थी अर्जी एक

अनुच्छेद 7 उप अनुच्छेद (3) भारतीय साक्ष्य संहिता अंतर्गत
जिलाधीश को दिया था एक प्रार्थना पत्र
सात साल से लापता पति की संभावित मृत्यु का
एक अदद प्रमाणपत्र चाहिये था
जो मिल सकता था उसे कानून की धारा के तहत
जो दिला सकता था उसके सरकारी चौकीदार पर विक्षिप्त हो गये पति की ग्रेच्युटी और कुछ और रकम
जिससे पाल सकती थी वो बच्चे और जिंदा रहने की उम्मीद भी
पर मिलेगा नहीं उसे प्रमाणपत्र कहते हैं जिले के बड़े हाकिम
बहुत अनुभव है उन्हें
पके हुए हैं तटस्थ व्यवहारिकता से
कहते हैं झूठी होती हैं ऐसी औरतें
ऐसी अर्जियाँ जोखिम भरी होती हैं बहुत
वे बताते है कि कैसे तेरह साल पहले
फलाने गांव के अलाने लापता आदमी की
संभावित मृत्यु की अर्जी की थी उसकी पत्नी ने सात साल बाद
और प्रमाणपत्र जारी करने के कुछ महीने बाद ही लौट आया था उसका पति
नहीं मिलेगा ऐसा कोई प्रमाणपत्र तुम्हें
जाओ बाई घर जाओ और रस्ता देखो अपना घुड़कते हैं बड़े हाकिम
और इस तरह नहीं हो सकी पति की संभावित मृत्यु की घोषणा
और मर गई थी ऐन सबके सामने द्वारकाबाई सोनवणे

अनूप कुमार का जन्म 15 अगस्त 1964 को इलाहाबाद में हुआ। इलाहाबाद, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और लंदन विश्वविद्यालय में अध्ययन। भारतीय प्रशासनिक सेवा में। 1983 में पहली कविता ''हरी काई वाली झील'' लिखी गई। कुछ छिटपुट कविताएं छपीं पर पहल में पहली बार प्रमुख रूप से। पहला कविता संग्रह ''बसंत खोजती चिड़िया'' इस वर्ष के अंत तक आ सकता है।

प्रेत छाया

मनोज रूपड़ा

किसी दूसरे व्यक्ति की उलझी हुई मानसिक ग्रंथि को सुलझाने में हर किसी को बड़ा आनंद आता है। खास तौर से ऐसी कोई गुप्त समस्या, या गूढ़ भाव, जो सहज नहीं होते और आसानी से समझ नहीं आते। जो लोग ऐसे कामों में रुचि रखते हैं, उन्हें दूसरों को आंकते समय लगभग वही अनुभूति होती होगी जो शतरंज के खिलाड़ी को उस वक्त होती है, जब वह अपने प्रतिद्वंद्वी की किसी जटिल चाल को समझने की कोशिश करता है। लेकिन कोई इन्सान ख़ुद को आंकना चाहे तो उसकी चतुराई उसका साथ क्यों छोड़ देती है? दूसरों के बारे में कोई आकलन करना हो तो आपके पास थोड़े-बहुत बाहरी साधन होते हैं लेकिन ख़ुद को समझने और समझाने का मामला कितना गंभीर है? खासतौर से तब, जब आपको यह लगने लगे कि आपके भीतर कुछ ऐसा चल रहा है जो आपके अभी तक के इंद्रियबोध से अलग है, और आपकी मर्जी का सूत्र आपके भीतर से नहीं कहीं बाहर से निर्देशित हो रहा है।

ऐसा हर किसी के साथ हो, यह जरूरी नहीं है, लेकिन किसी के भी साथ हो सकता है। और जिसके साथ होता है, सिर्फ़ वही जानता है कि यह विडम्बना कितनी त्रासद है। क्योंकि कोई भी इसे अपना दुर्भाग्य नहीं मानता। कोई यह नहीं समझ पाता कि वह उस ताकत के सामने कितना लाचार होता है, जो उसे वह सब करने के लिए बाध्य करती है, जो कानून के नजरिये से संगीन जुर्म और समाज की दृष्टि से घोर अनैतिक है।

आज आप मेरे बांए हाथ की कटी हुई अुंगलियों, अधजले चेहरे और गर्दन और छाती के बीच पिघल कर जम गए मांस के लोंदे को देखकर चाहे जो अनुमान लगाएं, और मेरे उच्छृंखल जीवन और भयंकर आवारागर्दी, शराबखोरी और शिष्टाचार के नियमों और वर्जनाओं को तोड़कर मनचाही विलासिता के निर्द्वंद्व अखाड़े में की गई मनचाही और हर तरह के कुकर्म और खून-खराबे को जोड़कर मेरे ऊपर चाहे जितना बड़ अभियोग लगाएं, चाहे जैसी सजा का फ़ैसला सुनाएं, मुझे कोई मलाल नहीं होगा। अफसोस सिर्फ़ इस बात का रहेगा कि आप में से कोई कभी इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि ये सब मैंने नहीं किया। उसे करने वाला कोई और था। बेशक वे सारे कारनामे मेरे हाथों हुए लेकिन उन हाथों को संचालित करने वाला कोई और था।

मैं जानता हूँ मेरी इस बचकानी दलील को आप तुरंत खारिज कर देंगे और इस बात पर आप कभी

यकीन नहीं करेंगे कि जो गुनाह मैंने किया है, उसके लिए मेरी आत्मा नहीं, कोई अज्ञात शक्ति जिम्मेदार है।

यहाँ एक बात और साफ़ कर लेने की जरूरत है जो मेरे मामले में सबसे अहम बिंदु के रूप में उठाई जाएगी, अगर इन सब कारगुजारियों को सिर्फ़ एक स्नायविक रोग समझ रहे हैं तो यहां मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आप ग़लत समझ रहे हैं और बिल्कुल शार्टकट तरीके से आप मुझे विक्षिप्त साबित करने की कोशिश कर रहे हैं। ठीक उसी तरह जैसे शातिर अपराधी के बारे में कोई सुराग न मिलने पर किसी निर्दोष को बलि का बकरा बनाया जाता है। सुराग खोजने के बजाय दूसरों पर दोष थोप देना ज़्यादा आसान होता है। आप कभी यह जानने की कोशिश नहीं करेंगे कि ऊपर मैंने जिस 'करने वाला कोई और' का ज़िक्र किया है, वह कौन है? कहां से आया है और उसका मुख्य इरादा क्या है?

ऐसे किसी 'कल्पित दूसरे' की तहकीकात करके व्यर्थ में समय गंवाने की ज़रूरत क्या है जब आपके सामने 'प्रत्यक्ष अपराधी' और चश्मदीद गवाह मौजूद है।

मैं जानता हूँ मेरी इस फिजूल की बकवास में आपकी कोई दिलचस्पी नहीं है, फिर भी उस भुतहे, भयानक रूप से आक्रामक और उतने ही छुपघुन्ने, बहुत शातिर, कमीने और चालाक आदमी के बारे में शुरू से लेकर आखिर तक सब कुछ बताए बग़ैर मुझे चैन नहीं मिलेगा। मैं आपको सब बताऊंगा कि कैसे सबसे पहले मैंने एक होनहार, गरीब और लगभग हर विषय में प्रतिभाशाली विद्यार्थी के डेस्क पर चाकू से उसकी बहन का नाम लिखकर 'च' अक्षर से शुरू होने वाले एक अश्लील शब्द को बहुत गहरी खरोंच के साथ गोदा था फिर उसी चाकू की नोंक से उस क्लास टीचर के नाम एक भयानक धमकी लिखी, जो गरीब और होनहार विद्यार्थियों पर अपनी विशेष कृपा और अनुकंपा के लिए पूरे कॉलेज में विख्यात था।

यह सब दिन के उजाले में सबके सामने हुआ। और मुझे जब होश आया तब आश्चर्य इस बात का नहीं था कि मेरी इस हरकत के ख़िलाफ किसी ने आवाज क्यों नहीं उठाई, बल्कि मैं इस बात से हैरान था कि मेरे हाथ में इतना बड़ा चाकू आया कहाँ से? मेरा दिमाग इस कदर चकरा रहा था कि कोई चीज पकड़ में नहीं आ रही थी। मुझे अपने शरीर में भी एक अजीब तरह की असहजता महसूस हो रही थी - एक ऐसी जलन, जिसकी मुझे पहले कभी अनुभूति नहीं हुई थी। उस वक़्त उस जलन के बारे में सोचने के बजाय मेरे लिए यह जानना ज़्यादा जरूरी था कि चाकू मेरे हाथ में कब और कैसे आया?

अपनी स्मृति पर बहुत जोर देकर मैंने शुरू से आखिर तक की अपनी उस दिन की दिनचर्या पर गौर किया। कैसे मैं युनिवर्सिटी के कन्वोकेशन हॉल में दाखिल हुआ और मेरे कुछ चुनिंदा दोस्तों की टोली ने कैसे मुझे चारों तरफ से घेर लिया, फिर मंच से जब मेरे नाम की उद्घोषणा हुई तो कैसे तालियों की आवाज से हॉल गूंजने लगा। मंच की तरफ बढ़ते समय मेरे कंधों और पीठ को किन-किन प्रोफेसरों ने थपथपाया और लाल फीते से बंधा स्मृति चिन्ह जब मेरे गले में पहनाया गया तब तालियों और सीटियों की आवाजों ने कैसा रौद्र रूप धारण कर लिया था। वाइस चांसलर जब मेरी तारीफों के पुल बांध रहे थे तब मैंने मचलते हुए हॉल पर एक नजर डाली। मैंने देखा, लगभग सारी उपस्थिति एक ही लय में झूम रही थी लेकिन प्रोफेसर श्रीनिवास बिल्कुल अलग-थलग खड़े थे और वह स्कॉलर... हाँ अब मुझे याद आ रहा है, वह गरीब विद्यार्थी, जो सबसे आखिरी पंक्ति में बैठा था, उसका ताली बजाने का ढंग कुछ अलग था। वह दूसरी तालियों जैसी नहीं, उनसे कुछ अलग प्रकार की ताली थी। उसकी लय अलग थी और ध्वनि - मुझे आश्चर्य है सैकड़ों अन्य आवाज़ों के बीच मैंने उस ध्वनि को कैसे अलग से पहचाना - हालांकि वह स्पष्ट रूप से हूटिंग करने वाली ताली नहीं थी लेकिन उसमें अवमानना का हल्का-सा भाव छुपा था। फिर मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा और इतनी लम्बी दूरी के बावजूद मुझे स्पष्ट दिखाई दिया कि वह अपने होठों के किनारे तिरछे करके एक

उपहास भरी मुस्कराहट के साथ प्रो. श्रीनिवास की तरफ देख रहा था। उसे और उसके ताली बजाने के ढंग को देखकर प्रोफेसर के चेहरे पर भी व्यंग्य भरी मुस्कराहट उभर आई, जैसे इस पूरे जोश भरे अति अलंकृत आयोजन और उसके मुख्य केन्द्र बिन्दु, यानि मुझे वे अप्रत्यक्ष रूप से आपसी इशारों में खारिज कर रहे हों।

कुछ देर की इशारेबाजी के बाद जैसे ही उन दोनों ने मेरी तरफ नजरें उठाईं, दोनों एक साथ सकते में आ गए। मैं बहुत गौर से उन्हें देख रहा था और मेरे देखने में पता नहीं ऐसा क्या था कि वे सकपका गए। प्रो. श्रीनिवास तो तुरंत हॉल से बाहर चले गए पर वह विद्यार्थी जैसे पथरा गया हो। उसके हाथ हवा में ही स्थिर हो गए, चेहरे से मुस्कराहट गायब हो गई, तिरछी काट करते होंठ बिल्कुल सीधे हो गए।

मंच से उतरने के बाद कुछ देर तक मैं मित्रों और प्रशंसकों से घिरा खड़ा रहा, फिर मैं हॉल से बाहर निकला और गले से तमगा उतारकर उसे अपनी जेब में डाल दिया। फिर मैं क्लास रूम की तरफ जाने वाले गलियारे में चल रहा था तब मेरी दृष्टि के विस्तार में मौजूदा वास्तविक दृश्यों के बजाय हर तरफ उस विद्यार्थी के तिरछी काट करते पैने होंठ दिखाई दे रहे थे।

गलियारे के बीच दूसरी मंजिल पर जाने के लिए गोलाकार सीढ़ियां थीं। मैंने जैसे ही पहली पायदान पर पैर रखा, मुझे अपने कंधे पर दबाव महसूस हुआ। वह दबाव बहुत सख़्त, हड्डीला और निर्मम था। मैंने अपना चेहरा पीछे घुमाया, जीने के निचले हिस्से के अंधेरे में कोई खड़ा था। अंधेरे के कारण उसे पहचान पाना थोड़ा कठिन था लेकिन उसकी कदकाठी बिल्कुल मेरे समान थी। पता नहीं क्यों मेरा ध्यान उसके चेहरे के बजाय उसकी आँखों पर केन्द्रित हो गया। मैंने ऐसी आँखें पहले कभी नहीं देखी थीं। उन आँखों का रंग राख जैसा था फिर जब मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा तो मुझे भयानक आश्चर्य हुआ – सिर्फ़ कद काठी और पहनावा ही नहीं, उसका चेहरा भी बिल्कुल मेरे जैसा था।

कुछ देर तक मेरे चेहरे को घूरते रहने के बाद मेरे उस हम शक्ल ने नजरें हटाकर तरेरती हुई आँखों से बांयी ओर इशारा किया। मैंने एक झटके से गर्दन फेर कर बांयी तरफ देखा, गलियारे के एक स्तंभ की ओर से वह गरीब विद्यार्थी झांककर मुझे देख रहा था। मेरी नजर जैसे ही उस पर पड़ी, उसने झट से अपना चेहरा स्तंभ की आड़ में छुपा लिया।

मैंने वापस दांयी तरफ चेहरा घुमाया, उस अजनबी हमशक्ल से दोबारा नजरें मिलाई और मैंने देखा कि उसकी आँखें मुझे कोई आदेश दे रही थीं। अब मुझे यह भी याद आ रहा है कि ठीक उसी वक्त मेरे दांये हाथ की अुंगलियों ने किसी ठंडी, वजनदार और मूठ जैसी चीज को झकड़ लिया था। मैंने उस चीज को देखना चाहा, पर मेरी नज़रें उसके चेहरे से हट नहीं पाईं। फिर मेरे दिमाग़ में एक विचित्र झुंझलाहट और पूरे शरीर में तेज जलन शुरू हो गई। एक बार फिर उसने आँखें तरेर कर मुझे ऊपर क्लास रूम में जाने का इशारा किया और मेरे पैर ख़ुद ब ख़ुद सीढ़ियां चढ़ने लगे और क्लास रूम में जाकर मैंने कितनी घिनौनी हरकत की यह मैं पहले ही बता चुका हूँ।

उस अश्लील और कायराना हरकत के बाद जब मेरी दिमाग़ी हालत कुछ सामान्य हुई तब डेस्क पर और तख़्ते पर उकेरे गए उन शब्दों को पढ़कर मैं बुरी तरह झल्ला उठा क्योंकि मेरे हाथों यह जो कुछ भी हुआ था, वह मेरी फितरत के अनुकूल नहीं था। इतनी क्षुद्र और इतनी गलीच कुंठा मेरे अंदर कैसे आ सकती है जबकि मैं इस तरह की धूर्त हरकतें करने वालों को खुले आम नामर्द कहता रहा हूँ और शुरू से ही आमने-सामने और आर-पार वाली लड़ाई में यकीन रखता आया हूँ।

अब मेरे लिए उस छात्र से मिलना जरूरी था। अपनी शर्मिंदगी जाहिर करने के लिए नहीं, बल्कि उसे

यह बताने के लिए कि मेरी उससे कोई दुश्मनी नहीं है। मैं उसे यकीन दिलाना चाहता था कि क्लास में आज जो कुछ भी हुआ वह किसी अज्ञात कारण से हुआ। मैं वैसा नहीं हूँ जैसा तुम समझ रहे हो और अगर तुम मुझे वैसा समझोगे तो मैं तुम्हें बता दूंगा कि मैं किस तरह का आदमी हूँ। मैं तुम्हारी ग़लतफहमी दूर करने के लिए कुछ भी कर सकता हूँ और अगर तुम मेरी तुलना किसी कुटिल चाल चलने वाले घटिया चालबाज या पीठ पीछे वार करने वाले किसी शातिर या छुपघुन्ने आदमी से करोगे तो मैं सबके सामने खुद अपने हाथ में चाकू घोंपकर बता दूंगा कि असलियत क्या है।

उस दिन मैं शाम होने तक यही सब सोचते हुए शहर की सड़कों पर इधर-उधर घूमता रहा फिर मैंने जमकर शराब पी। शाम ढलने के बाद जब मैंने दोबारा विश्वविद्यालय के परिसर में क़दम रखा तब मेरा दिमाग बिल्कुल मेरे काबू में था। और जब मैंने हॉस्टल की तरफ कदम बढ़ाए तब मेरे विचार और वे सारे शब्द, जो मैंने उस विद्यार्थी से कहने वाला था, एक संतुलित सांचे में ढल चुके थे। हॉस्टल के गलियारे में एक-दूसरे से जुड़े कई कमरों को पार करने के बाद आखिर मैं उस कमरे के सामने पहुंचा, जिसमें मेरा सहपाठी अपने अन्य रूम पार्टनरों के साथ रहता था।

मैंने उस कमरे के अधखुले किवाड़ों को दोनों हाथों से पूरा खोल दिया। कमरे में दूसरा कोई नहीं था। मुझे एक कुर्सी पर लैम्प की रोशनी में कोई किताब पढ़ता वह विद्यार्थी दिखाई दिया, जिसे मैं पूरे कॉलेज में सबसे योग्य मानता था। हालांकि घोषित रूप से तमाम मामलों में कॉलेज के लगभग सभी विद्यार्थी निस्संशय आँख मूंदकर मुझे अपना नेता मानते थे यहाँ तक कि खुद वह भी मुझे अपने से ज्यादा योग्य मानता था। उसने आज तक कभी भी मेरी मर्जियों में अपनी टांग अड़ाकर मेरे साथ प्रतिद्वंद्विता नहीं की थी। पहले और दूसरे राउण्ड में सबसे आगे निकल आने के बाद तीसरे राउण्ड में वह हमेशा पिछड़ जाता था। मैंने कई बार यह महसूस किया है कि जहां वह सीधे-सीधे बाजी जीत सकता था, उसने जान-बूझकर खेल को उलझा दिया। ऐसे अनेक अवसरों को वह हाथ से जाने देता था, जो उसे नम्बर वन का खिताब दिला सकते थे। एक कमजोर प्रतिस्पर्धी का स्वांग रचने में वह इतना माहिर था कि कोई नहीं जान सकता था कि असली चुनौतीपूर्ण मुकाबलों का वह कितनी चतुराई से सरलीकरण करता था और निर्णायक क्षणों में उसके द्वारा अनजाने में की जाने वाली भूल-चूक दरअसल कितनी सचेत, कितनी सन्नद्ध और कितनी अचूक होती थी।

सिर्फ़ मैं जानता हूँ कि 'जीत' किस तरह मुझे दान में दी जाती है। सिर्फ़ मुझे यह दिखाई देता था कि निर्णायक क्षणों में कोई बड़ी चूक करते समय उसके दाहिने होंठ का कोना एक वक्र मुस्कराहट से कैसे सिकुड़कर तिरछा हो जाता था और कैसे मुझसे आँखें चुराते हुए वह बेवजह दाएं-बाएं और ऊपर-नीचे देखने लगता था।

हीनता की सबसे निचली तहों से उठने वाले इस नीच और कुण्ठित भेदभाव को मैं बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर पाता हूँ लेकिन मैं हमेशा यह सोचकर तिलमिला कर रह जाता हूँ कि उससे बराबरी का 'असली' मुकाबला मैं कभी नहीं कर सकता क्योंकि वह दलित है और गरीब भी।

चाकूबाजी की उस घटना के बाद वह मुझे दिन भर कहीं दिखाई नहीं दिया था और अब वह मेरे सामने था। मैंने आगे बढ़कर कुर्सी के पीछे से उसके कंधों पर अपने हाथ रख दिये। उसने मुड़कर मुझे देखा और भय से उसका चेहरा सफेद पड़ गया। मैं मुस्कराया और उसकी तरफ मैंने दोस्ती का हाथ बढ़ाया लेकिन उसके दोनों हाथ कुर्सी के हत्थे से चिपक गए थे। वह सिर्फ़ मेरे चेहरे को देख रहा था और मेरा चेहरा देखते समय उसके चेहरे पर ऐसा भाव था, जो किसी के भी चेहरे पर केवल तब उभरता है जब अचानक कोई बहुत घातक और मारक चीज सामने आ जाती है।

मुझे समझ में नहीं आया कि वह मुझ से क्यों डर रहा था। मुझे यह स्पष्ट आभास था कि मैं मैत्रीपूर्ण तरीके से मुस्करा रहा हूँ और मेरे मन में कोई कुटिल भाव भी नहीं था, मगर मुझे भयंकर आश्चर्य हुआ जब मैंने सुबह की घटना पर खेद प्रकट करने के लिए अपना मुँह खोला,

''तुम्हारी माँ से जरूर किसी ऊंचे कुल के आदमी से अपनी

गोद भरवाई होगी... इसीलिए तुम इतने ब्रिलिएण्ट हो...''

वह अवाक, मुँह फाड़े मुझे देखता रह गया।

मेरे मुँह से एक बार फिर अनर्गल शब्द निकले,

''लेकिन तुम्हारे अंदर उस साहस की कमी है जो एक असली

खानदानी खून में होता है... तुम्हारी मां अगर मेरे नीचे

सोई होती तो तुम इतने डरपोक न निकलते...''

मैं दावे से कह सकता हूँ मेरे गले से निकलने वाली वह आवाज मेरी नहीं थी। उस खरखराती आवाज में सिवाय गालियों और धमकियों के और कुछ नहीं था। वह भय से कांपते हुए कुर्सी से उठा और बहुत तेजी से कमरे से बाहर निकल भागा और सिर्फ़ कमरा ही नहीं, उसने वह विश्वविद्यालय ही सदैव के लिए छोड़ दिया।

* * *

इस घटना का मेरे दिमाग पर बहुत गहरा असर पड़ा। मैं कभी उसे विस्मृत नहीं कर सकता। कुछ सप्ताह मैंने यूं ही पूछताछ में गुजारे या बहुत चिंतामग्न रहा। मुझे अब पक्का भरोसा हो गया कि कोई ऐसी ताकत जरूर है जो बहुत अमूर्त तरीके से मेरे मामलों में हस्तक्षेप कर रही है। लेकिन वह कौन है? क्या चाहती है?

बहुत पूछताछ करने पर मुझे सिर्फ इतना पता चला (जिन लोगों ने प्रत्यक्ष रूप से मेरे हाथों में चाकू देखा था उनसे) कि उस वक्त थोड़ी देर के लिए मेरा चेहरा बिल्कुल बदल गया था और मेरे दाएं हाथ की उंगलियां (चाकू फेंकने के बाद) ऐसे ऐंठ रही थीं जैसे वह लोहे की बनी हों। लेकिन यह तो बहुत सामान्य बात थी। जिस बात ने सबसे ज्यादा मेरे मित्रों को चौंकाया वह थी मेरे मुँह से निकलने वाली खरखराती आवाज और मेरी आँखें, जिनकी तुलना किसी धधकते अंगारे से की जा सकती थी।

बात सिर्फ़ आवाज और आँखों की नहीं थी। मैंने महसूस किया कि उस दिन के बाद मेरे समूचे वजूद में कोई बुनियादी बदलाव आ गया था। एक ऐसा बदलाव जो मेरी फितरत और मेरी तासीर से बिल्कुल अलग था।

ज्यों-ज्यों मेरी शारीरिक और मानसिक विकृतियां मुझ पर प्रकट होती गईं त्यों-त्यों मेरी झुंझलाहट अधिकाधिक बढ़ती गई और आखिर मैंने भी वह कालेज सदा के लिए छोड़ दिया। लेकिन उस विद्यार्थी के चेहरे ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मुझे उसका कातर चेहरा कहीं न कहीं दिख जाता था। जैसे वह पर्दे के पीछे या दीवार की ओट में सांस रोके खड़ा हो - किसी हत्यारे की नजरों से बचने के लिए। उसके उस भयभीत चेहरे की कल्पना करके मेरी झुंझलाहट और बढ़ जाती थी। हम दोनों के बीच यह बड़ी विषम स्थिति थी। वह मेरे आचरण से भयभीत था और मैं उसे अपनी उन भावनाओं से परिचित कराना चाहता था, जिसमें

उसके प्रति किसी भी तरह की शत्रुता का भाव नहीं था।

लेकिन मेरी सारी कोशिशें बेकार थीं। क्योंकि वह विद्यार्थी मुझे फिर कहीं दिखाई नहीं दिया और कुछ दिनों बाद उसके नक्श भी मेरी याददास्त में धुंधले पड़ गए।

* * *

अगर मैं भूलता नहीं हूँ, तो लगभग उसी समय के आस-पास मैंने अपने पिता के कारोबार में हाथ बटाने का निश्चय किया था। उन बहुस्तरीय और बहुउद्देशीय धंधों के विभिन्न पहलुओं का यथार्थ चित्रण करना बहुत मुश्किल है। वे इतने मिश्रित थे कि उनमें से किसी एक को अलग कर के कटघरे में खड़ा करना नामुमकिन था। वह वो दौर था जब कालाबाजारी और तस्करी जैसे पारंपरिक पेशों से लोग ऊब चुके थे। वे अब ऐसे कारोबार को नियोजित कर रहे थे, जिसमें किसी भी प्रकार के साहस या किसी भी तरह की लागत की जरूरत नहीं होती। सिर्फ़ चतुराई, सूझ-बूझ और ताल-मेल के जरिये राजनेताओं, अधिकारियों और ठेकेदारों की सुनिश्चित भागीदारी वाली नई अर्थव्यवस्था को उपयोगी बनाया जा रहा था, जिसमें कहीं कोई उद्यम नहीं था सिर्फ़ आंकड़ों की जटिल हेरा-फेरी थी। यह वह समय था जब बहुत तेजी से अपराधों का राजनीतिकरण हो रहा था और बहुत सारे आपराधिक दल क्षेत्रीय राजनीतिक दलों में बदल गए थे। उनकी जड़ें केन्द्र तक फैली थीं। केन्द्र के पास इन जड़ों को पोषित करने के लिए बहुत-सी योजनाएं थीं। हाई कमान से लेकर आला अफसरों, अधिकारियों, मंत्रियों और छुटभय्यों तक फैली विविध योजनाओं के लाभांश बिना किसी मध्यस्थ के सुनिश्चित नहीं होते। आई.डी.ए. और आई.बी.आर.डी. के अरबों डालर इस महादेश के महाविकास के लिए मचल रहे थे। इस मचलते हुए विदेशी धन को विकास परियोजनाओं की जरूरत थी और परियोजनाओं के निदेशकों को मेरे पिता जैसे कुशल और सुलझे हुए सूत्रधार की, जो केन्द्र और परिधि के बीच एक साथ कई नेटवर्क चला रहे थे। यह एक मिश्रित जगत था, जिसमें सब कुछ आपस में घुला मिला था।

सत्ता और नौकरशाहों के संरक्षण में चलने वाले इस दोहन उद्योग से मिश्रित जगत को इतना फायदा था कि उसकी सालाना आय के स्तर को कोई महाउद्योग भी पार नहीं कर सकता था।

प्रतिद्वंद्वी गुटों और विरोधी दलों से निपटने और तालमेल बनाने के अलावा इस मिश्रित पेशे में कहीं कोई रुकावट नहीं थी। दोहन उद्योग को बार-बार कुछ क्षेत्रीय राजनैतिक दलों के विरोध का सामना करना पड़ता था, जो उसे रोकने या बंद करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी प्रत्यक्ष भागीदारी के लिए भ्रामक जन आंदोलन चलाते थे। ये जन आंदोलन ऊपरी तौर पर बहुत रेडिकल दिखाई देते थे लेकिन उनका वास्तविक उद्देश्य 'धन' था और वह एक ऐसी चीज थी जिसे सब अधिक से अधिक हासिल करना चाहते थे।

निपटना और तालमेल बैठाना दो भिन्न कलाएं थी। मेरे पिता तालमेल बैठाने में बहुत माहिर थे लेकिन मेरी मूल प्रवृतियां पहले से ही इतनी कड़क, रूढ़ और आवेगपूर्ण थीं कि किसी लचीली मंत्रणा या गुप्त योजना के लिये उसमें कोई जगह नहीं थी। मैंने पिता की असहमति के बावजूद अपना अलग दल बनाया और बिना किसी पूर्व योजना के एक ही रात में दो प्रमुख अवरोधों को रास्ते से हटा दिया। मेरी इस औचक और सीधी कार्रवाई ने, जो मेरे पिता के मुताबिक बहुत खतरनाक साबित हो सकती थी, उल्टा उसर दिखाया और हमारा दल दबंग तरीके से पूरे 'मिश्रित' जगत पर छा गया।

मेरे इन भयानक और फौरी कारनामों से डरकर मेरे पिता ने तुरंत कुछ 'रक्षकों' को मेरे आगे-पीछे लगा दिया। उन रक्षकों के प्रमुख एक 'अंकल' थे, जो बरसों से हर महत्वपूर्ण मामलों में मेरे पिता के सबसे

प्रमुख सलाहकार थे। मिश्रित जगत में उनकी एक अलग साख थी। वे हमारे और अन्य गुटों के बीच सूत्रधार थे। उनके द्वारा निकाले गए हल सर्वमान्य होते थे।

लेकिन मेरे तौर-तरीके बिल्कुल अलग थे और कुछ ही दिनों में वे यह जान गए कि मेरे मामलों में उनकी विशेषज्ञता का कोई औचित्य नहीं है। और तब उन्होंने अपनी भूमिका बदल दी। अब वे सिर्फ इस बात का ध्यान रखते थे कि कहीं मैं किसी जानलेवा खतरे में न पड़ जाऊं। उनके और मेरे बीच आख़िर में सिर्फ एक समझौता हुआ था कि वे मेरे किसी मामले में दखल नहीं देंगे और मैं उनसे कोई मामला छुपाऊंगा नहीं।

लगभग तीन-चार साल तक मैंने धंधे के अलावा और किसी चीज पर ध्यान नहीं दिया। मेरी लगातार बढ़ती व्यस्तता ने मेरे पुराने कालेज के दिनों की स्मृति और उस विद्यार्थी को भुला दिया। और सबसे ज़्यादा सुखद बात यह थी कि वह दूसरा अज्ञात आदमी भी अब कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। उसकी घातक, तीक्ष्ण और भीषण आंखों से मेरा फिर कभी सामना नहीं हुआ और मैंने लगभग यह मान लिया कि मैं अब पूरी तरह से स्वस्थ हूँ।

लेकिन यह मेरा भ्रम था। बहुत जल्दी मेरा यह भ्रम टूटने वाला था। मुझे जरा भी अंदाजा नहीं था कि वह पहले से भी कई गुना ज़्यादा ताकत के साथ मुझे अपने वश में करने वाला है।

* * *

मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि वह कौन-सा मौसम, साल या महीना था, सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि वह एक ऐसा काल था जब घट रही और संभावित घटनाओं के कारण घोर अनिश्चितता का माहौल था। मूल्यों और मान्यताओं को हाशिये पर फेंक दिया गया था। चारों तरफ मैली-कुचैली जनता और हाथ जोड़-जोड़कर उनकी खुशामद करते उम्मीदवार नजर आ रहे थे। प्रजातंत्र मतपेटियों पर भूखे कुत्तों की तरह टूट पड़ा था। प्रान्तों और क्षेत्रों की दुर्गम और धूसर सड़कों पर एक साथ कई तरह की हलचलें दिखाई दे रही थीं। अलग-अलग क्षेत्रों में समीकरण यात्राएं जारी थीं। बाज़ार भरे पड़े थे, मूल्य गिर रहे थे, औद्योगिक झगड़ों की भरमार थी। और हमारा दल, जिसने अब 'ब्लैक हंड्रेड' की उपाधि पा ली थी, बहुत व्यस्त था। हमने प्रान्तों में भी अपनी जड़ें फैला ली थीं और हम बिना किसी पक्षधरता के किसी भी राजनीतिक दल को अपनी सेवाएं बेच रहे थे।

इन सेवाओं से मुझे जो फायदे हो रहे थे वे किसी भी बड़े उद्यम से होने वाले मुनाफे से कम नहीं थे लेकिन मैं नहीं जानता कि अपनी इस समृद्धि की कीमत चुकाने का दिन आ गया है। मुझे बिल्कुल अंदाजा नहीं था कि कई दिनों से लापता वह दूसरा आदमी एक बार फिर मेरे सामने आने वाला है। यह अलंघ्य और स्थाई अवरोध की तरह वह मेरी समूची ज़िंदगी और यहां तक कि मेरे दिमाग़ को भी घेर लेने वाला है, मेरी भावनाओं का अंत तो वह पहले ही कर चुका था।

और इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि एक दिन जब मैं एक बड़े गठजोड़ को अपने तरीके से तोड़ने में कामयाब होकर घर लौटा तो मैंने देखा, वहां भीड़ लगी थी। मैं अंदर गया और सामने मैंने पिता की लाश को देखा। उनकी कनपट्टी पर किसी ने बहुत करीब से गोली मारी थी। मैंने कारण जानने के लिए अपने रक्षक अंकल की तरफ चेहरा घुमाया, मगर कुछ बताने के बजाय उन्होंने बहुत दुःख और नाराज़गी से अपना मुँह फेर लिया।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि जिस गठजोड़ को मैंने तोड़ा था, उसे जोड़ने की कीमत मेरे पिता पहले

ले चुके थे। टूटे हुए दल के खीजे हुए लोगों ने इसे बाप-बेटे की दुरंगी चाल समझा और उसी दिन मेरे घर पहुँचने से पहले किसी ने घर में घुसकर उनकी कनपट्टी पर बहुत करीब से गोली मार दी।

लेकिन अपने पिता की लाश को देखने के बाद मेरे चेहरे पर जो भाव आए थे वे वैसे नहीं थे जैसे आमतौर पर होने चाहिए। लोग बहुत आश्चर्य से मेरे चेहरे को देख रहे थे। उन्हें उम्मीद थी कि मैं दुख या क्रोध से फट पड़ूँगा या बिल्कुल उदास हो जाऊंगा लेकिन उनकी उम्मीदों के विपरीत मेरे होंठ संसार की सबसे नीचतम दुष्टता से मुस्करा रहे थे...

मेरी आत्मा के अलावा वहां कोई नहीं था जो यह जान पाता कि मेरे चेहरे पर जो मुस्कराहट वे देख रहे हैं, वह मेरी नहीं किसी और की मुस्कराहट है। कोई यह नहीं जानता था कि मैं एक बार फिर बलात्कृत हो चुका हूँ।

मुझे एक बार फिर अपने दिमाग में झनझनाहट महसूस हुई। लेकिन इस बार कहीं कोई जलन नहीं हो रही थी बल्कि उसकी जगह एक विचित्र आनंददायक और मादक सनसनाहट ने पूरे शरीर को चपेट लिया था। फिर कुछ ही देर बाद मेरे दाएं हाथ की अुंगलियां कसमसाने लगीं और अगले ही पल मुझे अपनी हथेली और अंगुलियों में ठंडे लोहे का स्पर्श महसूस हुआ। मैंने गर्दन झुकाकर देखा, मेरे हाथ में पिता की गुप्त तिजोरी की चाबी थी।

अपने हाथ में अचानक और बे समय आई इस चाबी को देखकर इस बार मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। मैं जानता था कि यह किसकी हरकत है। मैं कुछ देर यूं ही चुपचाप खड़ा रहा। फिर मैंने आस-पास नजर दौड़ाई। तेज रोशनी, भीड़भाड़ और गहमागहमी के बीच से गुजरती हुई मेरी नजरें ऊपरी मंजिल की सीढ़ियों तक पहुंचीं। वहां वह खड़ा था। आँखों में निर्जीव तटस्थता का भाव लिये, वह मुझे देख रहा था।

फिर पता नहीं कैसे मेरे पैर खुद ब खुद सीढ़ियों की तरफ बढ़ने लगे। मैंने बहुत मुश्किल से उसके सपाट माथे और निर्जीव आँखों से नज़रें हटाईं मगर मैं अपनी सीढ़ी चढ़ते पैरों को रोक नहीं पाया।

मैं पहली मंजिल पर पहुँचा और तब मैंने देखा वह पिता के कमरे के दरवाजे पर खड़ा था। मेरी आँखें एक बार फिर बरबस उसके चेहरे की तरफ उठ गईं। और मैंने देखा कुछ देर पहले का मुर्दापन और खामोश वीरानगी अब नदारद थी, उसकी जगह उसकी आँखों में अनंत भोग और हर तरह की वासना बजबजा रही थी।

उसने दरवाजा खोला और निहायत अश्लील तरीके से आँखें तरेर कर तिजोरी की तरफ इशारा किया। इस इशारे में जरूर कोई जादू था। मेरे पांव एक बार फिर तिजोरी की तरफ बढ़ने लगे। जब मैंने तिजोरी के छेद में जाबी को घुसाया तब उस छेद को देखकर मैं एक पल के लिए ठिठक गया इसलिए नहीं कि तिजोरी में मौजूद दौलत का मैं कैसे सामना करूंगा बल्कि इसलिए कि तिजोरी के उस छेद और मेरे पिता की खोपड़ी में जहां गोली लगी थी, उस छेद का आकार-प्रकार बिल्कुल एक जैसा था। इस समानता ने मुझे ज्यादा देर तक विचलित नहीं किया, मैंने तिजोरी खोली और उसमें धन को देखा। मैंने यह भी देखा कि उस धन के आस-पास बहुत-सी लालसाएं एक साथ नाच रही थीं और उस आविष्ट कर देने वाले नाच ने मेरे अंदर फिर वही आनंददायी झुनझुनाहट शुरू कर दी।

एक के बाद एक कई दिलचस्पियां सरसराती हुई गुजर गईं। उस गुजरते रेले में बेतहाशा दौलत बहने लगी। उस बहती हुई दौलत के किनारे गुदाज़ ताज़गी थी, लबलबाते लचीले मांस का स्पर्श था, बेहतरीन सज-धज थी, बहुत नफीस और नपे तुले अंदाज थे, बेहद चुस्त और चुटीली अपील थी। एक से बढ़कर

एक दांव थे, जिसमें मैं खुद अपनी जिंदगी को ताश के पत्तों की तरह फेंट रहा था।

लेकिन मैं नहीं जानता था कि एल्कोहलिज्म में भटकते विलासिता के उस प्रवाह की ऊपरी चमक-दमक के नीचे क्या था। उन उद्धत खेलों और कामुक मुठभेड़ों का अंत क्या होने वाला है। मेरे हरामीपन को कुछ लुच्चे और लफंगे उद्वेगों ने इतना संक्रमित कर दिया था कि मैं खुद को खत्म कर देने की समीप आती स्थिति से भी नावाक़िफ़ था।

मैं सचमुच होश में नहीं था। मैंने कभी इस बात पर गौर नहीं किया कि कौन हर रात मुझे अपने कंधे पर लाद कर कार तक पहुंचाता है और कौन मेरे लड़खड़ाते जिस्म को बिस्तर के हवाले करता है। मैंने इस बात पर भी कभी गौर नहीं किया कि तिजोरी में से धन की जितनी तेजी से जावक हो रही थी इतनी ही तेजी से आवक कहां से और कैसे हो रही थी। और तो और मैंने इस बात को भी कभी गंभीरता से नहीं लिया कि पिता की मृत्यु के बाद मेरे काम करने के ढंग में एक बुनियादी बदलाव आ गया है और मैंने ललकारने वाले अंदाज को छोड़कर पीठ-पीछे की खुसुर-फुसुर, गुप्त षड्यंत्रों और विश्वासघात का रास्ता अपना लिया है और मेरे अंदर चतुराई, घुन्नापन, कांइयागिरी और एक विषैली धूर्तता ने अपनी जगह बना ली है।

मेरे इस बदले हुए मिजाज और मेरी भयंकर उद्वेगों से भरी निशाचरी से तंग आकर आखिर एक रात मेरे रक्षक अंकल ने मुझे झकझोर दिया -

''क्या तुम जानते हो कि तुम क्या कर रहे हो और इसका क्या अंजाम होने वाला है?''

मैं चुप रहा, क्योंकि वह रात का वक़्त था, जब मेरा खुद पर कोई अख़्तियार नहीं होता।

''ट्रस्ट में (वे मिश्रित जगत को ट्रस्ट कहते थे) तुम्हारी साख बहुत ख़राब हो रही है। अगर यही हाल रहा तो एक दिन...''

''मैं ट्रस्ट को नष्ट करने के बारे में सोच रहा हूँ और इससे मुझे बहुत फ़ायदा होने वाला है'' मेरी आवाज में फिर वही खरखराहट उभर आई।

उन्हें उम्मीद नहीं थी कि नशे में इतना धुत्त होने के बावजूद मेरे मुँह से इतना सीधा और कड़क जवाब निकलेगा।

इस बार वे स्पष्ट रूप से झल्ला उठे -

''पहले अपने पैरों पर सीधे खड़े होना सीख लो।'' उन्होंने अपनी तर्जनी उठाकर मुझे सचेत किया, ''तुम नहीं जानते कि वे कितने ताकतवर हैं।''

''इस बूढ़े ट्रस्ट ने अभी तक जितनी भी पार्टियां पैदा की हैं वे मेरी रखैल हैं।'' मेरे मुँह से फिर अनर्गल शब्द निकलने लगे। वे कुछ देर तक चुप रहे। फिर मैंने देखा अपने अंदर बढ़ते तनाव को नियंत्रित करने के प्रयास में उनकी सांस तेज हो गई, ''तुम्हें इतना तो याद है न कि मैंने तुम्हें चड्ढी पहनना सिखाया था और मेरी अंगुली पकड़ कर ही तुम पहली बार स्कूल गए थे...''

''हाँ मुझे याद है... लेकिन आप भूल गए हैं कि हम दोनों के बीच क्या करार हुआ था।''

मेरे इस जवाब ने उन्हें चुप करा दिया। मैं उनके साथ इतनी रुखाई से पेश नहीं आना चाहता था लेकिन मैं उन्हें कैसे बताता कि अब मैं मैं नहीं कोई और हूँ। और ब्लैक हंड्रेड को भी अब मैं नहीं, कोई दूसरा संचालित कर रहा है। उसने मेरे जिस्मो-जां को दो हिस्सों में तकसीम कर दिया है। एक हिस्सा दिन भर

घात-प्रत्याघात और विरोधियों की चालों को मात देने की तिकड़मों और साजिशों में व्यस्त रहता है और दूसरा शाम होते ही शराब और दूसरी तरह की तमाम अय्याशियों के लिए मचल उठता है और इन दोनों हिस्सों के बीच मेरी अंतरात्मा एक मूक दर्शक की तरह चुपचाप सब कुछ देख रही है।

पहले ब्लैक हण्ड्रेड सिर्फ़ एक कुख्यात हड़ताल तोड़ू दस्ते के रूप में जाना जाता था। बाद में उसने दलों को तोड़ने-जोड़ने वाली गुमनाम पार्टी की शक्ल अख्तियार कर ली और अब चुनाव के बाद उसने सार्वजनिक उपक्रमों को जानबूझकर घाटे में डालने और किसी न किसी बहाने उसे हमेशा के लिए बंद करवाने और उन बंद उपक्रमों की संपत्ति में अपनी हिस्सेदारी के प्रतिशत को सबसे ऊंचा उठाने में अपनी ताकत लगा दी थी।

दिन और रात जैसे जैसे एक दूसरे को पछाड़ते हुए आगे बढ़े जा रहे थे, मेरे दो विभाजित हिस्से उतनी ही तेजी से अलग-अलग अतियों की तरफ बढ़ रहे थे। फिलहाल हमारे निशाने की रेंज में एक मिल थी। बरसों पहले देश के सबसे बड़े उद्योगपति द्वारा सरकार को दान में दी गई इस मिल को, जो लंगड़ा-लंगड़ा कर चल रही थी, हमेशा के लिए बंद कर देने और शहर के बीचों-बीच फैली उसकी बेशकीमती जमीन को हड़प लेने के प्रयास पूरी ताकत से जारी थे। दूसरी तरफ मेरा शाम के बाद सक्रिय होने वाला हिस्सा कई सनसनीखेज कारगुजारियों से गुजरने के बाद किसी नए थ्रिल के लिए तरस रहा था। फैशनेबल समाज की चोंचलेबाजी के साथ यांत्रिक यौन प्रक्रियाओं की लम्बी ऊब के बाद वह किसी मासूम सादगी की तलाश में था।

एक दिन मैं राज्य वस्त्रोद्योग मंडल और टी.पी.आर.आर. के अधिकारियों को एक बड़े फायदे वाली योजना में शामिल होने के लिए राजी करवाने में कामयाब होकर वापस लौट रहा था तब बीच रास्ते में मुझे प्यास लगी। मेरे बांये हाथ ने मुझ से इजाजत लिये बगैर मेरी पिछली जेब से हिप फ्लास्क निकाला और दांये हाथ ने बाएं हाथ से होड़ लेने के लिए स्टेयरिंग को घुमा-फिराकर कार को एक ऐसे अनजाने रास्ते में पहुंचा दिया जिससे मैं बिल्कुल नावाक़िफ़ था। फिर मेरे पैर ने एक इमारत के सामने खुद-ब-खुद ब्रेक लगाया और मैं कार से नीचे उतरकर इस इमारत में ऐसे घुस गया जैसे वह मेरी जानी पहचानी जगह हो।

उन अनजाने इलाकों और गुप्त ठिकानों को मेरा कौन-सा इन्द्रिय बोध दायरे में लाता था? मुझे बिल्कुल नहीं मालूम कि उस इमारत में मैं कौन से इरादे से घुसा था जबकि मेरी सधी हुई चाल और तत्परता को देखकर कोई भी यह अंदाज लगा सकता था कि मैं किसी निश्चित लक्ष्य की तरफ बढ़ रहा हूँ।

मैं तीसरे माले पर लिफ्ट से बाहर निकला और सीधे एक्सचेंज एण्ड सप्लाई सेंटर में जा घुसा। वहां सिर पर काला-सफेद चौखानेदार साफा लपेटे कुछ पठान खरीददार बैठे थे। उनकी तरफ बिना कोई ध्यान दिये मैं सीधे सेंटर की प्रोक्यूरेस के पास पहुंचा और बिना कोई औपचारिक अभिवादन दिये मैंने कहा, ''मैं सभी चीजें देखने का इच्छुक नहीं हूँ अगर कुछ खास हो तो बताओ!''

वह कुछ देर तक टोहने वाली शंकालु नजरों से मुझे देखती रही, फिर हिचकिचाते हुए पूछा,

''आप कहाँ से...''

''मेरे पास फालतू सवालों का जवाब देने का वक्त नहीं है।'' मैंने उसे बीच में टोक दिया। वह कुछ देर अनिर्णीत दृष्टि से मुझे देखती रही।

''गुजरात से बुर्कों की जो नई खेप आई है उसमें से...''

''हाँ, हाँ...'' वह अब सजग होने लगी, ''आइये अंदर आइये।''

उसने उठकर दरवाजा खोलते हुए कहा, ''फिलहाल एक ही बुर्का बचा है। आप देख लीजिये...''

उसने मुझे एक सोफे पर बैठने का इशारा किया और अंदर चली गई। कुछ देर बाद वह भीतरी दरवाजे से एक बुर्के को लेकर आई। उसे मेरे सामने बैठाया और स्विच ऑन कर दिया। अब तेज रोशनी वाला फोकस सीधे उस बुर्के पर था।

उस औरत ने बड़े नुमाइशी अंदाज से बुर्के के चेहरे से पर्दा हटाया और मैं देखता ही रह गया। मुझे लगा कि मेरे अंदर कुछ विसंक्रमित हो रहा है। उसके चेहरे और उसकी आँखों में किसी कसाई के कलेजे को चीर देने वाली मासूमियत थी। मैंने उस प्राक्यूरेस को बाहर चले जाने का संकेत दिया और सिर झुकाकर सोचने लगा। मुझे यह सोचकर बहुत अजीब लगा कि इस मासूम-सी जान ने अपने आपको बेसहारा होते कैसे देखा होगा? दूसरा सवाल उससे भी ज्यादा संगीन था कि अब बाहर बैठे काले साफे और बिना मूंछों वाले ठठियारे इसे खरीदकर कहां ले जाएंगे और इसका क्या हाल करेंगे?

मैंने फिर उस लड़की के चेहरे पर नजरें उठाईं और फिर मुझे अपने विभाजित हिस्सों के बीच एक हरकत महसूस हुई - यह हरकत मेरी अंतरात्मा की थी, जिसने पहली बार करवट बदली थी। मैं बिना देर किये उठा और उसके सहमे हुए छोटे-से चेहरे को अपने हाथों में ले लिया-

''क्या तुम मेरे साथ रहना पसंद करोगी?''

उसने अपनी आंखें झुका ली और उन रुंधी हुई आँखों की पलकों के किनारे पर कुछ ही देर बाद एक पनीली चमक उभर आई।

''कुछ सोचो मत!'' मैंने उसके कंधों को थपथपाया, ''सिर्फ़ मेरी आँखों में देखो और फैसला करो कि...''

और जैसे ही उसने पलकें उठाईं, दो बड़ी-बड़ी बूंदें उसके शफ्फाक गालों पर लुढ़क आईं,

''यह फैसला मैं नहीं कर सकती... आप मैडम से बात कर लीजिये...''

मैं तुरंत मुड़ा और कमरे के बाहर आकर उस औरत के सामने जा खड़ा हुआ। मैंने उसे अपना नाम बताया और बिल्कुल साफ़ शब्दों में अपनी इच्छा जाहिर कर दी। उसने अपनी सहमति देने में ज़्यादा देर नहीं लगाई क्योंकि उसका सेंटर भी मिश्रित जगत का एक हिस्सा था।

कुछ देर बाद वह लड़की अपना छोटा-सा हैण्डबैग लेकर मेरे पास खड़ी हो गई। मैंने मुस्कराकर उसे देखा, उसके चेहरे पर मुस्कराहट नहीं, एक स्वाभाविक नादानी थी, जो किसी गाय या बकरी की आँखों में होती है। उस नादानी ने उसके भावशून्य मिजाज को और अधिक निरीह बना दिया था।

कार में जब वह ड्राइविंग सीट के पास आकर बैठी तब बहुत सहज लग रही थी। उसने मुड़कर एक बार भी उस सप्लाइ एण्ड एक्सचेंज सेंटर को नहीं देखा और न ही उस कुट्टिनी से कोई बात की जो इस सेंटर को मैरेज ब्यूरो के नाम से संचालित करती थी।

वह सिर्फ सामने देख रही थी - डैशबोर्ड पर पड़े मेरे हिपफ्लास्क पर अपनी दृष्टि केन्द्रित किये, वह पता नहीं, क्या सोच रही थी। जब मैंने कार स्टार्ट की, तो उसने गर्दन फेरकर मुझे देखा, मैंने बहुत गौर से उसकी आंखों में देखा, वहां सचमुच कोई आशंकित और पीड़ित दुविधा का भाव नहीं था, और न ही कोई ऐसी छुपी हुई चालाकी, जो आजकल की लड़कियों में ऊपरी उदासीनता की आड़ में बहुत गुप्त रूप से मौजूद रहती है।

उसकी बजाय उसके चेहरे पर जो कुछ भी था, उसके सहारे मैं पहली बार किसी स्त्री की आँखों में वह आश्वासन ढूंढने लगा, जो मुझे मेरी लाइलाज बीमारी और उस 'दूसरे आदमी' की प्रेतछाया से बचा सके।

घर पहुंचने से पहले मेरे लिए यह अनिवार्य था कि अपने इस निर्णय की जानकारी मैं अपने अंकल को भी दे दूं। सिर्फ इतना काफी था कि मैं उन्हें बता दूं कि मैंने क्या किया है। वे मेरे किसी काम में दखल नहीं देते और न ही अपना कोई निर्णय मुझ पर थोपते हैं। वे मुझे समझाने-बुझाने के बजाय उस चीज को मेरे सामने से हटा देते हैं, जो मुझे नुकसान पहुंचा सकती हो। उनके तौर-तरीके बिल्कुल वैसे ही बिना लाग-लपेट वाले थे, जैसे आमतौर पर उन लोगों के होते हैं, जिन्होंने षड्यंत्रों और घात-प्रत्याघात के बीच पूरी जिंदगी गुजारी हो।

उन्होंने लड़की की पृष्ठभूमि के बारे में कोई सवाल नहीं किया। सिर्फ एक आदेश दिया,उसे अपने घर मत ले जाओ, उसके लिए अलग जगह का इंतजाम किया जाएगा। कुछ देर बाद उनका कॉल आया। उन्होंने मुझे जिस बिल्डिंग के एक फ्लेट का नंबर दिया वह बिल्डिंग उस मिल के बिल्कुल सामने थी, जिसे बंद करवाने में हम अभी-अभी कामयाब हुए थे।

अब किसी भी औपचारिकता की जरूरत नहीं थी। वह जानती थी और मैं भी कि आगे क्या होने वाला है। ऊपरी तौर पर देखा जाए तो मैंने उसे सिर्फ़ प्रोक्योर किया था और वह सिर्फ़ ट्रांसमिट हुई थी और इससे सिर्फ़ सौदे की रकम बढ़ी थी, बाकी सब कुछ वही और वैसा ही था; लेकिन हां मेरी उम्मीद जरूर बदल गई थी। मेरी चाहत ने एक नया रूप ले लिया था। जीवन में पहली बार मुझे देह के अलावा कुछ और चीजें दिखाई दे रही थीं। जो ज़्यादा सघन थी और उतनी ही स्फूर्त और स्पंदनशील, जो एक स्वस्थ मनुष्य में होती हैं, उन चीजों के प्रति मेरी आसक्ति बिल्कुल साफ थी।

लेकिन उस लड़की को सिर्फ समर्पित होना आता था और उसके समर्पण में कहीं कोई भावावेश नहीं था। मैं उसके चेहरे पर सिर्फ निरीहता नहीं, अतृप्ति और क्षुधा देखना चाहता था। अपने प्रति गहरी चाहत और ललक देखना चाहता था लेकिन वहां हर वक्त निर्लिप्तता छाई रहती थी। गहरी नींद में कोई सपना देखते हुए जब वह मुस्कराती थी तब मुझे उसके चेहरे पर वह छुपा हुआ दूरस्थ भाव दिखता था, जो मेरे लिए बहूमूल्य था। उसकी उन भावनाओं, जो निश्चित रूप से बहुत तरल और संलिप्त थीं और अवचेतन की कई पर्तों के नीचे दुबकी हुई थीं, के सामने मेरी हालत उस भूखे भिखारी जैसी थी, जो ठंड से कांपता हुआ किसी बंद दरवाजे के सामने खड़ा हो।

वह दरवाजा मेरे लिए कभी नहीं खुला। बहुत जल्दी मुझे यह मालूम हो गया कि वह स्लीपिंग-पिल्स के बहुत हैवी डोज़ लेती है और उसकी नींद सिर्फ नींद नहीं, बल्कि एक जीती-जागती प्रतिक्रिया है।

इस निस्पंद और निष्ठुर प्रतिरोध की मुझ पर बहुत दुखद प्रतिक्रिया हुई।

क्या मैं ऐसी सभी संभावनाओं को खो चुका हूँ? एक रात मैंने अपनी सोई हुई अंतरात्मा को जगाकर पूछा, क्या मेरे जीवन में अब कभी ऐसा क्षण नहीं आएगा कि मैं कुछ देर के लिए अपने आप को मनुष्य समझ सकूं? क्या मुझे सच्ची मानवीय खुशी, समर्पण और प्रेम कभी नसीब नहीं होगा?

उस रात उसके नाखूनों से खंरोचे गए और जगह-जगह सिगरेटों से दागे गए जिस्म को देखते हुए मैंने यह निर्णय लिया कि कल दिन में जब नींद की गोलियों की प्रतिरोध शक्ति खत्म होगी तब उसकी सचेत और जागृत आँखों के सामने अपने आपको प्रस्तुत करूंगा, एक मालिक की तरह नहीं, उस भिखारी की तरह जो दरवाजे के बाहर रात भर खड़ा रहता है। मैं अपनी उन बदनसीब उत्कण्ठाओं के बारे में उसे बताऊंगा, मैं

उससे कहूंगा कि तुम जैसा समझ रही हो वैसा मैं नहीं हूँ। मैं सचमुच तुमसे प्यार करता हूँ और वह... हाँ! मैं उसे अपना सबसे गोपनीय भेद भी बताऊंगा, जो मैंने अभी तक किसी को नहीं बताया। मैं उसे बताऊंगा कि वह कोई और है जो तुम्हारे जिस्म को नाखूनों से खरोंचता है और जलती सिगरेटों से दाग कर तुम्हें नींद से जगाने के प्रयास करता है।

मैं रात भर उसके नीम बेहोश जिस्म के घावों और फफोलों को सहलाता रहा। मैंने उसके नींद में मुस्कराते चेहरे को चूमा और उस गूढ़ भाव के लिए अपनी आस्था व्यक्त की जो उसके सपनों में छुपा था।

लेकिन जैसे ही सुबह हुई, मेरा दूसरा हिस्सा सक्रिय हो उठा। मेरे दिमाग में फिर से उस मिल से जुड़े मामले उभर आए। वह दिन उस मामले का सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक दिन था। हमने उस मिल को राज्य वस्त्रोद्योग महामंडल के कब्जे से छुड़ाकर उसे टी.पी.आर.आर. की प्रचलित दरों से आधी कीमत पर बिकवा दिया था। मिल की जमीन के पूरे सौदे में सरकार को करीब सौ करोड़ का चूना लगा था और मिश्रित जगत को पूरे दो सौ करोड़ का फायदा होने वाला था। लेकिन उस दिन इस मुद्दे को लेकर विधान भवन को विरोधी दलों द्वारा घेरा जाना था। मेरा दिमाग बहुत तेजी से उन तीन प्रमुख विरोधियों को हटाने की साजिश रचने लगा जिन्होंने विरोध इतना तीव्र किया ही इसलिए था कि बेहतर कीमत पर उसे बेच सकें। मैंने उनके विरोधों की जो कीमत आंकी थी वे उससे संतुष्ट नहीं थे और अब इसके अलावा कोई रास्ता नहीं था कि उन्हें...

लेकिन मैंने सिर झटक कर उन खूंखार विचारों को अपने दिमाग से परे हड़काया और एक बार फिर उस लड़की के बारे में सोचने लगा। मैंने बहुत मुश्किल से संतुलन बनाया; अपनी उस वक्त की मानसिक अराजगता को वश में करना बहुत कठिन था फिर भी मैंने अपनी जद्दोजहद जारी रखी और वह जब नींद से जाग उठी तब मैं आश्वस्त था कि आज मैं उससे बहुत सहज ढंग से बात कर पाऊंगा।

''आप अभी तक गए नहीं?'' उसने आश्चर्य से मुझे देखा।

''मैं तुमसे कुछ जरूरी बातें करना चाहता हूँ।''

उसकी भोंहें थोड़ी सिकुड़ गईं। फिर उसने मेरे चेहरे से नजरें हटा लीं। वह अब गहरी सोच में पड़ गई थी। उसके चेहरे पर बिल्कुल वही भाव था, जो किसी नौकर के चेहरे पर तब आता है जब उसे इस बात का पक्का भरोसा हो जाता है कि अब उसकी छुट्टी होने वाली है। वह कुछ देर यूं ही बैठी रही, फिर उठकर खिड़की के पास चली आई। वह अपने बिखरे वालों को जूड़े का रूप देती हुई बाहर देख रही थी। मैं चुपचाप उसके पीछे जा खड़ा हुआ।

उसके कंधों के ऊपर से मैंने खिड़की से बाहर फैले दृश्य को देखा। आज सड़कों पर जहां देखो वहां लाल झंडे लहरा रहे थे और मिल के बाहर गेट मीटिंग जारी थी जिसे कोई पेशेवर विरोधी हाथ उठा उठाकर संबोधित कर रहा था। बाहरी दृश्यों को सरसरी तौर पर देखने के बाद मैंने फिर उसकी तरफ देखा–

''मैंने तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया है उसके लिए मैं शर्मिंदा हूँ।''

उसके हाथ, जो उसके लम्बे बालों को समेटकर अंतिम कसाव दे रहे थे, एक पल के लिए रुक गए। उसने मुड़कर मुझे देखा और इस छोटे-से खम से बालों का गुंजलक लुढ़क कर उसके कंधे तक उतर आया।

''क्या आप मुझे कहीं और शिफ्ट कर रहे हैं?''

मैं हिचकिचा जाता हूँ। पल दो पल इस सोच में गुजर जाते हैं कि उसने मेरी बात का क्या मतलब

निकाला है। और फिर इन्कार में सिर हिला देता हूँ। तब वह राहत की सांस लेती है।

''क्या तुम कहीं और जाना चाहती हो?'' मैंने पहली बार उसकी आँखों में पूरे होशोहवाश के साथ अपनी नजरें जमाई। उन आँखों में मुझे सिर्फ नासमझी दिखाई दी।

''मुझे समझने की कोशिश करो। मैं वैसा नहीं हूँ जैसा तुम समझ रही हो। वह कोई और है जो हर रात तुम्हें यातना देता है, मैं खुद उसकी बर्बरता का शिकार हूँ... मैं जिंदा सड़ रहा हूँ, और वह भी बिना किसी घाव के। तुम सिर्फ एक बार मेरे अंदर झांककर देखो, अंदर ही अंदर यह सड़ांध कहां तक फैल गई है और इस ज़हरबाद के बावजूद वहां कितना प्रेम और करुणा बची है...''

''क्रांतिकारियों की हत्या करना हमारा पहला कर्तव्य है।'' तभी मेरे वाक्य को काटती वह चिर परिचित खरखरी आवाज सुनाई दी और मैं बुरी तरह से कांप उठा। मैंने सहमते हुए इधर-उधर नजरें दौड़ाई; मुझे वह कहीं दिखाई नहीं दिया। पहले मेरी बातों से और अब मेरे कांपते हाथों को देखकर वह लड़की एकदम सहम गई।

''क्या हुआ? आप इतने घबरा क्यों रहे हैं?''

''तुमने अभी कोई दूसरी आवाज सुनी?'' मेरे थरथराते होठों से बमुश्किल शब्द निकल रहे थे, ''मेरे अलावा तुम्हें इस कमरे में कोई और दिखाई दे रहा है?''

उसने मेरे कांपते हाथों को अपने हाथों में ले लिया। फिर पसीने से तर मेरी पेशानी को अपनी हथेली से पोंछा। पता नहीं मेरे चेहरे पर उस वक्त क्या था जिसने उसे पिघला दिया और उसने तुरंत मुझे अपनी बाहों में खींच लिया। मैंने तुरंत अपनी आँखें बंद कर लीं। जिंदगी में पहली बार मिले इस आतंरिक और गहन प्रेम में मैं डूब जाना चाहता था।

तभी सड़क से उठे एक बहुत बड़े हाहाकार ने मेरी आँखें खोल दीं : नीचे गेट के पास भगदड़ मची थी। मंच पर अभी-अभी जो क्रांतिकारी आग उगल रहा था उसे अब क्रुद्ध भीड़ सड़क पर घसीट लाई थी और मैंने साफ देखा, उस भीड़ की अगुवाई करने वालों में ब्लैक हण्ड्रेड के सदस्य सबसे आगे थे।

''हमसे जो टकराएगा मिट्टी में मिल जाएगा...'' मुझे फिर वही खरखरी आवाज सुनाई दी। मैंने आवाज की दिशा में नजरें घुमाई और मुझे वालयूनिट के शीशे में अपना अक्स दिखाई दिया। मेरे चेहरे की रूपरेखा तो वही थी लेकिन उसमें कुछ छुपे हुए भाव थे, जो मुझे बिल्कुल समझ में नहीं आए। ऐसा पहली बार हुआ था कि आइने में खुद का चेहरा देखते हुए मैं यह सोच रहा था कि वह कोई और है और वह मेरे बारे में कुछ और सोच रहा है। फिर मैंने देखा, आइने में मेरा जो चेहरा था वह मुस्करा रहा है - वह लम्बी और तिरस्कारपूर्ण मुस्कराहट थी, जबकि उस वक्त मेरी भौंहें तनी हुई थीं, आँखें संदेह से सिकुड़ी हुई थीं और जबड़े मजबूती से जकड़े हुए थे। क्या आप कभी इस बात पर यकीन करेंगे कि उस वक्त मैं भीतर ही भीतर खौफ से लरजते हुए अपने आप को धूर्ततापूर्ण तरीके से मुस्कराते हुए देख रहा था?

मैंने तुरंत आइने से मुंह फेर लिया लेकिन अब मुझे अपने समूचे शरीर में बदलाव महसूस होने लगा मेरी उँगलियां फिर से कसमसाने लगीं। मैंने बहुत हैरान होकर एक बार फिर आइने की तरफ देखा। मेरे चेहरे से मुस्कराहट गायब हो गई थी और उसकी जगह ब्लैक हण्ड्रेड के सरगना का कठोर और निर्दयी आदेश उभर आया। उसने आँखें तरेर कर उस लड़की की तरफ इशारा किया, जिसके दिल की धड़कन को किसी धौंकनी की तरह चलते हुए मैं अपनी छाती पर महसूस कर रहा था।

और अगले ही पल मेरे दोनों हाथों ने उसके कपड़े फाड़ डाले फिर उसके बालों को मुट्ठी में भींचकर मैंने उसका चेहरा ऊपर उठाया और अचानक मेरे गले से वही खरखरी आवाज उभर आई लेकिन इस बार उस आवाज में कोई शब्द नहीं था। वह लगभग किसी हिंस्र जानवर की गुर्राहट जैसी आवाज थी।

उसके बाद जो कुछ हुआ उसे शब्दों में व्यक्त करना जरूरी नहीं है। आप अंदाजा लगा सकते हैं कि एक जीती-जागती औरत कैसे मांस के लोंदे में बदल दी गई होगी, और वह अनुश्रुत सौंदर्य, जिसे मेरे हाथों ने दलदल में बदल डाला था, अपनी जंघाएं खोलकर हजारों बरसों के अभ्यास से अर्जित मसीही कर्तव्यपरायणता और दासियों जैसी भावशून्य आज्ञाकारिता का सबूत दे रहा था।

लेकिन वर्जित दिनों की इन दर्दनाक तकलीफों के बावजूद उस लड़की के चेहरे पर कोई शिकायत या हिकारत का भाव नहीं था बल्कि उसके होंठ एक ऐसी मुद्रा में ढल गए थे, जैसे निर्णायक क्षणों में उस गरीब विद्यार्थी के होंठ मेरे प्रति अपनी अवमानना भरी वक्रता को छुपाने के प्रयास में सिकुड़ जाते थे।

बहुत दिनों बाद एक बार फिर मुझे उस विद्यार्थी का चेहरा याद आया लेकिन मैं ज्यादा देर तक उस चेहरे पर ध्यान नहीं दे पाया क्योंकि नीचे सड़क पर एक बार फिर कोलाहलपूर्ण विस्फोट उमड़ उठा था। मैं खिड़की तक गया और मैंने देखा विरोध अपनी विक्षिप्तता की पराकाष्ठा पा चुका था। वह पैशाचिक कूटजाल में उलझा दिशाहीन विरोध था।

''ये सिर्फ लड़ने-मरने के लिए पैदा हुए हैं... ये सदियों से मर-मिट रहे हैं... बिना यह जाने कि उनका असली दुश्मन कौन है...''

मुझे फिर वही भयानक खरखराहट सुनाई दी। लेकिन इस बार मैंने अपना चेहरा आइने की तरफ नहीं घुमाया क्योंकि मुझे अपने पीछे उसकी पदचाप सुनाई दे रही थी और साथ ही साथ उस बदबू को भी मैं बहुत करीब से महसूस कर रहा था,जो उसके जिस्म से हर वक्त निकलती रहती थी।

कुछ देर बाद उसका हाथ मेरे कंधे पर था और मैंने तिरछी नजरों से देखा, उसकी उंगलियां खून से सनी हुई थीं - गाढ़ा कत्थई खून - और वे उंगलियां किसी मानवीय अंग जैसी नहीं बल्कि नुकीले हथियार जैसी थीं, जैसे उस पर कोई धातुई खोल मढ़ा गया हो।

फिर मैंने पलटकर उसके चेहरे को देखा। उसकी फतह की चमक से भरी आँखें किसी शौर्यपूर्ण कृत्य को सम्पन्न कर लेने के बाद की दृढ़ निष्ठुरता को व्यक्त कर रही थीं। उसकी दमकते औजार जैसी उंगली खून टपकाती हुई फिर से लड़की की तरफ लक्षित हुई,

''औरतें अपनी उर्वरता खो रही हैं। सिरफिरे प्रगतिवाद ने इनकी जांघों के बीच ताले जड़ दिये हैं इन्हें फिर से पुराने रिवाजों की गढ़ी में ले जाने की जरूरत है... वक्त का तकाजा है कि नारीवाद को अस्तबल में स्थानान्तरित कर दिया जाए...'' वह अपनी भयानक आवाज में बोले जा रहा था लेकिन मेरा ध्यान उसकी बातों पर नहीं रक्तस्राव से तड़पती उस लड़की की देह पर था। वह फर्श पर फैले लहू में करवटें बदल रही थी फिर उसकी देह निष्क्रिय हो गई और अब वह मुझे देख रही थी। मैं उन आँखों को गौर से देखता रहा और धीरे-धीरे मेरे अंदर एक अजीब-सी व्यग्रता समाने लगी। फिर बढ़ती व्यग्रता ने मुझे सर कर दिया। अचानक मेरे अंदर एक दूसरे आदमी के खिलाफ विद्रोह भड़क उठा, जो बाहर सड़क पर चल रहे विद्रोहों से कहीं अधिक विस्तृत, उग्र और नृशंस विद्रोह था।

मैं तुरंत लपक कर बाथरूम की तरफ बढ़ा, जहां प्लंबिंग के अधूरे पड़े काम के पाइप-पाने बिखरे

हुए थे। मैंने चुनकर एक बड़ा पाइप पाना उठाया और तेजी से बाहर निकलकर उस लड़की की आँखों के ठीक सामने अपना बायां हाथ फर्श पर रखा और पाने के ताकतवर और अप्रत्याशित प्रहारों से अपनी उंगलियों को कुचल डाला। पाना एक तरफ फेंककर मैं किचन में गया। मैंने गैस सिलेण्डर के पाइप को एक झटके से खींचकर चूल्हे से अलग किया फिर रेगुलेटर का नाब आन करने के बाद मैंने बदबूदार गैस उगलते पाइप के अगले सिरे को अपने गाउन की निचली जेब में ठूंस दिया, मेरा दांया हाथ जब गाउन की ऊपरी जेब में लाइटर को टटोल रहा था तब मैंने भी किसी फतह जैसी वीरतापूर्ण गरिमा को महसूस किया।

फिर मैं भभकती लपटों के साथ किचन से बाहर आया और लड़की के सामने एक कुर्सी पर बैठ गया और मैंने आग को उसका काम पूरे वैभवपूर्ण तरीके से सम्पन्न करते देखा।

* * *

उस दिन के बाद मैंने फिर कभी उस लड़की को नहीं देखा। उसे अंकल ने मेरे सामने से हमेशा के लिए हटा दिया होगा, जैसे वे उन तमाम चीजों को मेरे सामने से हटाते रहे हैं जो मुझे नुकसान पहुंचा सकती थीं। मगर मेरे उस प्रतिरूप को, उस जीते-जागते मगर सदैव अदृश्य दूसरे आदमी को क्या वे मेरे सामने से हटा पाएंगे?

अस्पताल के बिस्तर में पड़े-पड़े में अक्सर यह सोचता हूँ, बार-बार अपने आप से पूछता हूँ, ''कौन है वह? कहाँ से आया है? और उसका असली मकसद क्या है? लेकिन मैं जितना उसके बारे में सोचता हूँ उतना ही उलझता जाता हूँ।''

उस दिन खुद अपने साथ की गई बेरहम अऔर जानलेवा कार्रवाई के बाद मुझे उसका कभी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुआ लेकिन मैं जानता हूँ वह कमीना कहीं न कहीं मेरे ही अंदर किसी कोने में छुपकर बैठा है और फिर किसी भी समय मेरे कार्य में बाधा डालने और मेरे हाथों कुछ अशुभ और अमानवीय काम करवाने के लिए प्रकट हो सकता है। कई बार वह अपनी मनमानी कर चुका है। उसके सामने मेरी हालत ठीक वैसी है जैसी उस गरीब विद्यार्थी की मेरे सामने थी। सिर्फ इतना ही नहीं मैं उस मासूम लड़की को कैसे भूल सकता हूँ जिसके साथ मैं या ठीक ठीक कहा जाए तो वह बहुत निर्दयता से पेश आया था। और उन सब हत्याकांडों का जिम्मेदार क्या मैं हूँ जिसमें कई मजदूरों, विरोधी नेताओं और ब्लैक हण्ड्रेड के रास्ते में आड़े आने वाले गुटों को बहुत चतुराई से आपस में लड़वाकर खत्म कर दिया गया?

अपनी बीमारी के उन दिनों में मैंने सिर्फ इतना ही नहीं सोचा कि वह कौन है और क्या चाहता है, बल्कि मैंने उसके सोचने के ढंग, उसकी पद्धति और उसके उद्धत अधीक्षण का भी बहुत बारीकी से विवेचन किया और तब यह साफ हो गया कि उसके तमाम हस्तक्षेप, जिसके कई उदाहरण मैं आपके सामने पेश कर चुका हूँ, बिल्कुल ऐसे मौके पर किए गए जब मैं किसी के प्रति दया, या प्रेम या कृतज्ञता प्रकट करना चाहता था और उसने मुझे ऐसा नहीं करने दिया। उसने मुझे तभी मैनिपुलेट किया या मेरी इच्छा कार्यान्वित नहीं होने दी, या मुझे मेरे स्वभाव के अनुकूल काम नहीं करने दिया, जो यदि उसी तरह हो जाता, जैसा मैंने सोचा था, तो उसका परिणाम इतनी निर्दयता और दुष्टता से भरा न होता। मेरा यह यंत्रणादाता निरन्तर और दृढ़तापूर्वक मेरी इच्छाओं को कुचलकर अपनी कूटनीति थोप रहा है।

उसकी बार-बार बदलती नीतियों और धारणाओं के कारण मैं कभी यह समझ नहीं पाया कि उसका असली मकसद क्या है। कभी वह औरतों की उर्वरता के कम होने पर आपत्ति करता है और कभी... हाँ मुझे अब याद आ रहा है मैं आपको उस दिन की घटना के कुछ अंश बताना भूल गया। जब मैं लोहे के पाने से अपनी उंगलियों को पीट रहा था तब वह दर्द से कराहते हुए चीखा था, ''इन काले बुर्कों से प्यार मत करो...

इनकी अंधी और बेकाबू पैदाइश एक दिन हमारे देश के झंड़े से सफेद रंग को हमेशा के लिए मिटा देगी...''

और तब मैंने देखा था कि उसका हाथ भी लहूलुहान था और जब मैंने अपने जिस्म को आग के हवाले किया तब वह भी भभक रहा था। फिर मैं बेहोश हो गया और होश में आने के बाद मैंने अभी तक उसे प्रत्यक्ष रूप में देखा नहीं है।

लेकिन मुझे पूरा यकीन है कि वह मरने वालों में से नहीं है। मैं अगर मर भी गया तो मेरी वह छाया अपना रूप बदल लेगी। आजकल मुझे जिस तरह के सपने आ रहे हैं वे मेरी इस आशंका को पुख्ता करते हैं कि वह अपना चोला कभी भी बदल सकता है क्योंकि उसने पहले भी कई चोले बदले हैं।

सबसे पहले उसे दूसरे रूप में मैंने तब देखा था जब वह अपने जैसे कुछ अन्य वायवीय रूपों के साथ मिलकर रूसी सैनिकों की कब्रें खोदकर और उनके कंकालों को खंगालकर उनके मुंह से सोने के दांत उखाड़ रहा था और उसी समय मुझे मालूम हुआ कि वह अकेला नहीं है, उसके जैसे और भी बहुत-से भटकते हुए प्रतिरूप हैं, जो किसी देश, काल या व्यक्ति की सीमा से बंधे हुए नहीं है।

एक रात मेरे सपने में किसी अज्ञात देश का बहुत बड़ा राजमार्ग उभर आया फिर बदतमीजी से कदमताल करती काली पोशाक वाली सेना दिखाई दी और चमकीले हथियारों के बीच उसका चेहरा दिखाई दिया। फिर उस अत्यंत खूबसूरत शहर को मैं मलबे के ढेर में बदलते देखता हूँ। धुएं और धूल के गुबार में एक बार फिर उसका चेहरा उभरता है और वह बहुत अश्लील तरीके से अपनी बांयी आंख दबाकर उस तरफ इशारा करता है जहां बीच सड़क पर एक बैले नर्तकी को नंगा नचाया जा रहा था।

एक बार मैंने उसे उसी मिल के गेट के पास देखा। वह उस दिन आकार में दूसरे लोगों की तुलना में कई गुना बड़ा था। उसने एक काला ओवरकोट पहन रखा था। सिर पर एक लम्बोतरा हैट था। मिल के गेट के पास पहुंचकर उसने गेट पर ताला लगाया और चाबी के छल्ले को अपनी तर्जनी में गोल-गोल घुमाते हुए भीड़ को बड़ी हिकारत भरी नजरों से देखता रहा; फिर चाबी उसने बायीं जेब में डाली और दांयी जेब से सिगरेट और लाइटर निकाला। बड़े इत्मीनान से उसने सिगरेट जलाई। एक गहरा कश लिया और जमीन पर बिलबिलाते तिलचट्टों को रौंदते हुए चला गया।

एक बार और उसी रूपाकार में वह मुझे देश की सीमा के ऊपर दिखाई दिया। उसने सीमा रेखा के दोनों तरफ टांगें फैला रखी थीं और दोनों तरफ से रुपये ऐंठ रहा था।

कभी-कभी वह मुझे बेहिसाब शराब पीते और सड़कों पर खूनी उत्पात मचाते दिखता है। कभी व्यभिचार के अड्डों पर भी कभी, धर्माचार्यों की संगत में, कभी कालाबाजारियों सटोरियो और केसिनों मालिकों के साथ, कभी राजनेताओं नौकरशाहों और अफसरों के साथ। हर जगह जहाँ भी मैं उसे देखता हूँ, बाकी सब मुझे उसकी हां में हां मिलाते दिखाई देते हैं। उसके सामने सबकी गर्दन ऐसे झुकी रहती है जैसे वे झुकी हुई गर्दनों के साथ ही पैदा हुए हों।

लेकिन इतनी भीषण ताकतों का मालिक होने के बावजूद वह हर वक्त बहुत अधीर, बुभुक्षित और बेहद असंतुष्ट दिखाई देता है और इन लगातार जारी रहने वाली उग्रताओं और हमेशा हावी रहने वाले तनावों के कारण उसका शरीर छीज गया है और इस क्षरण का अंत क्या होगा, इसकी कल्पना करना मुश्किल है।

अब शायद आपको यह बताने की जरूरत नहीं है कि इन सब निष्ठुर विकृतियों का मेरे शरीर पर क्या असर पड़ा होगा। मेरी किडनी, लीवर और दिल-जिगर के एक्सरे देखने का कोई अर्थ नहीं है। जो असली संक्रमण है वह इतना कट्टर और असाध्य है कि कोई भी दवा इसे दबा नहीं सकती।

इस बात को मेरे रक्षक अंकल नहीं जानते। उन्हें अब भी यह उम्मीद है कि मैं इस बीमारी से बच जाऊंगा और फिर से कारोबार अपने हाथों में ले लूंगा।

एक दिन सुबह-सुबह जब मैं आधी नींद और आधे मतिभ्रम के बीच की मानसिक खोह में कहीं फंसा हुआ था, वे मेरे कमरे में आए और मुझे नींद से जगाकर बिना किसी भूमिका के सीधे मुद्दे पर आ गए।

''वे हरामजादे तुम्हारी गैर मौजूदगी का फायदा उठा रहे हैं। उन्होंने तुम्हारे कई इलाकों में मुँह मारना शुरू कर दिया है। अब वे तुम्हारे खास लोगों को भी फुसलाने की कोशिश कर रहे हैं।''

''क्या आपके लिए भी उन्होंने कोई आफर भेजा था?''

मेरे इस प्रश्न से अंकल की भौहें तन गई, जैसे इस सवाल ने उनकी इज्जत और ईमानदारी पर कीचड़ उछाला हो।

''अगर तुम्हें मुझ पर...''

''मैं सिर्फ हाँ या नहीं में जवाब चाहता हूँ।''

वे कुछ देर बहुत अजीब निगाहों से मेरे चेहरे को देखते रहे।

''ठीक है।'' कुछ देर बाद अपनी सांस को सम पर लाते हुए उन्होंने अपना हैण्डबैग मेरे सामने तिपाई कर रख दिया, ''अब तुम्हारा कारोबार और तुम्हारा हिसाब-किताब तुम देखो।'' उन्होंने बिना मेरी तरफ देखे कहा और फिर सीधे मेरी आँखों में अपनी आँखें धंसा दी, ''तुम अभी तक मुझ से हमेशा सच बोले हो। जहां तक मुझे याद है। पर अब मुझे संदेह हो रहा है कि तुम कुछ छुपा रहे हो। और अभी-अभी जो शब्द तुमने कहे वे इस बात के सबूत हैं कि तुम मुझसे छुटकारा पाना चाहते हो और इसमें कोई शक नहीं कि मुझसे तुम डरते हो और इस डर की वजह यह नहीं है कि कहीं मैं दूसरों के साथ न मिल जाऊं। बल्कि इसलिए कि मुझे कहीं से भनक न लग जाए कि तुम्हारी असली तकलीफ क्या है।''

मैंने उनकी अत्यंत अनुभवी और आर-पार भेद देने वाली नजरों से बचने के लिए चेहरा झुका दिया। कुछ देर वे यूं ही खड़े रहे फिर अपना हैण्डबैग वहीं छोड़कर चले गए।

* * *

अंकल के जाने के बाद मैं काफी देर तक सोच में डूबा रहा। इसलिए नहीं कि वे मुझसे नाराज होकर चले गए थे बल्कि इसलिए कि मेरे कारण वे अपनी जान खतरे में डाल रहे थे। जिन हरामजादों का वे जिक्र कर रहे थे, वे सचमुच के हरामजादे थे। उनकी हड़पखोरी की हवस इतनी बेकाबू थी कि वे किसी भी छोटे-बड़े फायदे के लिए किसी का लिहाज नहीं करते। उनके साथ मुनाफे के बंटवारे को लेकर कई बार मेरी ठन चुकी है और अब इस गुप्त लड़ाई के इलाके से मेरे जैसे घायल और अंग-भंग आदमी को सुरक्षित निकाल लेने के प्रयास में वे बेचारे बूढ़े अंकल व्यर्थ में अपने अधेड़ शरीर और हाई ब्लड प्रेशर से धड़धड़ाते सीने को तकलीफ दे रहे थे।

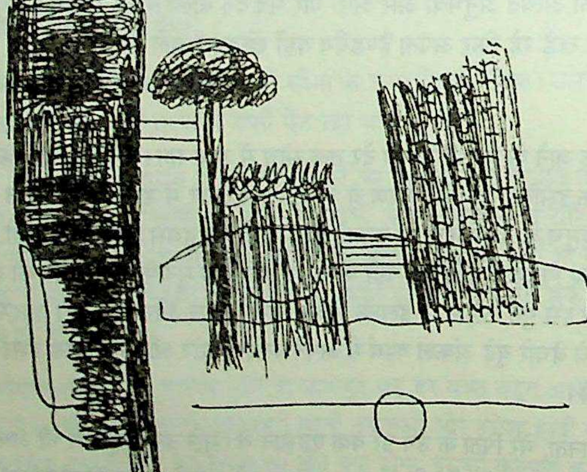
मैं नहीं जानता, मेरे पिता के उन पर क्या एहसान थे। मुझे उस लड़ाई में भी अब कोई दिलचस्पी नहीं है। मैं सिर्फ यह चाहता था कि किसी भी तरह अंकल को अपनी तमाम जिम्मेदारियों से मुक्त कर दूं। मैंने जिस दो-टूक बात से उनके हृदय को आघात पहुंचाया था, वह आघात जरूरी था वरना वे कभी मेरा पीछा न छोड़ते। मुझे बहुत दुख है कि मुझे उनके साथ ऐसा बर्ताव करना पड़ा लेकिन उस दुख से बड़ा मलाल यह है कि मैंने जो वादा किया था कि मैं उनसे कुछ छुपाऊंगा नहीं उस वादे को मैं निभा नहीं सका। और मेरी इस

वादाखिलाफी के कारण वे कभी नहीं जान पाएंगे कि मेरा असली दुश्मन कौन है और मुझे सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाली चीज कौन-सी है।

* *

पहल में छपने वाली मनोज रूपड़ा की यह पहली कहानी है। उनकी कुछ कहानियां हमारी असहमतियों के कारण पहल में नहीं छप सकीं। इसके बावजूद वे छपते रहे, बढ़ते रहे और हिन्दी कहानी के बड़े हस्ताक्षर बने। ''प्रेतछाया'' का इस अंक में छपना मनोज रूपड़ा और हमारे लिए गहरे संतोष का विषय है। यहां आकर हमारी सहमति बनी। और इस बीच कहानीकार और संपादक के बीच कई तरह से संवाद चलता रहा।

मनोज रूपड़ा की कहानियों का पाठकों को इंतजार रहता है जिस तरह से उदयप्रकाश और योगेन्द्र आहूजा और कैलासचन्द्र की कहानियों का। व्यक्तित्व के धनी, छत्तीसगढ़ से प्रवासित इन दिनों मनोज रूपड़ा नागपुर में रहते हैं। निठल्ले की तरह व्यवसाय करते हैं।



उन्होंने उसका चयन नहीं किया

कैलास चन्द्र

वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है। उस दिन तारीख थी 7 मार्च सन् 1998।

आकाश एकदम साफ था। आसमान में कड़ी धूप शामियाने सी तनी थी। उस लड़के रोहित ने, हाँ, यही नाम था उसका, अपने पैण्ट की दाहिनी जेब में जब हाथ डाला उस वक्त घड़ी में दो बज कर दस मिनट का समय हुआ था। उसका हाथ जब बाहर निकला उस हाथ में पचास रुपये का अकेला घिसा पिटा जर्जर सा नोट थमा था। लड़के के दिल की धड़कनें बढ़ गई थीं: कहीं काउण्टर पर बैठे उस क्लर्क ने इस नोट को लेने से इन्कार कर दिया तो फिर आज का दिन तो गया काम से। इसके बाद उम्मीद कम ही है कि उसका आवेदन पत्र अंतिम तिथि तक वहाँ पहुंच पायेगा।

नोट बदलने के लिए फिर उसे दयाशंकर चाचा के पास तक दौड़ लगानी पड़ेगी। वे चाचा सहकारी बैंक में एकाउण्टेण्ट हैं। नोट उनके पास ही जाकर बदला जा सकता था। बैंक इस पोस्ट आफिस से ढाई किलोमीटर की दूरी पर रेलवे स्टेशन के पास है। वहां तक जाना, फिर लौटना। आज तो फिर आवेदन पत्र रजिस्टर्ड डाक से भेजना किसी तरह सम्भव नहीं हो पाता।

डरते हुए उसने अहिस्ता से हाथ खिड़की के भीतर डाला। नोट आगे सरकाते वह हनुमान जी का सुमिरन मन ही मन कर रहा था – जय जय हनुमान गोसाईं – पच्चीस रुपये का पोस्टल आर्डर सर। सर शब्द अनायास उसके मुँह से निकल गया था।

क्लर्क ने व्यस्त भाव से उसके हाथों से नोट लेकर पेटी में डाल दिया और पोस्टल आर्डर गड्डी में तलाश करने लगा। तलाश करने के बाद उसका नम्बर उसने रजिस्टर में लिखा और पोस्टल आर्डर की कीमत तथा उसका कमीशन काट कर बाकी रुपये उसने रोहित को वापस कर दिये।

उस वक्त दो बज कर अठारह मिनट हो चुके थे।

लड़के ने राहत की सांस ली। लपट भरी हवा बरामदे में घुस आई थी और फर्श पर बिखरे पड़े कागजों को उड़ाने लगी थी।

यह 7 मार्च सन् 1998 के दिन का वाकया है।

लड़के ने आवेदन पत्र में निर्धारित कालम में पोस्टल आर्डर का नम्बर तथा कीमत भर दी। पोस्टल आर्डर क्रास करना वह नहीं भूला था। कागज की एक चिंदी में छेदे सुई धागे को निकाल कर उसने पोस्टल आर्डर को आवेदन पत्र के साथ टांक कर नत्थी कर दिया। एक नजर अपने पूरे आवेदन पत्र तथा उसमें लगाये गये दस्तावेजों की नकलों पर डाल कर उसने पूरे आवेदन पत्र को तीन चार मोड़ दिये और एक बड़े लिफाफा में डाल कर लिफाफा एकसार करने के लिए उसे तीन चार जगह दबाया और लिफाफा चिपका कर उसे बंद कर दिया।

वह रजिस्ट्री वाले काउण्टर के सामने आकर खड़ा हो गया। जब रजिस्ट्री हो गई और उसे रसीद मिल गई उस वक्त तीन बजने में दस मिनट शेष रह गये थे। अब उसके भीतर उम्मीद जाग गई थी कि आवेदन पत्र अंतिम तिथि के पहले पहुँच जायेगा। उसने सुकून सा महसूस किया।

उस चिलकती धूप में निकल कर वह अपने कमरे में आ गया।

अब इस लड़के रोहित के विषय में थोड़ा बहुत जान लें। क्यों कि यह कहानी इसी लड़के के इर्द गिर्द बुनी गई है। यह लड़का रोहित बहुत मामूली घर का है। घर में केवल माँ है, बाप नहीं है। पांच साल पहले सांप के काटने से बाप की मौत हो गई थी। इस मौत ने कमाने की जिम्मेदारी मां के कंधों पर डाल दी थी। बाकी वीरानी तो वही की वही जो पहले थी।

रोहित की अम्मा जमुना देवी संस्कृत विद्यालय के छात्रावास की मेस में खाना बनाती थीं। छात्रावास में 30 लड़के रहते थे जिनमें 5-6 लड़के छुट्टी पर या विद्यालय से गायब रहते थे। सो लड़कों की संख्या 25 मान लेना ठीक रहेगा। इतने लड़कों का भोजन सुबह शाम बनता था। मेस में दो नौकर और हैं जो जमुना देवी की सहायता के लिए है। मसलन मसाला पीसना, सब्जी काटना, दाल के कंकड़ बीनना, आटा माड़ना आदि काम वे करते थे। जमुना देवी को रोटियां बेल कर सेंकनी होती थीं। एक महरी भी लगी थी जो जूठे बर्तन मांजने आती थी। एक पाली में दो ढाई घण्टे लग जाते थे। सभी लड़कों के खाने के बाद रोटी चावल और दाल सब्जी कुछ बच जाती थी। उसे ये तीनों जन बांट लेते थे। इस प्रकार महीने की पगार के अलावा यह बचा हुआ खाना बोनस के रूप में उन को मिल जाता था। दोनों नौकर तो छात्रावास के पीछे बनी कोठरियों में परिवार सहित रहते थे। पर जमुना देवी को रोज कस्बे तक एक मील पैदल चलकर आना जाना पड़ता था।

रोहित शहर में जो कस्बे से सत्तर किलोमीटर की दूरी पर है मंहगी और ऊंची दर्जे की पढ़ाई कर रहा है। वह एम.बी.ए. का कोर्स कर रहा है। रतनलाल इन्स्टीट्यूट ऑफ बिजनेस मैनेजमेण्ट से इस वर्ष उसने अंतिम वर्ष की परीक्षा दी है। एमबीए की प्रवेश परीक्षा में वह पूरे प्रदेश में पहले नम्बर पर आया था। वैसे भी उसकी पिछली कोई भी परीक्षा बिना मेरिट के नहीं निकली। इस कारण उसकी पूरी फीस माफ हो गई थी और कॉशन मनी के अलावा उसे कोई प्रवेश शुल्क जमा नहीं करना पड़ा था। पढ़ाई लिखाई में वह शुरू से जहीन था और यही कारण था कि वह पढ़ाई इस मुकाम तक खींच लाया था। अन्यथा जमुना देवी की सामर्थ्य तो उसे हाईस्कूल से आगे पढ़ाने की नहीं थी।

हां, रोहित अपने सहपाठियों के स्टेटस, उनके रहन-सहन, उनके जेब खर्चों का मुकाबला नहीं कर सकता था। वे लड़के प्रभुता-सम्पन्न घरानों, व्यापारियों, बड़े अफसरों, सांसद-विधायकों के लड़के, सम्बन्धी या सिफारिशिये थे। जैसे उसका एक सहपाठी महेन्द्र था। उसके चाचा केन्द्र में होम सेक्रेटरी के पद पर आसीन थे। दूसरा माधव था, उसके पिता बेलाडीला की लौह अयस्क खान में जी.एम. थे। उसी तरह एक लड़के जीवन प्रसाद के पास शहाबुद्दीन की सिफारिश थी और उसका कहना ये भी था कि उसका पूरा खर्चा

वे ही उठा रहे हैं। गोया सभी लड़के हस्तियों से सम्बन्ध रखते थे। इस हिसाब से रोहित सबसे पिद्दी था। वो तो दरअसल इतना मजलूम था कि कालेज की ड्रेस-कोड तक एफोर्ड नहीं कर सकता था। रोहित ने ड्रेस-कोड में रियायत के लिए प्रेंसिपल जी. संथानम को लिखित में आवेदन किया था। वे एक सज्जन व्यक्ति थे। बोर्ड की मीटिंग में यह मामला रख कर उन्होंने रोहित को ड्रेस-कोड में छूट दिला दी थी। इस छूट से रोहित को बहुत बड़ी राहत मिल गई थी। उसके पास न तो ढंग के कपड़े थे और न कायदे के जूते। इस बेहद मंहगे और डिग्नीफाइड कालेज में वह मात्र मेरिट की दम पर टिका था। विषय पर उसकी गजब की पकड़ थी। उसके पास बेहतरीन समझ और उच्चकोटि की कल्पनाशीलता थी। उसके टीचर अक्सर उसके ज्ञान और विषय के प्रतिपादन से चमत्कृत हो उठते थे। वे सभी रोहित का सम्मान करते थे। अंतिम परीक्षा में मेरिट में उसका प्रथम स्थान आना लगभग तय था।

शहर के एक छोटे से मुहल्ले में वह एक कोठरी किराये पर लेकर रह रहा था। कोठरी में ऊपर छप्पर छाया हुआ था। हवा चलती तो बहुत सारा कूड़ा करकट, खपड़ों के छोटे छोटे टुकड़े कोठरी के फर्श पर गिरते थे। अपना खाना रोहित खुद बनाता था। सुबह वह जल्दी उठ जाता और आटा गूंथ कर वह रख देता। नहा धो कर चूल्हा सुलगा देता। जितनी देर में दाल चुरती या सब्जी पकती उतनी देर में चूल्हे के पास बैठ कर पिछले दिनों के पाठ को दोहरा लेता था। छुट्‌टी के दिन पूरे हफ्ते या पखवारे के पाठ वह एक एक कर दोहरा लेता था या नोट्स लेने बैठ जाता था। कालेज के लिए निकलने से पहले एक नजर फिर फेरे गये पाठ पर डाल लेना वह नहीं भूलता था। कालेज में भी खाली समय में वह लाइब्रेरी में जाकर मैनेजमेण्ट से सम्बन्धित आर्टिन्किल्स, एडीटोरियल्स, फीचर्स पढ़ता रहता था। इस प्रकार वह अपने ज्ञान को अप-टु-डेट बनाये रखता था। पढ़ाई के अलावा बाकी क्षेत्रों में उसकी जानकारी शून्य थी। जैसे उसे लेटेस्ट मूवी के बारे में बिल्कुल पता नहीं था। इन्स्टीट्यूट की लड़कियां उसे ब्रिलियण्ट पोंगा कह कर उसकी पीठ पीछे हंसती थीं।

जमुना देवी हर माह उसे मनीआर्डर से रुपये भेजतीं थीं। कभी देरी भी हो जाती थी। वजह होती थी मेस के ठेकेदार द्वारा देर से पगार बांटना। ठेकेदार के पास मेस के अलावा और दूसरे भी धंधे थे। इन धंधों से पहले वह फारिग होता फिर यहां आकर सबको पगार देता। महीने भर के लिए दाल, चावल, मसाला, तेल, अनाज, नमक ठेकेदार खुद आकर खरीदता था। उसे किसी पर विश्वास नहीं था। सब्जी के लिए वह एक नौकर को कुछ पैसे देकर जाता था। नौकरों को पगार बांटना उसकी प्राथमिकता में सबसे आखिरी नम्बर पर था।

ये सब बातें 7 मार्च सन् 1998 के पहले की हैं।

अंतिम परीक्षा में रोहित अव्वल आया था। सिमेस्टर में उसने जो नम्बर अर्जित किये थे उतने अंक कालेज की स्थापना वर्ष से गत वर्ष तक किसी छात्र ने नहीं पाये थे। ऐसा नहीं था कि कालेज ने प्रतिभाशाली और जहीन एम.बी.ए. नहीं निकाले थे। रोहित तो जहीनों में जहीन था।

परीक्षा परिणाम निकलने के बाद भी रोहित कस्बे अपने घर नहीं गया था। वहां कस्बे में न तो कोई लाइब्रेरी थी जहां बैठ कर वह अंग्रेजी के अखबार देख सके और न कोई ऐसा सूचना केन्द्र जहां से उसे पूरी जानकारी मिलती रहती। यहां कालेज के नोटिस बोर्ड पर ही तरह तरह की सूचनायें चस्पां रहतीं थीं जो उसके काम आ सकती थीं। यहां शहर की सनातन लाइब्रेरी में सभी अखबार और मैगजीन्स आतीं थीं। रोहित लगभग रोज ही वहां पहुंच जाता था। वह अखबारों में वाण्टेड कॉलम देखता रहता था।

यों तो अम्मान के भेजे मनीआर्डर आते रहते थे, पर गर्मियों में बंद हो जाते थे क्योंकि मेस बंद हो

जाती थीं। गर्मियों में रोहित तीन चार ट्यूशनें तलाश लेता था। कुछ परिवार ऐसे थे जो गर्मियों में भी अपने बच्चों को ट्यूशन दिलाते थे। मफतलाल टेक्सटाइल के शो रूम के मैनेजर रूँगटा के यहां रोहित को उसकी लड़की को अंग्रेजी पढ़ाने की ट्यूशन मिल गई थी। दो ट्यूशनें उसे मारवाड़ी परिवारों में सिफारिश के बल पर मिल गई थीं। ट्यूशनों के पैसों से उसका काम चल जाता था।

रोहित सपने पाले बैठा था। वह जानता था कि एम.बी.ए. की डिग्री सफलता की कुंजी है। अगर वह किसी अच्छे प्रतिष्ठान में चिपक गया तो उसकी किस्मत के द्वार खुल जायेंगे। वह सफलता की उस सीढ़ी पर खड़ा नजर आयेगा जहां पहुंचना केवल एक सपना हो सकता है। यह सपना यदा कदा ही हकीकत बन पाता है। वह गरीब और साधनहीन लड़का उस एलीट क्लास में शामिल होना चाहता था जो उसके सामने परीलोक की तरह जगमगा रहा था। किसी बड़ी कम्पनी का एक्जीक्यूटिव बन कर वह अपने सपने को हकीकत में बदलना चाहता था। आखिर क्यों नहीं? वह भी तो इस आजाद देश का एक नागरिक है और उसे सपने देखने और उसे हकीकत में बदलने का पूरा पूरा हक है। सपना देखना ही तो बाद में हकीकत बनता है।

इसमें कोई शक नहीं कि रोहित के पास आइडियाज थे। उनके आधार पर वह किसी कम्पनी की पोजीशन बाजार में बेहतर बना सकता था। बिक्री को बूस्ट कर सकता था। तकनीकी सुधारों के लिए वह सुझावों की एक श्रृंखला प्रस्तुत कर सकता था। कम लागत में अच्छे और मुनासिब फायदे के नुस्खे वह बता सकता था। उसके पास हौसला था और बुलंद दिमाग। बस कोई अच्छी कम्पनी उसे नौकरी पर रख लेती और उसकी क्षमताओं का जो एकेडेमिक अर्थ में एक्सीलेण्ट थीं उनका उपयोग कर पाती।

7 मार्च सन् 1998 के दिन उसकी जेब में वही अकेला पचास रुपये का जर्जर नोट पड़ा हुआ था और जिसे काउण्टर क्लर्क को देने में वह झिझक रहा था। अम्मा ने कोई मनीआर्डर उसके नाम नहीं भेजा था। उसने पोस्ट आफिस में जाकर पता भी किया था। एक दिन कस्बे से आये बिज्जू मामा मिल गये। उन्होंने बताया कि अम्मा तो बीमार पड़ी हैं। उन्हें मोतीझरा निकल आया है। अम्मा जब काम पर ही नहीं जा पाती थीं तो पैसे कहां से भेजतीं? रोहित का बहुत मन किया कि जाकर अम्मा को देख आये। पर इस आखिरी नोट ने उसके हौसले पस्त कर दिये थे।

आवेदन पत्र को रजिस्टर्ड डाक से भेजने के बाद उसके पास 6 रुपये 50 पैसे भर बचे थे। इतने पैसों में वह अम्मा को देखने कस्बे नहीं जा सकता था। रोहित के मन में अकुलाहट भर गई।

अब उसे यह चिन्ता सताने लगी कि उसे इण्टरव्यू के लिए पैसे बचाने होंगे। अम्मा से और पैसे मांगना तो अब ठीक नहीं लगता। उसकी पढ़ाई भी पूरी हो चुकी है। अम्मा कब तक उसे पैसे भेजती रहेंगी! मेहनत-मजूरी करते उनकी देह भी ध्वस्त होने लगी है। पिछली बार अम्मा बता रहीं थीं कि आग के सामने घण्टों बैठे रहने के कारण उनकी सांस फूलने लगी है। छाती मे जलन होती है जैसे फेफड़ों में किसी ने अंगारे भर दिये हों।

आने वाले महीनों में उसे और ट्यूशनें ढूंढ़नी होंगी - सुबह, दुपहर, शाम। यद्यपि अप्रेल शुरू हो चुका था और बच्चे परीक्षा की तैयारी में जुटे हुए थे। वैसे तो गर्मियों में कोई ट्यूशनें नहीं दिलाता। पर खोजने पर जुगाड़ बैठ ही जाता है कहीं न कहीं। कुछ परिवार ऐसे भी मिल जाते हैं जहां शाम की ट्यूशन में खाने का जुगाड़ भी बैठ जाता है। रोहित ने ट्यूशने ढूंढ़ना शुरू कर दी थीं।

वैसे अभी इण्टरव्यू में तीन चार महीने का समय लग जाने का अंदाज रोहित को था। पर कह नहीं सकते जल्दी भी हो सकता है। दिनांक 7 मार्च सन् 1998 को उसने रजिस्टर्ड डाक से आवेदन पत्र सिन्ड्रासको

को भेजा था। यह कम्पनी वैसे तो जिप्सम का उत्पादन करती थी। कम्पनी का यह दावा था कि उसकी कम्पनी का बना जिप्सम लाइम में मिलाने पर मजबूती लोहे से भी चार गुना ज्यादा हो जाती है। दुनिया भर की सीमेण्ट बनाने वाली फैक्टरियां इस जिप्सम की दीवानी थीं।

वास्तव में सिन्ड्रासको एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी थी। इस कम्पनी की शाखाएँ जावा सुमात्रा, मलेशिया, सिंगापुर, हांगकांग, न्यू जर्सी, बियना, इण्डीज, ग्वाटेमाला, सूडान, युगाण्डा, कांगो आदि दो दर्जन से अधिक देशों में फैली हुई थीं। यह कम्पनी डिटरजेण्ट, परफ्यूम्स, अंतर्वस्त्र, कंडोम, सोलर गीजर, रेजर, पिलो, शूज, बटन्स, मिल्क ह्राइटनर, लेमन जूस, टूथ पेस्ट,सॉस, जिंजर, पुरुषत्व बढ़ाने वाले कैप्सूल, जिनका हिन्दुस्तानी नाम कामा रखा गया था क्योंकि कम्पनी का एक डायरेक्टर आधा हिन्दुस्तानी था और उसे हिन्दुस्तान से बेहद लगाव था, आदि बनाती थी। अभी कुछ माह पहले क्वादा नाम से एक बियर भी कम्पनी ने बाजार में लांच की थी। इस बियर के एड में यह दिखाया जाता था कि इस बियर को पीने के बाद मर्द में सांड जैसा जोश आ जाता है और लगभग एक दर्जन भर वस्त्र-संकोची सुदंरियां उसके पीछे हरम की माफिक लग जातीं है। मगर कहीं कोई औरत इस बियर को गटक ले तो किसी भी मरद को देखते देखते पटक कर उसकी छाती पर सवार हो जाती है और उसकी इस कोशिश में उसकी छातियां करीब करीब पूरी खुल जातीं हैं। फिलहाल इन्हीं सब फितरतों के लिए कम्पनी को एक्जीक्यूटिव्स की तलाश थी।

आगे की कुछ घटनाएँ 7 मार्च सन् 1998 के बाद की हैं।

इसके बाद रोहित दो बार कस्बे हो आया था। अम्मा का बुखार उनकी देह से छूट गया था पर वे बेहद कमजोर हो गई थीं और और अब गर्मियों में उनके पास कोई काम नहीं बचा था। शादी-ब्याहों में खाना बनता था तब अम्मा को काम मिल जाता है। कस्बे में तीन चार मैरिज हाल खुल गये थे जो सब चिंताओं से ग्राहक को मुक्त रहने की गारण्टी देते थे। फिलहाल अम्मा खाली थीं और मायूस थीं।

अम्मा की दिली इच्छा थी कि रोहित यहीं कस्बे में अपने लिए कोई काम ढूंढ़ ले। कुछ नहीं तो मास्टरी का ही जुगाड़ कर ले। घर का घर पर ही बना रहेगा। फिर इसकी शादी कर देंगे और रोहित का घर बस जायेगा। आगे ढर्रा चल निकलेगा। अम्मा को मालूम नहीं था कि रोहित के मन्सूबे क्या हैं। उन्हें ये भी मालूम नहीं था कि रोहित ने कितने ऊंचे और सम्मानित विषय में परीक्षा पास की है। उन्हें केवल इतना पता था कि रोहित ने अपनी पढ़ाई पूरी कर ली है और अब नौकरी की जुगाड़ में है। उनको लड़के के सपने के बारे में पता नहीं था। वैसे भी अम्मा जैसी ऊबड़ खाबड़ जमीन पर खड़ी मजूर महिला यह जान भी कैसे सकती थी कि सपने क्या होते हैं। उन्हें तो यह अहसास तक नहीं हुआ कि उनका बेटा रोहित कितने खतरनाक किस्म के सपने देख रहा है। वह उन फसीलों को छूने की कोशिश कर रहा है जो आसमान की ऊंचाइयों से होड़ ले रही हैं। जो सपने ऊंचे होते हैं उन जैसे धरातल पर खड़े लोगों के लिए खतरनाक हो जाते हैं।

अम्मा जहां खड़ीं थीं, लड़के के सपने का धरातल उससे बहुत ऊंचा था। इतना ऊंचा कि सिर कितना भी ऊंचा करो वह धरातल नजर ही नहीं आता। अम्मा ने जब लड़के की आंखों में झांका तो देखा कि वहां इतना हरापन था कि अम्मा डर गईं। फिर इस हरेपन में समुद्र के पानी की नीलिमा भी घुल गई थी कि वहां असीम विस्तार के अलावा कुछ नजर नहीं आता था। इस लड़के रोहित की वेशभूषा पर अगर ज्यादा ध्यान न दो तो वह किसी दूसरे लोक का प्राणी नजर आता था।

रोहित वापस शहर लौट आया था और इण्टरव्यू के कॉल लेटर का इंतजार करने लगा था। मार्च बीता, अप्रैल लग गया। मई भी खिसक गया। जून और जुलाई तो ऐसे बीते कि पता ही नहीं चला। काले

कजरारे मेघों के दर्शन नहीं हुए। अगस्त भी सरपट दौड़ता हुआ आ गया था। उसके साथ ही वर्षा की फुहारें भी। फिर बारिश बहुत तेज और डरावनी हो गई थी। मघा नक्षत्र बरस रहा था। ताल-तलइयां और खेत जल से उत्प्लावित हो गये थे। मघा के बारे में कहा जाता है - मघा न बरसे भरें न खेत, माता न ख्वाबे भरे न पेट। चारों तरफ बस जल ही जल। पानी के अलावा और कुछ नहीं दिखता था। धारासार वर्षा का आवेग, दमकती, कड़कती दामिनी और सीलन में भीगी हर वस्तु। ऐसे भीगे मौसम में क्या कोई कॉल लेटर भेजेगा? पर रोहित आशा में बंधा था।

बादल गरजते तो रोहित के भीतर भी गरजने की इच्छा बलवती होने लगती। उठती उमर का सिवान जोश में ठसाठस भरा हुआ था। वह तड़ित सा कौंध रहा था। वह पंख लगा कर वर्षा की तेज अनवरत धार के बीच गीले भीगे आसमान में उड़ जाना चाहता था। पर हर बार इस बात से मायूस हो जाता है कि वह नंगे पांव है और नंगे पांव कोई पंख लगा कर नहीं उड़ सकता है। वह अपने नंगे पांव ढकने की कोशिश करता पर पंख झर जाते। नंगे पांव होना ही गुनाह था। यह गुनाह जो जन्म से ही उसके पीछे लगा था क्योंकि वह नंगे पांव पैदा हुआ था।

सितम्बर माह आधा बीतते ही उसकी आशा भी आधी रह गई। कहीं उसका आवेदन पत्र समय पर न पहुंचा हो, या कम्पनी वालों ने इण्टरव्यू ही कैन्सिल न कर दिया हो। इस बीच उसने तीन-चार जगह और अपने आवेदन पत्र भेज दिये थे। कहीं न कहीं से तो बुलावा आयेगा ही।

अक्टूबर माह बिना किसी खास आहट के बीत गया। अब नवम्बर भी आधा बीत गया था। आ गया 18 नवम्बर सन् 1998 का दिन।

इसी दिन रोहित को सिन्ड्रासको का कॉल लेटर मिला था। वह ट्यूशन के लिए बाहर निकल कर कोठरी का ताला बंद कर ही रहा था कि डाकिया ने उसे एक रजिस्टर्ड पत्र थमा दिया। उस वक्त शायद डेढ़ के ऊपर बजा था। पिछले दिनों उसकी घड़ी चारपाई से गिर कर बंद हो गई थी तब से वह समय का अंदाजा लगाता रहता था। आठ माह बाद उसका अंदाजा सही निकला था। उसने कॉल लैटर को माथे से छुलाया और मन ही मन हनुमान जी को याद करने लगा।

ताला खोल कर वह कोठरी के भीतर आ गया और कुछ देर यों ही खड़ा रहा। वह अपनी धड़कनों को सामान्य करने में लगा था।

कॉल लेटर में इण्टरव्यू की तारीख लिखी है - 26 दिसम्बर, सन 1998, समय-11 बजे दिन, स्थान - वेन्यू ऑफ सिन्ड्रासको, सीराज बिल्डिंग, फोर्थ फ्लोर, हैरीटेज इम्पोरियम के पास नई दिल्ली। उसे पूरा पता पढ़ने में समय लगा, पर इस पता को याद नहीं रख सका। एक माह से ऊपर का समय उसके पास है। उसने कोठरी में ताला लगाया और ट्यूशनों के लिए निकल गया।

बीच के दिन उसकी तैयारी के दिन थे। सबसे पहले उसने अपने कोर्स को दोहराया। शहर और अपने कालेज की लाइब्रेरी में बिजनेस मैनेजमेण्ट पर जितनी मैगजीन्स और पीरियॉडिकल्स उसे मिले वह उन सबको घोंट गया। नोट्स लिये। सामान्य ज्ञान के लिए वह अखबारों की हैडिंग्स पहले ही से देख रहा था। अब वह सम्पादकीय और लेख भी देखने लगा। उसने पता किया, उसके किसी और सहपाठी का कॉल लेटर नहीं आया था। यह बात उसके लिए थोड़ी निश्चिंतता भरी हो सकती थी पर दूसरी जगहों से तो टेलेण्ट्स होंगे मुकाबले में। एड में पोस्ट्स की संख्या का जिक्र नहीं था। शायद उपयुक्त उम्मीदवार मिलने के आधार पर जगहें भरी जायेंगी। उसने सोचा। उसने कयास लगाया एक दो या आधा दर्जन पोस्ट हो सकती हैं।

रोहित डार्क ब्ल्यू रंग की एक पैण्ट एक्सीलेण्ट टेलर के यहां सिलने के लिए डाल आया था। एक सफेद शर्ट और ब्राउन रंग की टाई पहले से ही उसके पास थी। उसके जूते जरूर काम के नहीं थे। पर नये खरीदने के लिए उसके पास पैसे नहीं थे। इन्हीं पुराने और बेडौल जूतों से काम चलाना पड़ेगा। पॉलिश कराने के बाद कुछ ठीक दिखने लगेंगे। उसने संतोष कर लिया। हालांकि मन नये जूतों के लिए ललक रहा था। पर कोई रास्ता भी तो नहीं था।

उसने ट्यूशनों के पैसे जोड़ने शुरू कर दिये। कम्पनी आने-जाने का किराया दे रही है पर वह तो इण्टरव्यू के बाद ही मिलेगा। दिल्ली जाने और वहां होटल में ठहरने और खाने पीने के लिए तो अभी उसे कुछ रुपये चाहिये थे। एकाध जगह कोशिश करने पर उसे एडवान्स पैसे भी मिल गये ट्यूशन के। पिछले छः सात महीनों से उसने अम्मा से एक पैसा नहीं लिया था और ट्यूशनों के पैसों से ही अपना काम चलाया था। वैसे भी वे पैसे भेजने की स्थिति में नहीं थीं। आजकल रोजन्दारी पर जहां काम मिल जाता था, करने लगतीं थीं। रोहित सोचता था कि उसे नौकरी मिलते ही अम्मा को फिर कहीं काम करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह अम्मा को इतना सुख देगा कि वे भूल जायेंगी कि दुख होता क्या है।

18 नवम्बर सन् 1998 के बाद एक एक दिन बीत रहा था। किसी ने रोहित को बताया कि वहां दिल्ली में ठण्ड बहुत पड़ती है। यह जानकर एक दिन उसने फुटपाथ पर लगने वाली ऊनी कपड़ों के स्टाल से एक सस्ती सी, पर देखने में कुछ अच्छी दिखती एक जर्किन खरीद ली। यही जर्किन इण्टरव्यू में पहिन कर वह जायेगा। उसने निश्चय कर लिया।

उस लड़के रोहित ने 26 दिसम्बर सन् 1998 तक के लिए उधेड़बुन, तैयारी और सपने देखने में बिता दिये।

ऊपर लिखी कथा 24 दिसम्बर सन् 1998 के दिन तक की है जब वह अपनी कोठरी में था। आगे की जो कथा है वह कल्पना, अनुमान और सामान्य पूछताछ पर आधारित है। क्योंकि ऐसा कोई पक्का सबूत नहीं मिला था कि इस शहर से रवाना होने के बाद वास्तव में हुआ क्या था और घटनाएँ किस तरह घटी थीं या उनकी कोई श्रृंखला बन गई और वे अनायास घटतीं चली गईं और सब कुछ बरबस हो गया।

6 बज कर 10 मिनट पर दिल्ली के लिए ट्रेन छूटती है। उस दिन 24 दिसम्बर सन् 1998 की शाम को 5 बजे के आसपास रोहित इतमीनान से स्टेशन पहुंच गया होगा। उसका एकाध कोई दोस्त अगर अपनी बाइक से उसे स्टेशन तक छोड़ने आया होगा तो उसका रिक्शा या टेम्पो का किराया बच गया होगा। हालांकि ऐसी उम्मीद कम ही थी क्योंकि उसकी ऐसी गाढ़ी दोस्ती किसी से नहीं थी। दोस्ती में गाढ़ापन वर्ग समानता के आधार पर आता है। वह गरीब लड़का उनके वर्ग में कहीं अंटता ही नहीं था। बड़ी गहरी खाई थी उनके बीच। इस कारण ऊंचे वर्ग वाले लड़के उससे कटते रहते थे और यथासम्भव उसे मुंह ही नहीं लगाते थे। रोहित की मजबूरी उनसे दूर ही रहने की थी।

एक फटे बिस्तरबंद और एक छोटे से बैग को लिये रोहित दिल्ली जाने वाली ट्रेन के सामान्य डिब्बे में जाकर बैठ गया होगा। उसके बिस्तरबंद में भेड़ की ऊन से बनी एक दरी, दो कम्बल और एक मोटा चादर बंधा था और इनके बूते दिल्ली की हाड़ कंपाऊ ठण्ड से मुकाबला करने जा रहा था। गर्म कपड़े के नाम पर उसके पास वही जर्किन भर थी जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। रात में खाने के लिए उसने सात रोटियां और आम के आचार की दो कलियां एक अखबार के टुकड़े में लपेट कर रख ली थीं। इस सामान के साथ एक मल्टीनेशनल कम्पनी का एक्जीक्यूटिव बनने का सपना भी उसके साथ सफर कर रहा था। उसने दिल्ली में किसी धर्मशाला का पता पूंछने की कोशिश भी की थी जो फिलहाल उसे मिला नहीं था।

सामान्य श्रेणी के उस डिब्बे में रोहित यात्रियों के बीच ठंस कर बैठ गया होगा। वैसे भी सामान्य श्रेणी के डिब्बे में फैल कर बैठने की गुंजाइश कभी नहीं मिलती।

साढ़े ग्यारह या बारह के बीच ट्रेन मानिकपुर जंक्शन पहुंच गई होगी। यहां 40 मिनट का स्टापेज है। रोहित ने किसी से पूछ कर यह सब पता कर लिया होगा। इस स्टेशन पर उसने अखबार में लिपटी रोटियां निकालकर खा ली होंगी। क्यों कि यात्रियों के स्टेशन पर उतर जाने के कारण उसे सहूलियत से बैठने की गुंजाइश मिल गई होगी। वह पानी पीने के लिए कोहरे और भीषण ठण्ड से भरे प्लेटफार्म पर उतर गया होगा। पानी पीकर लौटते उसे प्लेटफार्म की दूसरी ओर जहां कोई ट्रेन नहीं लगी थी उसे कुछ दिखा होगा और वह कोतूहल में भरा उस ओर चला गया होगा। वहां उसने एक अधेड़ आदमी को जो भिखारी रहा हो या कोई यात्री क्योंकि घने कोहरे के कारण ठीक ठीक पहिचानना बहुत मुश्किल रहा होगा, ठण्ड से बुरी तरह कांपते उसने उसे देखा होगा। कुछ पल तक उसकी मुसीबत को देखते वह अभिभूत हो गया होगा। फिर कुछ सोच कर वह तेजी से अपने डिब्बे की ओर लौटा होगा। डिब्बे के भीतर सीट के नीचे से खींच कर उसने अपना बैग निकाला होगा और जिप खोल कर उसने जर्किन बाहर निकाल ली होगी। जिप बंद कर बैग वापस उसने सीट के नीचे सरका दिया होगा। वह दृढ़ कदमों से चल कर ठण्ड से कांपते उस आदमी के पास पहुंचा होगा और उसके ऊपर उसने चुपचाप वह जर्किन डाल दी होगी। बिना उसकी कोई प्रतिक्रिया जाने वह वापस अपनी सीट की ओर लौट आया होगा। इण्टरव्यू बोर्ड के आगे एक सदस्य की प्रतिक्रिया पर वह पूरे इतमीनान के साथ इस घटना का बखान कर रहा था।

बाद के दिल्ली तक के सफर में ठण्ड, असुविधा और चढ़ती उतरती भीड़ के कारण उसे ठीक से नींद नहीं आई होगी। दूसरे दिन बारह या एक बजे के लगभग उसकी ट्रेन दिल्ली के रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म नं. 4 पर आकर लगी होगी। भीड़ के सैलाब में डूबता उतराता वह पैदल पुल पार कर के स्टेशन के बाहर निकल आया होगा।

दिल्ली का उसका यह पहला मौका था। वहां ऑटो वालों ने उसे घेर लिया होगा। उनसे पिण्ड छुड़ा लेना कोई आसान काम नहीं होता। उनसे उलझते छूटते आखिरकार एक बूढ़ा कुली उसे दिख गया होगा जो इसके कांव कांव भरी स्पर्द्धा से निस्पृह एक ओर चुपचाप खड़ा रहा होगा। उसके पास पहुंच कर उसने उस कुली से किसी सस्ते से होटल में ले चलने के लिए कहा होगा। कुली ने बिना कुछ कहे उसका बिस्तरबंद अपने सिर पर रख लिया होगा और उसका बैग अपने कंधे से लटका कर चल पड़ा होगा। स्टेशन से फर्लांग भर की दूरी पर सीढ़ियां चढ़ कर वह उसे लिये एक बोर्डिंग हाउस में पहुंचा होगा। वहां काउण्टर के सामने रोहित का सामान रख कर कुली ने पैसों के लिए रोहित की ओर देखा होगा। रोहित ने पांच रुपये का एक मैला कुचैला नोट उस बुढ़े कुली की अनगिनत रेखाओं से भरी मटमैली गदेली पर रख दिया होगा। नोट लेकर वह चुपचाप सीढ़ियां उतर कर चला गया होगा।

बोर्डिंग हाउस के यात्री रजिस्टर में 25 दिसम्बर, सन् 1998 के दिन उसका नाम रोहित लाल दर्ज है और उसके हस्ताक्षर भी उस रजिस्टर में बने हैं। सौ रुपये की अग्रिम राशि उससे जमा कराई गई थी। यह राशि भी वहीं उसके नाम के आगे दर्ज है। बगैर अटैच्ड लेट्रिन बाथरूम वाला कमरा नं. 102 उसे अलॉट किया गया था। उसका सामान कमरे में पहुंचा कर नौकर ने उससे चाय के लिए पूछा होगा और पैसे बचाने की गरज से उसने चाय के लिए मना कर दिया होगा। नहाने के लिए तीन तीन रुपये में एक बाल्टी गर्म पानी के लिए उसने हां अवश्य कह दी होगी।

नहा धो कर उन्हीं कपड़ों में वह कमरा बंद कर के काउण्टर तक आया होगा और वहां बैठे क्लर्क

से इण्टरव्यू वाली जगह के बारे में पूछा होगा। नीचे उतर कर उसने आसपास कोई सस्ता सा दिखता होटल तलाशा होगा और खाना खाने के लिए उसमें घुस गया होगा। फिर उस तरफ के रूट वाली बस में बैठ कर उसने कण्डक्टर से टिकट लेते आग्रह किया होगा कि वह पते वाली जगह आने पर बता दे क्योंकि वह यहां के लिए एकदम नया है। लगभग पौन घण्टे बाद जब वह सड़क पर उतरा होगा तो उसे सीराज बिल्डिंग ढूंढ़ने में जरा भी कठिनाई न आई होगी क्योंकि कम्पनी का बोर्ड सड़क से ही भलीभांति दिखाई पड़ रहा था। क्रिसमस की छुट्टियां होने के कारण बिल्डिंग में उसे गहमागहमी ज्यादा नजर न आई होगी। कॉल लेटर निकाल कर उसने पता का मिलान कर लिया होगा। संतोष हो जाने पर वह वापस बोर्डिंग हाउस लौट आया होगा और कमरा बंद कर पढ़ने बैठ गया होगा। रात 11 बजे तक उसने सब कुछ दोहरा लिया होगा।

रात को चिंता के कारण उसे किस्तों में नींद आई होगी। कल की रात भी वह सफर में ठीक से नहीं सो पाया था। रात को उसके दिमाग में पोस्ट की संख्या और उम्मीदवारों की संख्या का गुणा भाग घूमता रहा होगा। क्या पूछेंगे, ये प्रश्न भी उसे मथ रहे होंगे। वह घबड़ाहट में भर गया होगा। दिल्ली या और जगह योग्य लड़कों की कमी नहीं है फिर उसके पास किसी की कोई सिफारिश भी तो नहीं है। उसके पास तो कायदे के जूते भी नहीं हैं। दिल्ली की हाड़ चीरती हवा के विरुद्ध उसके पास कोई गरम कपड़ा तक नहीं है। उसे ऐसा सोचते मानिकपुर स्टेशन पर ठण्ड से कांपते उस आदमी की सुध हो आई होगी।

26 दिसम्बर, सन् 1998।

आज का दिन सामान्य दिन नहीं है। आज ही इण्टरव्यू है। आज 11 बजे दिन, स्थान-साउथ एक्सटेंशन पार्ट-1 नई दिल्ली हैरीटेज इम्पोरियम के शो रूम के पश्चिम एक मिनट के रास्ते पर सीराज बिल्डिंग के फोर्थ फ्लोर पर सिन्ड्रासको का आफिस। रोहित 9 बजे ही तैयार होकर बैठ गया होगा और नोट्स तथा कुछ पत्रिकाओं को उसने यों ही उल्टा पुलटा होगा। फायनेंस, मारकेटिंग, ट्रेड, बिजनेस आइडियाज, इन्स्योरेंस, जापानी मेन्यूवर, नेटवर्क कम्पटीशन, कल्टीवेशन ऑफ रिलेशन्स, रिजर्व बैंक, यूएनओ-ढेर सारी परिभाषायें उसके दिमाग में अनायास सरक आई होंगी। बिजनेस स्किल एण्ड स्मार्टनेस पर तो उसका डिजरटेशन है। कारपोरेट जगत में जो भी नया से नया हो रहा है रोहित उन सब से परिचित है।

वह भड़भड़िया लड़का साढ़े नौ बजे ही तैयार हो गया होगा और कमरा बंद कर बाहर निकल रहा होगा। सार्टीफिकेट्स वाली फाइल उसने मजबूती से हाथ में पकड़ रखी होगी और उसके पारदर्शी फ्लैप में से झांकते कॉल लेटर को देख कर तसल्ली कर ली होगी। आज का मौसम बहुत बिगड़ा हुआ रहा होगा। फिर भी वह बरछी सी चीरती ठण्डी हवा में मजबूरी में मात्र एक सफेद सूती शर्ट पहिने चल पड़ा होगा और आखिरी बार अपने बदशक्ल जूतों को फिर एक बार चलते चलते पोंछ कर उसने साफ किया होगा।

इतने कम कपड़ों में उसे बाहर निकलते देख कर टोपा, मफलर, दो स्वेटर और बंद गले के कोट में बंद काउण्टर पर बैठा मैनेजर हैरान रह गया होगा। चार दिनों से सूरज नहीं निकला था और ठण्ड बेहिसाब बढ़ गई थी। लड़का उसे विचित्र लगा होगा।

बोर्डिंग हाउस से निकल कर गली के मोड़ पर छोटे से मंदिर में विराजमान हनुमान जी की मूर्ति को देख कर रोहित ने अनायास अपने हाथ जोड़ लिये होंगे। हनुमान जी में गहरी आस्था है रोहित की। पर उस दिन हनुमान जी ने रोहित की कितनी विनती कबूल की, कोई नहीं जानता। वैसे भी देवताओं और मनुष्यों के बीच संवाद है कहां!

बाहर सड़क पर उस कंपकपाती ठण्ड में रोहित की पसलियां बजने लगी होंगी। सिटी बस में ठण्ड से बचने के लिए रोहित खिड़की से दूर जा बैठा होगा। उसे यह देख कर आश्चर्य जरूर हुआ होगा कि

बावजूद इतने खराब मौसम के बस लगभग खचाखच भरी हुई थी। बस के भीतर बैठी सवारियां देखने में ऊन के बण्डल मालूम होतीं थीं। केवल वह उस बस में खून जमा देते वाली भयानक सर्दी के खिलाफ मात्र सूती सफेद शर्ट पहिने डटा हुआ था।

वह बार बार सिहर रहा था। कंपकपी उसकी शर्ट में चिपकी हुई थी। वह दांत पर दांत कसे बैठा था। अभी तो इसका इण्टरव्यू उस ठण्डी हवा के सामने ही चल रहा था जो दिल्लीवासियों को हर वर्ष डरा जाती है।

दस बज कर पांच या सात मिनट पर रोहित बस से उतर गया होगा। कुछ दूर पैदल चलकर हैरीटेज इम्पोरियम के भव्य शो रूम के सामने पहुंचा होगा। वहां से सीराज बिल्डिंग तक पहुंचने में उसे आधा मिनट से ज्यादा न लगा होगा।

लिफ्ट की बजाय उसने सीढ़ियों का इस्तेमाल करना अधिक उपयुक्त समझा होगा और सीढ़ियां चढ़ते अपने शरीर में दौड़ते खून का अहसास किया होगा। जब वह चौथे माले पर पहुंचा होगा तभी बादलों और कोहरे की मोटी परतों को चीरती सूरज की किरणें कुछ क्षणों के लिए चमकी होंगी। रोहित ने हैरानी से भूरे आसमान की ओर ताका होगा और यह कामना की होगी कि समूचा सूरज आसमान में दिखने लगे। कुछ गरमी तो सूरज अपने साथ लायेगा वरना ये ठण्ड तो उसे पूरा जमाये दे रही है।

हल्के चाकलेटी रंग से पुते उस अपार्टमेण्ट में, जिसकी बाहरी दीवार पर सिड्रासको इण्टरनेशनल का भव्य साइनबोर्ड लगा है, वह दाखिल हो गया होगा। वहां रिसेप्शन काउण्टर पर बैठी मेकअप पुती कथित खूबसूरत महिला से रोहित ने अंग्रेजी में इण्टरव्यू के बाबत पूछा होगा। एक व्यावसायिक मुस्कान के तहत उसने रोहित को एक ओर जाने का इशारा किया होगा। इंगित दिशा में उसे एक सुसज्जित हाल मिला होगा जिसमें तकरीबन बीस युवक सोफों में धंसे बैठे उसे दिखे होंगे। ऊनी कपड़ों में वे लड़के और भी चुस्त दुरुस्त दिख रहे होंगे। रोहित के अलावा दो और युवक टाई बांधे हुए थे पर वे दोनों कोट पैण्ट में थे। वहां इस लड़के रोहित को मात्र शर्ट और टाई में देख कर वे बाकी युवक मन ही मन हंसे होंगे - कैसा अहमक लड़का है। इतनी ठण्ड में केवल एक शर्ट पहिने हुए है। रोहित सकुचाता सा एक सोफे के किनारे सिकुड़ा सा बैठ गया होगा और यहां भीतर ठण्ड कुछ कम होने की वजह से राहत महसूस करने लगा होगा।

ठीक 11 बजे से उनके सार्टीफिकेट्स देखने शुरू हुए होंगे और इसके लिए एक एक उम्मीदवार का नाम पुकारा जाने लगा होगा। बारह पैंतीस पर रोहित का नाम पुकारा गया होगा और वह दूसरे कक्ष में एक अधेड़ से चुस्त अधिकारी के सामने जाकर खड़ा हो गया होगा। उसे कुर्सी पर बैठने के लिए कह कर वह अधिकारी रोहित के सार्टीफिकेट्स जांचने लगा होगा। वहां दूसरे युवकों से अपनी तुलना करते रोहित ने अपने को सबसे पिद्दी पाया होगा। हां, एक ही चीज उसके लिए तसल्लीबख्स हो सकती थी कि उसके जैसी मैरिट किसी दूसरे के पास न हो।

यह कक्ष काफी गर्म रहा होगा और रोहित के ठण्ड से नीले पड़े होंठ अपने सामान्य रंग में आना शुरू हो गये होंगे। उसका कांपना कुछ कम हो गया होगा। एक बज कर सत्रह मिनट पर एक अटेण्डेण्ट ने उसके पास आकर शिष्टता से उसका नाम पूछा होगा और अपने पीछे आने का इशारा किया होगा। स्प्रिंगदार कपाट से भीतर जाकर उसे एक कम सज्जा वाले छोटे से कमरे में पहले बैठा दिया होगा। उसके सामने ही एक भव्य द्वार रहा होगा जिसके पार उससे पहले बैठे युवक का इण्टरव्यू चल रहा होगा। उसे प्रतीक्षा करने के लिए इस कक्ष में बैठा दिया होगा।

उसे पता नहीं वह कितनी देर प्रतीक्षा में बैठा रहा। वही अटेण्डेण्ट फिर बाहर निकला होगा और उसे लेकर भीतर दाखिल हो गया होगा। भीतर एक भव्य हाल में सात सूटेड बूटेड लोग एक अर्द्धगोलाकार टेबुल

के उस ओर बैठे उसे दिखाई पड़े होंगे। इस अर्द्धगोले के केन्द्र पर एक अकेली कुर्सी रखी होगी जिस पर वह अनुमति लेकर बैठ गया होगा। उसके अधबूढ़े और बदशक्ल जूते एकदम उन सब की निगाहों में आ गये होंगे। बैठने के पहले उसने उन सब को एक साथ अभिवादन किया होगा और धीमी किन्तु संतुलित आवाज में - गुड डे टु आल ऑफ यू बोला होगा। इसके जवाब में शायद ही किसी ने कृपा करके कुछ बोला होगा। हो सकता है किसी ने केवल पलकें झपक कर उसे अनुगृहीत करने की कोशिश की हो।

उनमें से एक किसी सदस्य ने कुछ ऊंची आवाज में उसकी योग्यताओं और मैरिट्स के बारे में बोला होगा। उनमें से कुछ सदस्यों ने वेरी गुड या एक्सीलेण्ट का उच्चार किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह उच्चारण धुले आसमान जैसा साफ और मौजूं रहा होगा। हो सकता है बीच में बैठे मोटे, ठिगने और खल्वाट खोपड़ी वाले मंहगे सूटधारी ने कीमती यूडी कॉलोन में तर अपने थोबड़े से सरप्राइजिंग शब्द भी वहां पटक मारा हो। ये कम्प्लीमेण्ट्स वाकई बाले गये होंगे क्यों कि ऐसी मेरिट्स बिरली ही मिलती हैं।

यह कक्ष उन सदस्यों की पोजीशन और ऊंचे वेतनों के कारण और भी ज्यादा गरमा रहा होगा। रोहित की कंपकपी बहुत कम हो गई होगी। इस वजह से वह थोड़ा आश्वस्त हो गया होगा। बीच में बैठे एक वरिष्ठ सदस्य ने रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की ट्रेड पॉलसी के बारे में पूछा होगा और रोहित ने उसका जवाब दे दिया होगा। हालांकि जवाब देने के दौरान ठण्ड की एक पहले से समाई लहर ने उसकी वाणी को अवरुद्ध करने की कोशिश की होगी और उसके विश्वास को हल्के से डिगा दिया होगा। लड़के ने कोशिश कर के लहर को दबोच लिया होगा।

एकदम बांयी ओर बैठे सदस्य ने जापान की ट्रेड सक्सेस और उसके कमेण्ट्स चाहे होंगे। रोहित ने चटपट जापानियों की लगन, गुणवत्ता के प्रति उनके समर्पण और राष्ट्रप्रेम के बाबत बता दिया होगा। रोहित खुद जापानियों से पागलपन की हद तक प्रभावित था। अधपके बालों वाले सदस्य ने होटल बिजनेस के बारे में कुछ प्रश्न किये होंगे। नीले रंग की भड़कीली टाई पहिने सदस्य ने उसको कन्फ्यूज करने के लिए प्रश्नों की झड़ी लगा दी होगी कि लड़का हथियार डाल देगा। बिना विचलित हुए रोहित नाम के उस लड़के ने जिसकी मां मजदूरी करती थी और जिसके शरीर पर दिल्ली की इस भीषण ठण्ड के विरुद्ध एक भी ऊनी कपड़ा अपने शरीर पर पहिना हुआ नहीं था, उन प्रश्नों के जवाब एक एक कर देने शुरू कर दिये होंगे। उस सदस्य के प्रश्नों की श्रृंखला के समातंर अपने जवाबों की कड़ी उसने खड़ी कर दी होगी।

लड़के की काबिलियत और विषय के गहरे ज्ञान का आभास दुनिया भर के बिजनेस संस्थानों में शीर्ष पर बैठी उन हस्तियों को लग गया होगा। बाद में एक सदस्य ने बताया भी था कि लड़के की परफोरमेन्स तो गजब की थी। वे सभी सदस्य जो अपनी योग्यता, कुशलता और कठिन श्रम से गलाकाट स्पर्द्धा के चलते अपने मालिकों, प्रभुओं के प्रोडक्ट को बाजार में दौड़ा देने के हुनर से लैस थे उस लड़के से बहुत प्रभावित हो गये थे।

हालांकि पहले लुक में वे रोहित को पिद्दी मान चुके होंगे। पर अब उसके विषय के ज्ञान और गहराई तथा उसकी प्रतिभा से वे समझ नहीं पा रहे होंगे कि लड़के को कहां से घेरें। वाह! लड़का वाकई ब्रिलियेण्ट है। लड़के को अगर उन्होंने जाइण्ट, जाइण्ट ऑफ बिजनेस मैनेजमेण्ट कह दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं लगा होगा।

अब प्रश्न पूछने बंद हो गये थे। उनके बीच आपसी विचार विमर्श चलने लगा होगा। रोहित सकपकाया सा, भ्रमित, आशंकित, ठण्ड का मारा हुआ चुपचाप बैठा रहा होगा।

अब इसको तो सिलेक्ट करना ही होगा - वे आपस में नजरों नजरों में ही पूछ रहे होंगे। पर इस लड़के की फेमिली बैकग्राउण्ड तो कुछ भी नहीं है। वह बहुत गरीब घर से सम्बन्ध रखता है। इनकम-चार हजार रुपया वार्षिक। ह्वाट ए पुअर स्टेटस! बाप नहीं है। केवल मां है जो मजदूरी करती है। लड़के ने सब कुछ साफ साफ अपने आवेदन पत्र में लिखा है। बोर्ड के सदस्य उसे ही पढ़ रहे हैं। इसके अलावा और कोई धंधा नहीं है। वैसे पढ़ाई में एक्सीलेण्ट, समझ एकदम परफेक्ट, कनसेप्ट वैरी क्लियर। जो कुछ भी पूछा गया तत्परता से और सही उत्तर दिया।

बोर्ड में एक मनोवैज्ञानिक भी बैठा होगा। उसकी नजर लड़के के बेढंगे जूतों पर चली गई होगी। उसने अपनी नजरें उसके फटेहाल जूतों पर गड़ा दी होंगी और वह लड़का रोहित खामख्वाह एक अपराध बोध में भर गया होगा। उस सदस्य के चेहरे पर एक क्रूर मुस्कान उभर आई होगी। उस सदस्य ने यह भी देख लिया होगा आसानी से कि दिल्ली की कड़कड़ाती ठण्ड में वह मात्र एक सूती शर्ट पहिन कर इण्टरव्यू देने चला आया है।

इन दिस वेरी कोल्ड एण्ड चिल्ड वेदर ऑफ टु डे यू आर ओनली इन सिंगल शर्ट विदाउट एनी ऊलन क्लाथ - वह पूछ रहा होगा और आगे व्यंग्य में कहा होगा - यू सीम टु बी वेरी ब्रेव यंग मैन!

जूतों से चल कर शर्ट तक उसने पूरी कहानी बड़ी शिद्दत से जान ली होगी।

लड़का ठहरा बौड़म। सम्पन्न किस्म की चालाकी से अनजान। उल्टे वह इस आक्षेप पर उत्साह में आ गया होगा। उसने अपनी जर्किन गवाने की पूरी घटना यथातथ्य बखान कर दी होगी। रोहित ने यहीं भूल कर दी थी। घटना का बखान करते समय गहन मानवीयता की आभा उसके चेहरे पर दिप दिप करने लगी होगी। जबकि इस आभा की कतई कोई जरूरत इन लोगों को नहीं थी।

यू आर वेरी टची एण्ड सेण्टीमेण्टल मि. - बीच में बैठे उस भारी भरकम चैयरमेन ने कहा होगा।

उस भड़भडिया लड़के ने फौरन उत्तर पटक दिया होगा - थैक्यू-थैक्यू वैरी मच सर!

ही मे किल द इन्ट्रेस्ट ऑफ कम्पनी ह्वेन ही बिकम्स टची - उस मोटे आदमी ने, जिसने अपनी तोंद में दुनिया भर की भूख कैद कर रखी थी, कहा।

इस वाक्य ने अपना मंतव्य इण्टरव्यू हाल में पसरी बोझिल हवा के कंधों पर डाल दिया होगा।

रोहित कुछ समझा होगा, कुछ नहीं। हो सकता है, उसने प्रत्युत्तर में कहा होगा - नो सर! नेवर सर!

बायें या दायें किसी छोर के सदस्य ने अपनी टिप्पणी जड़ी होगी - यू डू नॉट लिव ऑन रियलिटी। यू आर गवर्न्ड बाई योर सेण्टीमेण्ट्स। इन फैक्ट यू आर नाट ए सोशल वर्कर, नॉट ए नर्स, एण्ड नॉट ए चैरिटी डोनर, बट यू गेव अप योर ऊलन जर्किन विदआउट डूइंग एनीथिंग फॉर योरसेल्फ।

हाल की हवा और भी सांद्र हो गई होगी।

फिर उसके बीच विचार विमर्श कुछ देर धीमी आवाजों में आपस में चला होगा। उन्होंने सहमति में अपने अपने मूंड़ हिलाये होंगे। इसी बीच उस मोटी काया वाले चेयरमैन ने थैंक्यू कह कर इण्टरव्यू खत्म होने की घोषणा कर दी होगी।

सबका अभिवादन कर के रोहित कुछ कुछ असमंजस की स्थिति में हाल से बाहर निकल आया होगा।

वह उसी कमरे से होकर निकला होगा जहां उसके सार्टीफिकेट्स जांचे गये थे। उस अधिकारी ने उससे कैण्टीन में जाकर उससे लंच लेने का आग्रह किया होगा जो कम्पनी की तरफ से स्पांसर रहा होगा। उस अधिकारी ने यह भी बताया होगा कि वह एकाउण्ट सेक्शन में जाकर अपना फेयर भी प्राप्त कर ले और चाहे तो रुका रहे और साढ़े चार बजे इण्टरव्यू का रिजल्ट नोटिस बोर्ड पर देख ले।

वह पहले वाले हाल में आकर बैठ गया होगा। इण्टरव्यू देने वाले अधिकांश उम्मीदवार चले गये होंगे। केवल आखिरी उम्मीदवार उस वक्त हाल में मौजूद रहा होगा। वक्त धीरे धीरे तमाम हो रहा होगा। उस लड़के को फिर कंपकपी ने घेर लिया होगा।

चार बज कर बीस मिनट पर नोटिस बोर्ड पर जो रिजल्ट टंगा होगा उसमें रोहित का नाम सिलेक्ट किये गये उम्मीदवारों में नहीं रहा होगा। रोहित ने अविश्वास से फिर रिजल्ट को देखा होगा और एक गहरी सांस भर कर जिस में भाप के सिवा कुछ नहीं था वह वहां से हट गया होगा। केवल दो लोग चुने गये थे। रोहित एकदम मायूस हो गया होगा और दिल्ली शहर में इतराती पूरी ठण्डी हवाएँ एकबारगी उसकी पसलियों में घमासान मचाती घुस गई होंगी।

उस क्रूर, हृदयहीन और संवेदना शून्य कारपोरेट जगत में किसी सेन्टीमेण्ट्स के लिए कोई जगह नहीं थी। उसका फेमली बैकग्राउण्ड स्तर से बहुत नीचे एकदम पातालगामी था। उसके वंश में न कहीं सांसदपना था, न किसी बिजनेस कंसर्न की छौंक थी, आई ए एस की कोई महक नहीं थी, न उसमें किसी समाज सुधारक अथवा स्वतंत्रता संग्राम सेनानी की चिप्स ही लगी थी, न किसी बदनाम, पर हाई प्रोफाइल बार की सभ्रांत मालकिन का सील सिक्का उस पर ठुका था, न पुलिस अफसरों की मनमानी उसके यहां गिरवी रखी थी, न किसी उच्च सम्पर्क सूत्र रखने वाले स्मगलर की टोपी ही उसने पहिनी हुई थी और न उसके पास किसी कुख्यात मिलावटबाज के कोई रंग रोगन ही थे। काल गर्लों जैसी विनम्र नस्ल का परचम भी उसने नहीं लहरा रखा था।

वह एक सीधा साधा लड़का था। एलीट क्लास के लड़कों के बीच अपने को डिप्रेस्ड महसूस करने वाला, हीन भावना से ग्रस्त दबा दबा सा कुण्ठित मन वाला लड़का जिसके बारे में अनायास यह कयास लग जाने वाला कि वह सेण्टीमेण्टल है और भावना में बह कर कम्पनी के फायदे और उसके लाभ को घातक रूप से नकार सकता है। उन्होंने उसे सिलेक्ट नहीं किया।

बुझे मन से बाहर की ठण्डी और हिमबुझी हवाओं में जमता सा वह लड़का वापस बोर्डिंग हाउस पहुंचा होगा। यहां आते समय वह जिस उत्साह में दिल्ली की ठण्ड के मुकाबले में खड़ा हुआ था वह अब पस्त हो गया था। उसने अपने को एक कठिन और गहरे अवसाद में घिरा पाया होगा। कमरा खोल कर वह सीधे बिना कपड़े बदले कम्बलों के बीच घुस गया होगा। कंपकंपी उसके पूरे शरीर में लहर बन कर उठ रही होगी और वह तन्द्रा में डूब गया होगा। बिना होश खोये होश में न रहा होगा।

वापसी की ट्रेन ग्यारह बजे है। रात 9 बजे के आसपास रोहित अपना सामान समेटने में लग गया होगा। दस बजे उसकी वापसी बोर्डिंग हाउस में रजिस्टर में दर्ज है। अपना सामान खुद उठाये वह दस बज कर पन्द्रह मिनट पर स्टेशन पहुंच गया होगा। काउण्टर पर बैठे मैनेजर ने बताया था कि उस लड़के का चेहरा उस रात इतना सफेद और मुरझाया हुआ दिख रहा था जैसे उसके चेहरे का सारा खून निकाल लिया गया होगा। वह देखता हुआ भी किसी ओर देखता हुआ नहीं लग रहा था।

टिकट लेकर रोहित प्लेटफार्म नं. 4 पर जहां ट्रेन लगी है पहुंच गया होगा। प्लेटफार्म चारों ओर से

खुला हुआ है और उस लड़के रोहित ने कुछ कुलियों और फेरी वालों को एक ओर आग जलाये तापते हुए देखा होगा। आग की गर्मी में खिंचे कुछ यात्री भी तापने में शामिल रहे होंगे। भीड़ और चारों ओर खुला होने के कारण आग का बहुत सीमित असर रहा होगा। वह इस प्रकार आग की गर्मी की तसल्ली में वहां कुछ देर खड़ा रहा होगा और आंच को अपर्याप्त मान कर सामान समेत किसी डिब्बे में जगह देख कर घुस गया होगा। कंपकंपी ने उसका पीछा नहीं छोड़ा होगा। हालाँकि ठण्ड के कारण एक कम्बल उसने बाहर निकाल लिया होगा। तनाव के कारण वह खाने की बात भूल गया होगा। ट्रेन जब छूटने को होगी, डिब्बा खचाखच भर गया होगा और भीड़ की गर्मी के कारण उसकी कंपकंपी काफी कम हो गई होगी। थोड़ा सुकून मिलते ही तनाव की डोरियां ढीली पड़ गई होंगी। ट्रेन छूटे जब दो घण्टे के लगभग हो गये होंगे अधनींद में ही उसे भूख ने घेर लिया होगा। पर ठण्ड के कारण वह किसी स्टेशन पर निकल कर बाहर नहीं आया होगा।

ऐसी यंत्रणापूर्ण मन:स्थिति में जब एक ओर सिलेक्ट न होने की पीड़ा उसे दबोच रही थी और दूसरी ओर ठण्ड उसकी पसलियों और नाक के रास्ते फेफड़ों तक में घुस गई थी वह सोते हुए भी जाग रहा होगा। ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि उस वक्त उसकी कल्पना में अण्टार्कटिक साकार हो उठा हो। अण्टार्कटिक पर एक लम्बा लेख उसने अभी कुछ महीने पहिले ही पढ़ा था।

उसने सहसा अपने को अण्टार्कटिक में पाया हो और वहां स्लेज गाड़ी में कुत्तों की जगह खुद को जुता पाया हो। उस स्लेज गाड़ी में दुनिया भर की कारपोरेट जगत की जानी मानी हस्तियों को सवार पाया हो और वे एक ऐसी यात्रा में संदर्भ के लिए न तो कोई पेड़, न कोई इमारत, न पक्षी और न कोई जानवर, यहां तक कि कोई दूह और कचरे का ढेर तक कहीं नहीं था। बस सफेद शुभ्र आकाश, दिन रात का विलीन अहसास, जमा हुआ समय, बर्फ से ढंकी दसों दिशायें, सन्नाटे भरी असीम शांति और धरती का आखिरी छोर जहां नीचे गिरते ही अंतरिक्ष का काला महाशून्य लील लेता है।

वह स्लेज खींचता दौड़ा चला जा रहा है, रुकने का कहीं नाम नहीं। उनके हाथों में निर्मम चाबुकें हैं और वे जरा भी सेण्टीमेण्टल नहीं थे।

वह बड़ी मुश्किलों में इस महाठण्डे प्रदेश से बाहर निकल पाया होगा। शायद उस क्षण किसी ने आकर उसे झिझोंड़ा हो।

बड़े भोर शायद चार या पांच बजे हालांकि उस दिन स्टेशन की लॉग बुक में तीन बज कर पचपन मिनट पर ट्रेन का पहुंचना दर्ज है। मानिकपुर जंक्शन पर गाड़ी जा लगी होगी। उस वक्त तीन चौथाई यात्री नींद के आगोश में रहे होंगे। वह लड़का रोहित शायद स्वप्रेरणा से अथवा अण्टार्कटिका की सिहरन से मुक्त होकर प्लेटफार्म पर उतर गया होगा। लौटते वक्त ट्रेन उसी तरह वाले प्लेटफार्म की तरफ लगी होगी जिस तरफ जाते समय उसने ठण्ड से बुरी तरह कांपते उस आदमी को देखा था। वह यंत्रचालित सा उस जगह पर पहुंच गया होगा और जैसा कि स्टेशन पर पूड़ियों का ठेला लगाने वाले खूबचंद यादव ने बताया कि उसने उस दिन ठेले से मात्र चार फुट की दूरी पर ट्रेन से उतर कर वहां आकर लेटते एक युवक को देखा था जो मात्र एक सफेद शर्ट और टाई उस ठण्डी रात में पहिने हुए था। वह उसे वहां इतनी ठण्ड और कोहरे में इस प्रकार लेटने के लिए टोकने ही वाला था कि उसके ठेले पर चाय के तलबगार तीन चार यात्रियों के आ जाने के कारण उसका ध्यान बंट गया था और वह लड़के वाली बात बाद में भूल गया था।

यह ठीक वही स्थान था जहां रोहित ने ठण्ड से कांपते उस अनाम यात्री या भिखारी को अपनी नई ऊनी जर्किन ओढ़ा दी थी। उस भोर जबरदस्त अंधे कोहरे में उसे लगा होगा कि वह ठण्ड से कांपता आदमी अभी भी वहीं लेटा हुआ है और उसकी जर्किन के बावजूद उसकी ठण्ड उसकी देह में जा नहीं रही है। उस

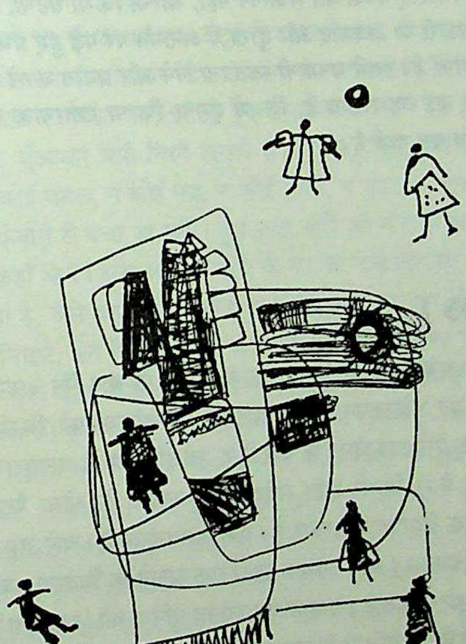
आदमी को अपनी देह की गर्मी देने के ख्याल से शीत की ललकारते वह लड़का उस आदमी की बगल में जो वास्तव में वहां था नहीं, नंगे फर्श पर लेट गया होगा और उस आदमी को अपने आगोश में ले लेने की कोशिश की होगी। उसने कोशिश जारी रखी होगी।

जैसा कि स्वाभाविक है ट्रेन उसे लिए बगैर अगले स्टेशन के लिए रवाना हो गई होगी और वह लड़का रोहित अकेला, अनजान उस गहरी ठण्ड और कोहरे भरे भोर में उस प्लेटफार्म पर छूट गया होगा। उसका सामान आगे कहीं कटनी या जबलपुर या किसी अन्य स्टेशन पर लावारिस समझ कर रेलवे ने उतार लिया होगा। उसके बाद उस लड़के रोहित की खोजबीन शुरू हो गई होगी।

मानिकपुर जंक्शन पर सबेरे दस बजे के आसपास जब कोहरा कुछ छटा होगा, कुत्ते उस स्थान से ठण्ड से अकड़ी एक लड़के की लाश स्लेज गाड़ी की तरह प्लेटफार्म नम्बर 3 पर खींच रहे होंगे और वहां भीड़ बढ़ने लगी होगी।

* *

कैलासचन्द्र का जन्म 1945 में उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े इलाके राठ में हुआ। कम कहानियां लिखी हैं पर बहुत चर्चित हुए। पहल 63 में छपी कहानी हारमोनियम के एवज़ में, यादगार बनी। देवेन्द्रराज अंकुर ने रायगढ़ में इस कहानी का मंचन किया। कारन्त इस पर फिल्म निर्माण करना चाहते थे लेकिन वह संभव नहीं हुआ। सेवा निवृत्त हो गये हैं पर अभी तक एक भी कहानी संग्रह नहीं छपा। अब एक संग्रह की संभावना बनी है।



ना, निरापद कोई नहीं है*

दूधनाथ सिंह

ये मेरी 'डायरी' के कुछ पन्ने हैं। छपने के लिए उतारते वक्त इनके (तारीख़ी) क्रम को मैंने जानबूझकर आगे-पीछे किया है। बहुत कुछ ऐसा था जो छपने लायक नहीं था, अतः आगे-पीछे जाना पड़ा। अन्तर्वस्तु की भिन्नताएं पाठक को बार-बार 'स्विच-ऑन स्विच-ऑफ़' करने के लिए विवश करेंगी। सूचना सिर्फ़ यह देनी है कि शीर्षकों के साथ पड़ी तारीखें उस दिन की हैं जिस दिन (या रात) वह 'टीप' ली गयी। 'डायरी' मेरे लिए तथ्यों का संकलन नहीं, बल्कि किसी घटना, बातचीत, गोष्ठी, थकान और नींद, गप्प और दुनियादारी या अवसाद और दुःख में अन्तर्मन पर पड़े हुए प्रभावों का विवरण है। यह तथ्यात्मक+रचनात्मक - दोनों है। इसमें मनमानी स्वतंत्रता लेने और प्रयोग करने की अनन्त छूट है। अतः 'डायरी' मेरे लिए घने वन का वह शरण्य है, जिसमें घूमना-फिरना ख़तरनाक तो है, लेकिन ख़तरों से खेलना तो अब एक आदत बन गयी है।

लेखक

आखेट (31.8.2003)

कल, जब मैं अपने अकेलेपन पर लिख रहा था, उसी के बाद मैंने अरुन्धती रॉय का एक लेख ('हिन्दू' में) 'नोम चॉम्स्की का अकेलापन' पढ़ा। सम्भवतः यह चॉम्स्की की किसी किताब की भूमिका है, जो रॉय ने लिखी है। यह एक ऐसे अकेलेपन के बारे में है, जो इतिहास के जानबूझकर विनष्ट किये जाने पर (जो कि अमेरिका कर रहा है।) किसी अति संवेदनशील आदमी के भीतर पैदा होता है। पूरे लेख में अमेरिका के इस रवैये पर एक विषण्ड हाहाकार है। एक डरावनापन है। चाहे वह इन्डोचायना में युद्ध का मामला हो, नापाम बमों के विकास (और अधिक ख़तरनाक बनाने के विवरण) की चर्चा हो, पूरे लेख में एक नस्लीय विनाश का प्रच्छन्न संकेत है। तथाकथित स्वतंत्र दुनिया की 'स्वतंत्रता' के प्रारूप को चॉम्स्की उजागर करते हैं, इसकी चर्चा है। (मीडिया के माध्यम से) कुछ भी जानना सच जानना नहीं है। मीडिया से

* - भवानी प्रसाद मिश्र की एक कविता - पंक्ति

ओझल सच को नोम चॉम्सकी ने अपनी किताब में खोला होगा। रॉय का लेख पढ़ने से यह प्रभाव पड़ता है कि पुराने नस्लीय युद्धों और अमेरिकन साम्राज्य द्वारा 'स्वतंत्रता', 'मुक्ति' और 'मानवीय संरक्षा' के नाम पर चलाये जा रहे युद्धों में कोई अन्तर नहीं है। अधिक मारक और अत्याधुनिक हथियारों से दूसरी नस्लों को, उनके पर्यावरण, उनके नगरों-गांवों, झोपड़ियों को नेस्त-नाबूद करने का बीसवीं-इक्कीसवीं सदी का एक ख़ौफ़नाक उपक्रम, एक नया प्रयोग। जैसे धरती के भीतर गेहूँ के एक ही बीज का पेटेण्ट वैसे ही धरती के ऊपर एक ही नस्ल का 'पेटेण्ट'। बाकी लोग असभ्य, अजूबे, अविश्वसनीय, कुरूप और बेमतलब। ...और यह तो अमेरिका के ख़ून में है, उनकी तथाकथित 'सभ्यता' की विरासत में है। अरुन्धती अपने लेख में दो बार हॉलीवुड की फ़िल्मों का ज़िक्र भी करती हैं। मैंने कभी बहुत पहले - सम्भवत: साठ या सत्तर के दशक में एक फ़िल्म देखी थी - 'द लास्ट हंट'। अगर अरुन्धती ने न देखी हो तो उन्हें ऑरकाइव्स से निकलवा कर देखनी चाहिए। अक्सर वे बाहर-भीतर जाती रहती हैं। उन्हें आसानी से उस फ़िल्म के 'प्रिण्ट्स' उपलब्ध हो सकते हैं। ...उस फ़िल्म में भूरा, निचाट, विशाल अमेरिकन धरती का क्षितिज तक फैला मैदान, और उसमें जंगली (एक ख़ास नस्ल के) जानवरों का आक्षितिज भागता हुआ झुंड। उस झुंड के पीछे एक गौरांग घुड़सवार, लगातार निशाना लगाता हुआ। उसके चेहरे पर अवर्णनीय आह्लाद (जैसे कॉकपिट से निकलते हुए जॉर्ज बुश के चेहरे पर)। तभी निर्देशक अपना कमाल दिखाता है। जानवरों का वह झुंड एकाएक अमेरिकन आदिवासी रेड इंडियन्स के झुंड में बदल जाता है। और वह घुड़सवार किलकता हुआ उन्हें एक के बाद एक मौत की नींद सुला रहा है। नस्लीय युद्ध की यही विरासत है, आज अमेरिका के पास। विरासतें और भी हैं लेकिन बची सिर्फ़ यही रह गयी है। अमेरिका की धरती उनकी नहीं है जिसकी स्वतंत्रता और महानता पर जॉर्ज बुश या पेंटागन के लोग गर्व से सीना फुलाये, सारी दुनिया को नष्ट करने और उसको एक पिंजरे में बन्द करने में लगे हुए हैं। अरुन्धती रॉय अपने लेख में यहाँ तक जाती है। उनके पास एक गज़ब की विश्व दृष्टि है, जो उनके तमाम लेख़ों और भाषणों में प्रकट होती है, लेकिन अमेरिकी साम्राज्य के ख़ात्मे पर, अच्छी चीज़ों के आने पर जो उनका एक अटूट विश्वास है, वह भी उस फ़िल्म के अन्त की तरह ही, (कुछ-कुछ दूसरे ढंग से) 'मेटाफ़िज़िकल' है। ...फिल्म के आख़िरी हिस्से में वह गौरांग घुड़सवार (रेड इंडियन्स के झुंड को साफ़ करने के बाद) लौटते हुए रास्ता भटक जाता है। रात हो जाती है, मौसम बदल जाता है, और अचानक धुँआधार बर्फ़ गिरने लगती है। निचाट, सूना, आक्षितिज फैला, वही अमेरिकन धरती का मैदान है। न कोई जंगल, न कोई पेड़, न कोई झाड़ी, न गुफ़ा, न पहाड़... न कोई आड़, न शरण्य - जहां इस भयावह बर्फ़बारी से बचा जा सके। घुड़सवार घोड़े की पीठ से उतरता है। घोड़ा निस्पन्द खड़ा है। आख़िर घुड़सवार कहाँ छिपे। अचानक वह घोड़े के पेट के नीचे छिपकर बैठक जाता है। घोड़े का रंग धीरे-धीरे सफ़ेद हो रहा है, जैसे वह असली घोड़ा न होकर बर्फ़ का बना हो। फिर सुबह होती है, सूरज निकलता है, और उस निचाट, श्वेत मैदान में दिख पड़ता है, बर्फ़ के घोड़े का एक निस्पन्द, निर्जीव आकार, और उसके नीचे गुड़ी-मुड़ी बैठा, बर्फ़ का बना वैसा की एक निस्पन्द-निर्जीव घुड़सवार... एक आदमी। उसके हाथों में खड़ी बर्फ़ की एक बन्दूक, जो गोलियाँ नहीं दाग सकती। - यह है, 'द लास्ट हन्ट' का एक 'मेटाफ़िज़िकल' अन्त। जैसा करोगे, वैसा भरोगे। अगर लोग तुमसे हिसाब नहीं चुका सकेंगे तो प्रकृति चुकायेगी। क्या अमेरिकी साम्राज्य के अन्त के बारे में (अरुन्धती बार-बार कहती हैं कि वे इस दुनिया के स्वतंत्र नागरिक की तरह नहीं, इस साम्राज्य की एक प्रजा की तरह, एक ग़ुलाम की तरह यह सब कह रही हैं, जो समझता है कि वह अपने राजा का विरोध कर सकता है। यह बात उन्होंने अपने 'हॉरलेम' वाले भाषण में भी कही है।) उनका आशावाद, इस फिल्म के अन्त की तरह ही कुछ-कुछ 'नॉइव', कुछ अतिरंजित-सा, जीवन (उत्तरजीविता) की आकांक्षा से पीड़ित या 'मेटाफ़िज़िकल' नहीं है? औः अगर है भी तो क्या, अरुन्धती या कोई भी ऐसे हालात में और क्या कर सकता है। फ़िल्म का अन्त तो जैसे एक शाप में होता है

लेकिन अरुन्धती तो अमेरिका के ख़िलाफ़ एक तरह के गांधियन 'सत्याग्रह' की वकालत करती हैं। क्या इस नई दुनिया में यह गांधियन तकनीक संभव हो सकेगी, और अगर नहीं होगी तब? अरुन्धती सिर्फ़ विकल्पों की तलाश में हैं। हम सभी हैं। दूसरे विकल्प की तलाश में वह फ़िदाइन हमलावर भी है। नोम चॉम्स्की का अकेलापन उस दिन शुरू हुआ जिस दिन अमेरिका ने हिरोशिमा पर अणु बम गिराये थे। उस अकेलेपन की चुनौती में ही चॉम्स्की तब से लेकर आज तक अपनी रचनाओं द्वारा अमेरिका का यह दूसरा असली चेहरा (वह नहीं जो मीडिया द्वारा बनाया जाता है।) दिखाने में जुटे हैं। अमेरिका इतिहास और संस्कृति का विनाश करने पर तुला हुआ है और चॉम्स्की उसे बचाने के प्रयत्न में जीवन दिये जा रहे हैं। लेख में एक जगह बॉक्स में अरुन्धती के साथ चॉम्स्की की एक तस्वीर लगी है, जिसमें अपना हाथ बढ़ाकर अरुन्धती चॉम्स्की की पीठ (शायद) का स्पर्श कर रही हैं। शायद यह जानने के लिए कि ऐसे अभूतपूर्व योगी को छूना कैसा लगेगा।

अकेलापन (30.8.2003)

मेरा छोटा बेटा दिल्ली से फ़ोन पर पूछ रहा है, 'अकेलापन लग रहा है? तो चले आओ।' अकेलापन? मैं अपनी पिछली सारी ज़िन्दगी पर नज़र डालता हूँ। जब से होश संभाला, मुझे कैसा लगता रहा? एक सुनसान, एक सन्नाटा। वह मेरे भीतर था या बाहर? लोगों के बीच रहते हुए भी लोगों के बीच न रहता। एक ख़ालीपन, एक डर... मैं क्या करूँ, मुझे क्या करना चाहिए - इसकी उधेड़बुन। तो मैंने अपने अकेलेपन को अपने को आगे बढ़ाने में इस्तेमाल किया। जब भी मैं भयावह अवसाद में होता, भीतर ही भीतर मैं मृत्यु से लड़ता होता। ऐसा अनेक बार हुआ है। घर के लोग नहीं समझते थे। घर के लोगों की हुक्म-उदूली हुई। वे अकेलेपन के बारे में शायद नहीं जानते थे। मेरे पिता जानते थे। वही इस छुतहे रोग को हमारे परिवार में लाये। क्योंकि वे बहुत सोचते थे, इसलिए जल्दी मर गये। वे चुपचाप मचान पर खेत में बैठे रहते, जब मैं मक्के के पौधों के बीच से खुर-खुर करता उनका खाना लेकर पहुँचता। वे भोजन को वितृष्णा की नज़र से देखते, जैसे ज़हर हो। फिर खाने लगते। उनका ख़ूबसूरत, गोरा, लम्बा चेहरा अब राख-रंग का हड़ीला ढाँचा भर रह गया था। कभी-कभी मेरी आँखें मिल जातीं तो वे मुझे ऐसे देखते जैसे मुझ पर तरस खा रहे हों। मैं मचान की दूसरी सीढ़ी पर खड़ा रहता। वे दूसरी ओर झाँप हटाकर मुँह धोते और थाली-लोटा मुझे पकड़ा देते। मैं फिर खेतों की हरियाली में गुम हो जाता और घर लौटता।... लेकिन मेरा अकेलापन उनकी तरह नहीं है। मैं अकेलेपन में बहुत हल्ला करता हूँ - अन्दर-बाहर। मैं बन्धन स्वीकार नहीं कर सकता। मैं हर जाल को छटपटाकर तोड़ देता हूँ। मेरे पिता ऐसा क्यों नहीं कर पाये? शायद, वे इस दुनिया का हश्र मुझसे बेहतर जानते थे। शायद वे अपने सन्नाटे में ज़्यादा समझदार थे। शमशेर की एक कविता पंक्ति उनके लिए अक्सर याद आती है -

'मैं समय की एक लम्बी आह
(मौन लम्बी आह)'

क्या वे ऐसे ही थे? होंगे। लेकिन मुझे हमेशा यह लगता रहा कि मैं जो खुर-खुर करता, मकई के पौधों को इधर-उधर हटाता उनकी मचान तक पहुँचता हूँ, वह शोर भी उन्हें नहीं सुहाता। झरझराती हुई हवा से भी जैसे वे 'डिस्टर्ब' होते थे। सफ़ेद बरसात, जो क्षितिज से चलकर हमारे खेतों तक पहुँचती, उसका सुहानापन, उसकी आवाज़ भी उनके भीतर चिढ़ पैदा करती। अपने अन्तिम दिनों में तब तक वे घर नहीं गये, जब तक अपाहिज नहीं हो गये। जब उनमें बोलने की भी शक्ति नहीं रह गयी। जब वे सिर्फ़ फुसफुसा सकते थे। तब बुढ़िया गयी और उन्हें मचान से उतार कर एक घटिया पर लादकर घर लाया गया। फिर जाड़ों में वे आँगन

में धूप में लेटे रहते और हममें से कोई नहीं जानता, उन्हें कौन-सा रोग था?

सिर्फ़ मैं जानता हूँ।

उन्हें अकेलेपन का रोग था।

उन्हें इस दुनिया में एकाएक रुचि ख़त्म हो गयी थी।

और फिर वह कभी नहीं लौटी।

लेकिन मेरे घर वाले भी उनके बारे में कभी जान नहीं पाये।

वे डर गये, जब मैं भी अपने पिता की तरह चुप रहने लगा। जब मुझे सिवान के वीरानों में भटकने की आदत पड़ गयी। जब खँडहर और एकान्त और हरे-भरे खेतों के बीच में गड़े हुए मचान मुझे अच्छे लगने लगे। वे लोग मुझसे भी निराश हुए, मुझसे सभी तरह की आशाएँ छोड़ दीं, यह कहा जाय तो ज़्यादा ठीक होगा। मुझे लेकर उनके छोटे-छोटे पवित्र किस्म के उद्देश्य थे। कहीं प्राइमरी स्कूल में मास्टर या नगरपालिका में क्लर्क, जहाँ मेरे एक मोटे-ताज़े रिश्तेदार फ़ौजदार सिंह काम करते थे। वे मुझसे वही सब चाहते थे -एक घर, एक परिवार। और वहीं पर - उसी विशाल बरगद की छाया में। एक बैसखट। एक ओसारा। एक दालान। एक हड़बड़ी। एक सावन। वहीं, जहाँ सदियों से रहता आया परिवार। वही जगह, वही लोग, वही दोस्तियाँ और वही दुश्मनियाँ। उन्होंने इसी शैली में मुझे दीक्षित करना शुरू किया - वहीं मर-खप जाने के लिए। बस, यही तो।

तभी मैं एक भटके से सब कुछ तोड़ताड़ कर भाग निकला। मेरा एकान्त बहुत बलवान था। अत्यधिक डर और ख़तरे ने मुझे दुस्साहसी बनाया। उसमें कुछ भी हो सकता था। लेकिन अकेलेपन ने, मेरे एकान्त ने मुझे दुनिया के प्रति आस्थावान बनाया, आगे बढ़ने के लिए उकसाया, मजबूर किया, बलशाली बनाया। इसमें कई बार मैं गिरा-पड़ा, क्षत-विक्षत हुआ, अपमान, ज़लालत और दुर्व्यवस्थाएँ झेलीं। मरते-मरते बचा। लेकिन अकेलेपन, एकान्त और अवसाद ने मुझे हमेशा चुनौती दी। जैसे डूबता हुआ आदमी हमेशा अपनी नाक पानी के बाहर लाना चाहता है कि वह साँस ले सके, उसी तरह हर घबराहट, असफलता और अवसाद ने मुझे गहरे तल से निकालकर जीवन और कर्मठता की ओर अग्रसर किया। हर बार डूबते-डूबते एकाएक मैं बाहर आया और भाग निकला।

इसी में, न जाने कब लिखना शुरु हुआ। यह एक नया खेल था, जिसे मेरे परिवार में अभी तक किसी ने भी नहीं खेला था। शुरु-शुरु में यह एक कठिन आत्म-मनोरंजन की तरह शुरु हुआ। सबको मात देने और पछाड़ने में ही मैंने एक विचित्र तरह की निजता लिखने में विकसित की। मेरे साथ के लोग जो कर रहे हैं, जैसे वे हैं - वैसा मैं नहीं हूँ, और वैसा मैं नहीं करूँगा। मैं अपने पिता की एकांत निजता ग्रहण करूँगा और सबसे अलग, सबसे निराले ढंग से इस खेल को खेलूँगा। जहाँ मैं हूँ, वहाँ कोई नहीं होगा। फ़न और फैशन को देखते ही मैं भागकर मचान पर चढ़ जाऊँगा और झांपी से अपने को ढाँप लूंगा। मैं मृत्यु का खेल खेलूँगा, चुप का, एकान्त का, इस दुनिया के हश्र का। मैं पकड़ में नहीं आऊँगा और जो जीवन मिला है उसे लिखने में सर्फ़ कर दूँगा। मेरे इस अकेलेपन के खेल को दूसरों के लिए समझना मुश्किल है। मैं अपने पिता के एकान्त में अरक्षित, निराकार, भेद्य और वध्य हूँ। मुझे क़त्ल करना चाहते हो तो प्रस्तुत हूँ।

आओ। लेकिन हो सकता है, हर बार की तरह मैं फिर भाग निकलूँ।

शुक्ल जी (22.6.1984)

अपने 'इतिहास' में शुक्ल जी गोरखनाथ के लिए 'जोगियों की इस हिन्दू शाखा ने' जैसे वाक्य-पद का प्रयोग करते हैं। चौरासी सिद्धों में एक गोरक्षपा (गोरखनाथ) भी थे। उन्होंने अलग सम्प्रदाय (नाथ संप्रदाय) की स्थापना की, जिसका आधार ईश्वरवाद है। सिद्ध क्योंकि अनीश्वरवादी थे, वज्रयानी थे, बुनियादी तौर पर बौद्ध थे, इसलिए ईश्वरवाद की स्थापना करने वाले गोरखनाथ 'हिन्दू' हुए। अनीश्वरवादी थे तब तक हिन्दू नहीं थे। यानी हिन्दू होने के लिए ईश्वरवादी होना अनिवार्य है। शुक्ल जी जब 'जोगियों की इस हिन्दू शाखा ने' पद का इस्तेमाल करते हैं तो उनकी कहन में एक अतिरिक्त गर्व झलकता है। जैसे हिन्दू होना कोई महान होना हो, जैसे हिन्दू नास्तिक नहीं हो सकता। हिन्दू है तो ईश्वरवादी होगा या ईश्वरवादी है तो हिन्दू होगा - इसका क्या मतलब? इसका मतलब कि ईसाई और मुसलमान भी हिन्दू ही होंगे। अगर तर्क से आगे बढ़ें तो यह कथन कहाँ ले जाता है? ...एक निखालिस हिन्दुत्ववाद की तरफ़ और शुक्ल जी के इतिहास में ऐसे संकेत भरे पड़े हैं।

फिर दूसरी बात यह कि सिद्धों में वामाचार प्रचलित था। तो 'जोगियों की इस हिन्दू शाखा ने' कहकर शुक्ल जी प्रकान्तर से यह कहना चाहते हैं कि हिन्दू बड़ा नैतिक और चरित्रवान होता है। वह वामाचार और पंचमकारों की साधना में कभी लिप्त नहीं होगा। तब यह अपहरण, बलात्कार, दारूबाजी, वेश्यागमन, औरतों की ख़रीद-फ़रोख़्त, उनका अपमान, उनका शोषण, उनको फूँकना-तापना, उनको नष्ट करने में कौन संलग्न है? क्या वे सारे अहिन्दू हैं?

दरअसल शुक्ल जी घनघोर रूप से शुद्धतावादी और चरित्रवादी हैं। वे हिन्दुत्ववाद से मोहग्रस्त हैं। वे साम्प्रदायिक और पुनर्उत्थानवादी हैं - अक्सर।

कॉफ़ी हाउस (28.7.1986)

किस तुफ़ैल में मैं कॉफ़ी हाउस जाने लगा? पहली बार धर्मवीर भारती अपने साथ ले गये। तब वे मेरे टीचर थे यूनिवर्सिटी में। उन्होंने विभागीय पत्रिका 'कौमुदी' में मेरी पहली कहानी 'चौकोर छायाचित्र' छापी थी। आज उसे याद करने पर याद करने का मन नहीं होता। निहायत बचकानी कहानी थी। लेकिन उसके छपने पर मुझे भी कुछ-कुछ लेखक होने की अनुभूति हुई। यह अनुभूति संसार में सर्वोपरि है। तो भारती जी मुझे अपने साथ कॉफ़ी हाउस ले गये। वहाँ एक जबर्दस्त जमावड़े में वे मुझे साथ लेकर बैठे। बहस एक शोर और एक दूसरे की खिंचाई में तब्दील हो रही थी। मुझ अजनबी लौंडे के साथ देखकर लोग थोड़ा थमे।

'तुम्हारी यह आदत पुरानी है।' एक साँवले आदमी ने भारती पर फ़ब्ती कसी।

''कर्मवीर' तक ऐसे ही नहीं पहुँचे तुम।' उस आदमी को चैन नहीं पड़ रहा था।

बाकी लोगों ने उन महानुभाव की बात पर ध्यान नहीं दिया।

'रहने दो मुंशी, तुम व्यंग लेखक कभी नहीं हो सकते।' भारती ने कहा।

मुझे इन सारी बातों का अर्थ तब समझ में नहीं आया। बाद में लगा, यह एक फूहड़ मज़ाक है।

एक आदमी, जो धोती-कुर्ता पहने हुए चुरुट पी रहा था,उसने बारीक निगाहों से मुझे देखा। भारती ने परिचय की कोई ज़रूरत नहीं समझी। शायद इसका वहाँ चलन भी नहीं था। फिर लोग मशगूल हो गये।

बातें थीं और बातों की काट थी। लेकिन भारती गम्भीर बहसों में लिप्त लोगों की सिर्फ़ खिंचाई कर रहे थे। यह जानबूझकर मज़े के लिए था, या सचमुच उन बहसों को विसंगति में बदल देना भारती का तरीका है। बहस के बीच में उन्होंने अपने एक अनुपस्थित मित्र के लिए अचानक ही कहा कि, 'इन्टरनेशनल बोरा आज नहीं आये?' इस पर खूब हा-हा ही-ही हुई। ...तो जैसे हम साहित्य के लतियल हुए, भूख और बीमारी और प्रेम और वात्सल्य के लतियल हुए, जैसे अकेलेपन ने बार-बार मेरा गला दबोचना शुरू किया, वैसे ही हम कॉफ़ी हाउस में भी लतियल हुए। वे सारे लोग मित्र नहीं थे, हमसफ़र नहीं थे। विचारों और बातों में उनसे कोई तालमेल नहीं बैठता था। फिर भी शाम होते ही उनके बिना चैन नहीं पड़ता था। जीवन की सार्थकता, बस वहाँ तक पहुँचने में थी।

फिर यकायक सब कुछ बदल गया। पढ़ाई ख़त्म हो गयी और हम बेकारी की गिरफ़्त में आ गये। उन बहसों, मज़ाकों, निर्दोष खिंचाइयों में शामिल होने से घबराहट होने लगी। अब जीने का तरीका आवाराग़र्दी हो गयी। निरर्थकता जीवन का पर्याय बन गयी। हम भूखे पेट प्रेम करने लगे। हमने जीने-मरने की ठान ली। अन्धी संध्याएं और उजली रातें। बारिशों में जमुना के पुल पर भीगते हुए सैर। अब दोस्त बदल गये, मजलिस बदल गयी। अब हम कुछ निहंग-आवारे थे, जिनका जीवन काटे नहीं कटता था। अब उन्हीं के साथ कॉफ़ी-हाउस जाना होता। जीनियस और उदार और ख़ुदगर्ज़ और लम्पट और पढ़ाकू। हमारी बहसें उन पुरानी मजलिस की बहसों से ज़्यादा तेज़-तर्रार, ज़्यादा आधुनिक, ज़्यादा गम्भीर और ज़्यादा जीवन्त होतीं। साहित्य हमारे लिए 'बाय-प्रॉडक्ट' न रहकर जीने मरने का सवाल बन गया। क्यों बन गया? क्यों? क्या इसी तरह जीवन नष्ट करने के लिए? लेकिन किसी तरह जीवन नष्ट करने से, इसी तरह जीवन नष्ट करने में हर्ज क्या है!... तो कॉफ़ी हाउस जाने वालों का यह दूसरा 'ग्रुप' तैयार हुआ। उस 'ग्रुप' और इस 'ग्रुप' में एक बुनियादी फ़र्क था। पहले 'ग्रुप' के लोग सिर्फ़ अपनी 'कॉफ़ी' का पैसा चुकाते। यह नियम था और आश्चर्यजनक गंदी कंजूसी का नियम था। हमारे इस दूसरे 'ग्रुप' ने इस रवायत को कभी नहीं अपनाया। यहाँ कोई एक ही आदमी सबका 'बिल' चुकाता। और 'बिल' चुकाने के पैसे अक्सर किसी केपास नहीं होते या किसी एक ही के पास होते। अगर कइयों की जेब खनक रही होती, तब भी 'बिल' कोई एक ही आदमी चुकाता। अक्सर जब पैसे किसी के पास नहीं होते तो हम मियाँ के ढाबे पर उधारी चलाते। मियाँ को उम्मीद थी कि एक दिन ये सारे नौजवान पैसे अदा करने लायक हो जायेंगे और वे तब तक ज़िन्दा रहेंगे।

लेकिन ऐसे ही में एक दिन घपला हो गया। जून की भरी दोपहरी में हम दो जने चप्पल चटकाते हुए थके-माँदे, भूखे-प्यासे, हाँफ़ते कॉफ़ी-हाउस पहुंचे। हम दोनों की जेबें ख़ाली थीं और दोनों को जवानी के दिनों वाली भूख लगी थी। इलाहाबाद कॉफ़ी हाउस का चलन है कि चाहे आप कुछ न खायें, बैरा दिन भर आपको ठण्डा पानी पिलाता रहेगा। तब तक, जब तक कि कॉफ़ी हाउस बन्द न हो जाय। और कॉफ़ी हाउस तो शाम आठ बजे बन्द होता था। और अभी भरी दोपहरी थी, और पेट में चूहे कूद रहे थे। बैरा जब पानी के गिलास रखकर मुख़ातिब हुआ तो मेरे मित्र ने बड़ी अदा और शाहाना तरीके से उसे ऑर्डर दिया:

'दो जगह दो-दो अंडे का हॉफ़-फ्राई, टोस्ट पर, और एक प्लेट टोस्ट अलग से, और बाद में दो कप हॉट-मिक्सड कॉफ़ी विद क्रीम।'

मैं डर के मारे भकुआया हुआ उसे देखता रहा। उसने मेरे देखने का नोटिस नहीं लिया, और जब बैरा चला गया तो मेज़ पर तबला बजाने लगा।

'क्या कर रहे हो?' मैंने फुसफुसाकर कहा।

वह धीरोद्धत नायक की तरह कुटिल ढंग से मुस्कराता रहा।

प्लेटें सज गयीं। ब्रेड पर रखे हुए हॉफ़-फ्राई और टोस्ट। ठण्डे पानी के गिलास फिर से।

'कॉफ़ी बाद में लाना।' उसने बेरे से कहा और अपनी प्लेट पर टूट पड़ा।

'मुँह क्या ताक रहे हो, हाथ साफ़ करो।' उसने जैसे फटकार लगायी।

मैंने सोचा, वह झूठ बोल रहा था। इसकी जेब भरी होगी। तभी वह इतनी निश्चिंतता और इतने ठाट से मुझे खाने के लिए ललकार रहा है। मैंने खाना शुरू किया।

'तुम्हें हॉफ़-फ्राई खाने का सलीका नहीं आता। सारी ज़र्दी फैला देते हो और फिर प्लेट चाटते हो।' उसने कहा, 'मुझे देखो।'

मैंने देखा। वह बड़ी बारीकी से अंडे की सफ़ेदी चारों ओर से काट-काट कर खाता रहा और फिर ज़र्दी के गोल टुकड़े और उसके नीचे कटे हुए गोल टोस्ट को काँटे पर उठाकर मुँह में गपक जाता। उसका मुँह गुब्बारे की तरह फूल जाता, लेकिन क्या मजाल की ज़र्दी की एक बूँद भी ज़ाया हुई हो।

खाने के बाद वह कॉफ़ी सुड़कता हुआ बार-बार बाहर देख रहा था। बाहर दोपहर की चौंध थी और लू के सपाटे थे। उसने कॉफ़ी बड़े आराम से धीरे-धीरे पी, जैसे उसके होंठ जल रहे हों। पी लेने के बाद वह मेरी ओर झुका।

'मैं पहले निकलता हूँ।' उसने कहा।

'और मैं?' उसकी इस हरकत से मेरी धड़कन बढ़ गयी।

'जब हमारा वाला बैरा किचेन में जाये तो तुम भी...।' उसने चुटकी बजायी।

'देखो...!' मैं घबराहट में बुदबुदाया।

'कायर!' वह उठ खड़ा हुआ।

'हे्-हे्!' मेरे मुँह से निकला।

'मैं चर्च के पास तुम्हारा इन्तज़ार करूँगा।' कहता हुआ वह यों निकला, जैसे पान खाने जा रहा हो।

थोड़ी देर इंतज़ार के बाद हमारा बैरा ज्योंही किचेन में गया, मैं झपाटे से बाहर आया और चर्च की ओर मुड़ गया।

उसके बाद हम बहुत दिनों तक कॉफ़ी हाउस नहीं गये, मियाँ के ढाबे पर डींग हॉकते रहे। फिर एक दिन वह ख़ुश-ख़ुश मेरे कमरे पर आया और बोला, 'एक ख़ुश ख़बरी है।'

मैं उसे चुपचाप देखता रहा।

'उस बैरे का तबादला हो गया है।' उसने कहा।

* * *

वर्षों बाद। शायद, 79-80 की बात होगी। मैं शिमला में मॉल पर चहलकदमी कर रहा था। मैं चिकना-चुपड़ा हो गया था। मेरी पत्नी और बच्चे थे। मेरे पास नौकरी थी। मेरी ज़ुल्फ़ें काली और भरी-भरी थीं। मैं क्लीन-शेव्ड था। मेरे पास एक बढ़िया ओवरकोट था। मेरे एक दोस्त गुप्ता जी थे जो मॉल के पाल ही ओअर कैथू में रहते थे। हम उन्हीं के यहाँ डेरा जमाते। उस दिन अकेले ही मैं मॉल पर था। टहलते हुए ढाल

से मैं समरहिल की ओर चल पड़ा। वहाँ मेरे मित्र विजयमोहन सिंह रहते थे। ढाल शुरू होते ही बाँयें हाथ कॉफ़ी हाउस पड़ता था। वहीं जहाँ बाज़ार से आती सड़क का तिकोना पड़ता था। तब वहीं कॉफी-हाउस था। अब है या नहीं, पता नहीं। कॉफ़ी हाउस के प्रवेश द्वार के बाहर फाटक में लगा वही बैरा थाली लिये खड़ा था। उसने मुझे आवाज़ दी। एक आह्लाद में डूबी हुई आवाज़। मैंने उसे झेंपते हुए देखा। वह मेरे पास चला आया। वह इतना ख़ुश, इतना गद्गद्, जैसे लगता था उसका कोई हमवतन मिल गया हो। इलाहाबाद के बारे में सवालों की बौझारें। हालाँकि वह मलयाली था। मैंने उससे पूछा कि वह इलाहाबाद से इधर कब आया। उसने उदास-उदास कुछ बताया। उसका मन इलाहाबाद में ही रमा हुआ था। वह बहुत सारे लोगों के बारे में पूछता रहा। 'और वो मुंशी जी, और मास्टर लोग, और सम्पादक जी (जितेन्द्र सिंह) और आपके साथी... वो जो बहुत मसखरी करते थे।... यहां बहुत ठण्डा पड़ता है - उसने कहा। उसने मुझे अन्दर चलकर बैठने और कुछ खाने-पीने का आग्रह किया। मैंने मना कर दिया।' 'क्या करें, पेट है साहब, इधर आना पड़ा। बाल बच्चे घर पर हैं। इलाहाबाद में रखता था। आप भले हैं साहब?' मैंने 'हाँ' में सिर हिलाया।

फिर मैं उसे अनमना छोड़कर चल दिया।

'आइएगा साहब, बच्चों को लेकर।' उसने ज़ोर से कहा।

कैसी अच्छी दुनिया है! - मैंने सोचा।

* * *

हत्यारे (29.8.2003)

उस दिन रामजी राय सपत्नीक मुझे देखने पधारे। यहाँ होंगे और उन्हें पता चला होगा। उनका संगठन मेरे जीने-मरने पर गहरी नज़र रखता है, और ज़रा-सी फाँक मिली नहीं कि हमला बोलने को तैयार। वहाँ हर आदमी प्रतिबद्ध है और हर आदमी एक ख़मीर है। वे क्रांति और कामिनियों के लिए भरी दोपहरी में निकलते हैं। भैरव प्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा था कि वे 'सी.आई.ए. के एजेण्ट' हैं। अधिकांश किसी न किसी एन.जी.ओ. से सम्बद्ध। रामजी राय नहीं होंगे, वे थोड़े ईमानदार आदमी हैं। हम जानते हैं कि इस देश के नब्बे प्रतिशत एन.जी.ओ.ज़ अमेरिकन फंडिंग पर चल रहे हैं। वे दैन्य से शुरू करके चुपड़े और घिसे हुए, निश्चिन्त और बेहया बन जाते हैं। वे सजे-सँवरे, क्रीम से पुते, धूप और वर्षा से बचते, दवाओं की पोटली बैग में रखे, तम्बू, मोटर साइकिल, जीप और विचारों से लैस, भूखी, नंगी जनता के बीच में घूमते रहते हैं। वे हमारे देश की गलित-विगलित प्रजातांत्रिक प्रणाली को नष्ट करके इसे एक राजनीति-विहीन देश में परिवर्तित कर देना चाहते हैं। वे एक बहुत बड़ी साम्राज्यवादी साजिश के अंग हैं। संवेदनशील राजनैतिक दिमाग से देश की जनता को भटकाने और संभ्रमित करने का चौचक उद्योग और 'पैकेज' है। ये सारे लोग पश्चिमी दुनिया के दलाल हैं। दरअसल ये, वे देशद्रोही हैं, जो जनता को दूसरी गुलामी की ओर धकेलने में मदद कर रहे हैं। इनके पास बड़े-बड़े नारे हैं, नाम है, चे गुएरा की कमीज़ें और फ़िदेल के जूते हैं।

ऐसे ही लोगों ने मेरी बीमारी की ख़बर रामजी राय को दी थी। हवा में एक बू की तरह यह ख़बर फैली। बड़े चिन्तित और दुखी और उदास थे लोग, और मेरे मरने की ख़बर सुनने को लालायित। चौकन्ने। तो रामजी राय ने उन ख़बरों में से चुनाव किया। बाक़ायदा विश्लेषण निष्कर्ष। वे निष्कर्ष भौंचक्के करने वाले थे। उन्होंने या उन लोगों ने, जैसा कि रामजी राय ने बताया, बड़ी ही सुन्दर, लुभावनी व्याख्या की। उन्होंने मेरी बीमारी को तत्सत पाण्डे के विक्षेप से जोड़कर देखा। उन्होंने उपन्यास का रहस्य जान लिया और प्रस्तुत हो

गये। भर्ती मैं 'नाज़रेथ' में था और मेरी 'डायग्नोसिस' काशीनाथ सिंह और रवीन्द्र कालिया आपस में फ़ोन पर कर रहे थे। भोपाल में 'लेखक से मिलिये' मीटिंग थी। मुझे भी जाना था। लेकिन गये हमारे जिगरी दोस्त लोग। और फिर भोपाल में दुख-भरी फुसफुसाहट। अजय सिंह ने पटना में 'शायद' लगातार लोगों से बताया कि मेरा दिमाग ठीक नहीं है। रामजी राय को बताया। मैं लखनऊ में था और फ़ोन भोपाल से, पटना से, इन्दौर, उज्जैन और राँची से। दिल्ली से। सहानुभूति और चिन्ता के फ़ोन। दबी हुई किलक के फ़ोन। हिन्दी-समाज कितना अच्छा है कि वह एक आदमी के मरने की राह उत्सुकतापूर्वक देख रहा है, और गले में चिन्ता है, दु:ख है, हाय-हाय है, गुस्सा है, ज़लालत को गेंद की तरह उछालती हुई, उल्लुओं की तरह बाहर को निकली हुई आँखें हैं। भाई रामजी राय, उपन्यास तो मैंने सन् 1996 में लिखना शुरू किया। मेरे विक्षेप की ख़बर आपको इतने दिनों बाद लगी? रामजी राय ने मेरी तुलना गोरख पाण्डे से की। फिर उन्होंने दिमाग़ की नस फटने का ब्यौरा पेश करना शुरू किया। उसकी बारीकियाँ बताने लगे जिसका मतलब यह था कि निश्चिन्त मत होइए, आपकी किसी भीतरी नस में हल्का-सा जमाव होगा। होता है और लोग अक्सर कुछ दिनों के लिए बचे रहते हैं। जैसे वे पटना मेडिकल कॉलेज के डॉ. साही हों, सी.पी.एम.एल. के रामजी राय नहीं। वे एक विद्वान चिकित्सक की तरह विवरण पेश कर रहे थे और हँस रहे थे। काशीनाथ सिंह रिश्तेदार मेरे हैं और पल-पल की ख़बर रवीन्द्र कालिया से ले रहे थे। लख़नऊ से लौटने के बाद एक दिन मैंने उनको फ़ोन किया।

'किसने तुमको यह ख़बर दी कि मेरे दिमाग़ की नस फट गयी है?' मैंने पूछा।

'वह दवा से ठीक हो जायेगा।' काशीनाथ सिंह ने फ़ोन पर हड़बड़ाये हुए कहा।

'भोपाल में शराब के गिलास पर यह बात किसने फैलायी?' मैंने फिर सवाल किया।

'वह दवा से ठीक हो जायेगा।' काशीनाथ सिंह का उत्तर था।

'तुमसे कालिया ने कहा?' मेरा सवाल।

'वह दवा से ठीक हो जायेगा।' काशीनाथ सिंह का जवाब।

'तुमने मुझे या मेरी पत्नी या अपनी लड़की को फ़ोन क्यों नहीं किया?' मेरा सवाल।

'वह दवा से ठीक हो जायेगा।' काशीनाथ सिंह का जवाब।

'नामवर जी का एक बार फ़ोन आया।' मैंने कहा।

'वह दवा से ठीक हो जायेगा।' काशीनाथ का सुचिन्तित उत्तर।

'तुम अजब आदमी हो यार!' मेरा कथन।

'वह दवा से ठीक हो जायेगा।' काशीनाथ सिंह ने फ़ोन पटक दिया।

जबकि फ़ोन मैंने किया था। काशीनाथ सिंह बहुत हिसाबी-किताबी आदमी हैं। दौरे करते हैं, बाज़ार में बैठे हैं, जजमान गढ़ते हैं। दिन भर में दो बार सोते हैं। सोचते कम हैं, लिखते ज़्यादा हैं। दिमाग़ में बसूला है, जो विचारों को पहले ही से छील-छाल देता है। गढ़ी हुई मूर्तियाँ निकलती हैं। कोई काटकूट, शंका, संकट, शून्य, अविश्वास अपने लिखे पर नहीं है। 'थुकरा महाराज' की गद्दी पर हैं। लेकिन गली में निशाना साध कर थूकते हैं। मजाल है कि कोई साला बच निकले और ऊपर नैनगिलाफ़ के नये कुर्ते की माँग करता हुआ आ जाये।

'अपना रास्ता लो बाबा!'

हो सकता है मेरे प्यारे-दुलारे दोस्तो, हो सकता है। कुछ भी हो सकता है। हो सकता है कि तुम ज़्यादा सही हो। क्योंकि तुम ज्ञानी हो, अमर हो। हो सकता है कि तुम्हारी 'डायग्नोसिस' ठीक हो। मैं तैयार हूँ और दीवार की ओर मुँह करके लेटा हूँ। वह लड़का, जो मेरी पीठ को यह ख़बर दे रहा है कि वे तुम्हें ढूँढ़ रहे हैं, वह सच बोल रहा है। लेकिन इस बार मैं भाग नहीं सकता। तुमने भागने के सारे रास्तों पर अपने आदमी तैनात कर दिये हैं। और तुम्हारे पास तर्कों-अफ़वाहों से लेकर व्यवस्था और सत्ता तक के पैने हथियार हैं। मैं आदमी हूँ और तुम मुझे आसानी से मार सकते हो।

मैं मरने के लिए क्षमा नहीं माँग सकता।

मैं ज़िन्दा रहने के लिए क्षमा माँगता हूँ।

वे स्त्रियाँ (18.6.1996)

अब मेरी समझ में आता है। हमारे गाँव-देहात की औरतें जहाँ मिल जातीं, बतकड़ी में गुम। उनकी बातें कभी ख़त्म होने को ही नहीं आती थीं। हम लोग बच्चे थे तो उनकी निरर्थक बातों से बहुत हैरान-परेशान होते थे। ऐसे में कोई बच्चा दख़लअंदाज़ी करता, या अपनी किसी ज़िद पर अड़ा हुआ अड़ंगे डालता तो वह अचानक पिट भी जाता। अँधेरा होने पर वे दिसा-मैदान के लिए बाहर निकलतीं। मेरे घर के पिछवारे काफी दूर तक बँसवारियों का जंगल था और उसके आगे छोटी-सी, प्यारी-सी मंगई नदी। उसके ऊबड़-खाबड़ खिरे हुए अरार थे। दिसा-फ़रागत के लिए वे उन्हीं ढँकी-छिपी जगहों का इस्तेमाल करतीं, और वह भी अँधेरा हो जाने पर। वे वहाँ भी काँट-कुस हटाती हुई, गोला बनाकर बैठतीं, और एक दूसरे से कचर-कचर बतियाती रहतीं। अन्तहीन बातों के सिलसिले। दिसा-फ़रागत में वक्त कम लगता, लेकिन वे अपनी बातें चालू रखने के लिए बैठी रहतीं-बैठी रहतीं। वहीं वे दुनिया भर की ख़ुराफ़ातें जोड़तीं - चुगली, सेक्स-रस, एक-दूसरे के मर्दों के किस्से, अपने दुख,अपनी समस्याएँ, अपनी नियति-गाथाएँ। क्यों? क्यों ऐसा होता कि वे टट्टी के वक्त का इस्तेमाल जीने और थोड़ा-बहुत मनोरंजन (जो सम्भव था) के लिए करतीं? क्योंकि और कोई जगह नहीं थी। न समाज। न खुलापन। न स्वतंत्रता। एक भयानक अनजाने-अदेखे दमन में हमारे सवर्ण वर्ग की गँवई औरतें रहती थीं। उनकी साँस घुटती रहती थी,और वे जीने और बचने के लिए अँधेरा होते ही, बाहर बँसवारियों के जंगल या नदी के खँडहरों में भागती थीं। जैसे वे शाम के अँधेरे का दिन भर इन्तज़ार करती रहतीं। वह 'गुहथरि' उनके लिए खुलकर साँस लेने की जगह होती। तब हमारे इलाके के गाँवों में शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं थी। आज भी - आज़ादी के पचास बरस बाद भी स्थिति लगभग वैसी ही है। प्रगति सिर्फ़ कागज़ों पर है। खाना-पीना, लूट-मार, कतल-बलात्कार, अपहरण हज़ार गुना बढ़ गये हैं। मान लो मर्दों के लिए शौच की व्यवस्था का न होना कोई दिक़्क़त नहीं पैदा करता, लेकिन औरतों के लिए? वे आज भी शाम के घिरते अँधेरे का इंतज़ार करती हुई, बंद घरों में बैठी हैं। और यहाँ स्त्री-विमर्श है। पश्चिम में है तो यहाँ क्यों नहीं होगा! वे घरों में अपना पेट दबाये बैठी हुई हैं और यहाँ स्त्री-विमर्श है। हाँका है, हाँका। शायद शिकार खेलने के लिए। एक बार बचपन में मैंने अपनी माँ से पूछ लिया कि 'क्या तुम लोगों को दिन में टट्टी नहीं लगती?' तो मैं पिट गया था।

लेकिन इतना ही नहीं था, अँधेरे के इंतज़ार में जीने और अपने को व्यक्त करने की अट्टू व्याकुलता भी थी। घर में सासें और विधवा ननदें, या बुआएँ या अपना जीवन निबटाये हुए बुढ़ियाँ होतीं। उनके सामने

हँसना-मुस्कुराना, ठिठोलीबाज़ी, या दूसरी हमसिन औरतों को पिछले दरवाज़े से घर में बुलाकर, या उनके घर जाकर हँसी-ठट्टा या मसखरी करना, मस्ती लेना निषिद्ध था। कोई बहू अपनी सास या अजिया सास के आगे मस्तमारी करे, यह अकल्पनीय था। - तो फिर एक ही जगह बचती थी - बँसवारियों के जंगल, नदी के अरार और बढ़ती हुई शाम का अँधेरा।

यही उनके सुरक्षा-कवच थे, जिनसे वे पुश्त-दर-पुश्त बची रहीं।

एक माँ (26.6.2002)

जब वे घनघोर रूप से बीमार पड़ीं तो उनका वह बेटा, जो उन्हें बचाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता - वह मुम्बई में एक कान्फ्रेन्स में था। वे शहर से दूर अपने गाँव में पड़ी थीं। उनके कई और बेटे थे, उनके पति थे। उनके पति साथ जाते यह पति को ही अजीब लग रहा था। वे एक शर्मीले किस्म के सरल-साधु पुरुष थे...किसान, जिनके लिये शायद अपनी स्त्री के साथ जाना दाम्पत्य का एक लज्जाजनक पहलू था। कोई भी और चला जा सकता था लेकिन वे कैसे जाते? उनके बड़े-बड़े बेटे क्या सोचते? शायद इसमें मर्यादा का सवाल था जिसे मैं समझ सकता हूँ। गाँवों में, पुराने वक्तों में दाम्पत्य सम्बन्ध ऐसे ही होते थे। हमारी एक पड़ोस की दादी के बारे में यह मज़ाक चलता था कि उन्होंने अपने पति का चेहरा कभी नहीं देखा। वे बुढ़ापे में झुकी हुई, ठेंगुरी लेकर चलती थीं, तब भी हाथ भर लम्बा घूँघट काढ़े रहती थीं।

बहरहाल... उनके पति शायद इसी पुराने संकोचवश साथ नहीं गये। बेटे क्यों नहीं गये, पता नहीं। जो बेटा सब कुछ कर सकता था, वह उस रात मुम्बई की एक कान्फ्रेन्स में था। ...वह वहाँ से चला। हवाई जहाज से, गाड़ी से, फिर टैक्सी से - धुर गँवई-देहात में। उनका एक दोस्त माँ को जीप में बिठाकर डेढ़ सौ किलोमीटर दूर, इलाहाबाद दवा कराने के लिए रात में रवाना हुआ। हार्ट-अटैक और ऊबड़-खाबड़, गड्ढों-भरी सड़क, और बरगद के जंगल का हत्यारा सुनसान, और वह चौड़ी-मज़बूत काठी वाली औरत, जो सिर्फ़ माँ थी। जो अपनी अनंत कर्मठता में खंडहर होती हुई ख़ुश रहती थी। जो भयावह ठण्ड में भी, सुबह-सुबह बिना नहाये चौके में नहीं जाती थी। सभी के लिए खाना पकाने में जो खुश होती थी। जो रुपया-पैसा, घी-दूध, अनाज दूसरों को देकर एक आध्यात्मिक आनंद अनुभव करती थी। जिसे कठोर दमा था लेकिन जो क्षण भर के लिए भी हारना नहीं जानती थी। मैंने उन्हें सिर्फ़ एक बार देखा था, जब वे दमे से बेहाल 'नाज़रेथ' में भर्ती थीं। जब मैं कमरे में गया तो वे सो रही थीं। अतः उनका साँवला, चौड़ा-चकला कर्मठ चेहरा मैंने देख लिया। बाद में उन्हें पता चला तो वे बहुत लज्जित हुईं। 'गुरु जी आये थे और तुम लोगों ने बताया नहीं', कुछ यह भाव था। तब वे उठकर बैठ जातीं और अपने चेहरे पर घूँघट कर लेतीं। वह कर्मठ और सीझा हुआ चेहरा, जो किसी भी बनावट से अलग प्रकृत, अकुंठित और सर्वस्व-सुन्दर था।

बहरहाल... तो उनके बेटे का वह दोस्त उन्हें जीप में लेकर जीवन की लम्बी यात्रा पर निकला। काश, कि उन्हें बचाया जा सकता। काश, कि ऐसी सारी माँओं को हमेशा के लिए बचाया जा सकता, जो अपनी अनन्त कर्मठता में खण्डहर होती हुई विनष्ट होती रहती हैं।

जीवन कितना क्षुद्र और अकृतज्ञ है!

वे सब (3.12.1998)

वे सभी सुखी और सम्पन्न थे। उन सभी के पास बँगले-फ्लैट्स, गाड़ी, डॉक्टर, बैंक-बैलेंस ए.टी.एम. कार्ड और बीमारियाँ थीं। वे सुबह की सैर को निकले थे और ख़ुश थे। उन सबके बेटे-बेटियाँ देश-विदेश में स्थापित होकर अपनी कूड़ा-कर्कट भरी समृद्ध ज़िन्दगी का आनंद ले रहे थे। वे उनकी कथा बाँचते और अपने विदेशी सैर-सपाटे का सुन्दर-बहुरंगी अनुभव एक दूसरे के सामने पेश करते हुए आगे बढ़ते जाते। उनके घरों में इण्टर-कॉम्ब थे और कोई भी अतिथि उनके यहाँ आता तो गेट-मैन पहले इण्टरकॉम्ब से पूछता और आदेश मिलने पर ही अन्दर जाने देता। ...जीवन के इस अन्तिम छोर पर वे अपनी पत्नियों के साथ अकेले रह गये थे।

'हमारी बीवियाँ कितनी अच्छी हैं।' एक ने चलते हुए कहा।

'वे अभी भी सुन्दर हैं।' किसी और ने कहा।

'हम सबकी बीवियाँ जवानी में कितनी सुन्दर थीं!' एक और बोला

'उन्होंने हमें ख़ुश रखा। हरदम ख़ुश रखा। उन्होंने हमारे बच्चों को पाल-पोस कर बड़ा किया। उन्होंने हमें भी पाला-पोसा। बिल्कुल बच्चों की तरह। सिवा इसके कि वे हमारी पत्नियाँ थीं, वे हमेशा माँएँ थीं। उन्होंने हमारे सारे गुनाह माफ़ किये, जो हमने वक्त-बेवक्त किये। हमारे धोख़े, हमारी बेवफ़ाई - सबको उन्होंने दरकिनार किया। हमने जो छुप-छुप के कुकर्म किये उनका भी उन्हें पता था। वे चाहे लाख दुख पायें, उन्होंने हम पर हमेशा रहम किया। उनका कोई जवाब नहीं, कोई जोड़ नहीं।... और अब, जब उनके जोड़ों में दर्द है तब भी वे हमारी सेवा से नहीं चूकती।' किसी बूढ़े ने लम्बा और भावुक वक्तव्य प्रस्तुत किया।

वे पार्क में पत्थर की बेंच पर गोलाई में बैठकर सुस्ताने लगे।

'जो आपने कहा, वह एक संयोग है।' एक बूढ़े ने कहा।

'संयोग नहीं, वो हमारा ज़माना ही ऐसा था।' उस बूढ़े ने कहा।

'लेकिन अच्छा था।' दूसरा बोला।

'उन्होंने तो हमारे हर गुनाह माफ़ किये?' किसी ने कहा।

'हाँआँ!' कई बूढ़े एक साथ बोले।

'लेकिन मान लीजिए, उनमें से कोई गुनाह करती... बेवफ़ा होती, तो आप लोग माफ़ करते?'

'सवाल ही नहीं उठता।' सभी बूढ़े एक साथ बोले।

ए.के. हंगल और नामवर सिंह का रोना (21.1.2004)

मैं होटल से टहलता हुआ 'भारत भवन' पहुँचा। मुक्तिबोध संगोष्ठी में वह शाम हंगल साहब के भाषण के लिए ख़ाली छोड़ दी गयी थी। मैं हॉल में दाख़िल हुआ तो हंगल साहब बोल रहे थे। किसी ने फुसफुसाकर कहा कि अभी-अभी शुरू किया है। कारंत जी ने 'भारत भवन' में जो रंगमंच निर्मित किया (करवाया) उसकी वास्तु कला कुछ अजीब है। मंच गड्ढे में है और दर्शक-दीर्घा सीढ़ियों की शक्ल में तीन

दिशाओं में ऊपर। नेपथ्य है या नहीं, मुझे मालूम नहीं। उस ओर मैं कभी गया नहीं। मंच के पीछे पर्दे हैं जिनके कोनों-अंतरों से निकलकर अभिनेता मंच पर आते-जाते हैं। मंच क्या है, गर्भ-गृह है – सपाट-चौकोर और विस्तृत। उनमें नाचने-दौड़ने से लेकर हिंसक युद्धों के मैदान जैसी जगह है – ख़ासकर तब, जब उसमें चौंधियाती हुई रोशनी बाँयें-दाँयें, ऊपर-नीचे और आगे-पीछे से पड़ती है। तो गर्भ-गृह की उस रोशनी में उस शाम दो आदमी। हंगल साहब एक पेडस्टल पर हाथ रखे, खड़े होकर बोल रहे थे और एक कुर्सी पर बैठे थे नामवरसिंह। उनके बगल में एक सोफ़ा पड़ा था, जो ख़ाली था। हंगल साहब सत्तासी साल की उम्र में खड़े होकर बोल रहे थे। – वही सधा हुआ, सहज, निर्विकार बातचीत का शिल्प। वे पाकिस्तान (बँटवारे के पहले का हिन्दुस्तान) में अपनी ट्रेड-यूनियन की सरगर्मियों और अपने जेल-जीवन के बारे में बता रहे थे। उनके सामने पाकिस्तान-सरकार का प्रस्ताव था कि अगर वे हिन्दुस्तान चले जायें तो उन्हें जेल से रिहा कर दिया जायेगा। हंगल साहब कह रहे थे, 'मैं क्यों जाऊँ? मैं अपने साथियों को छोड़कर क्यों जाऊँ? मैं अपना मुल्क छोड़कर नहीं जाता। मेरे ऊपर काम है, कितना काम है! मैं उन्हें धोख़ा नहीं दे सकता। मैं वहाँ भी मेम्बर (सी.पी.आई.) था जी! वहाँ भी इप्टा में था। तो वे मुझे हर छः महीने बाद जेल से बाहर लाते, और वहीं फाटक पर ही कोई दूसरी दफ़ा लगाकर फिर अन्दर कर देते। एक बार जब मैं बाहर आ रहा था जो सैय्यद सज्जाद ज़हीर और फ़ैज अहमद फ़ैज उसी वक्त जेल के भीतर लाये जा रहे थे – 'रावलपिंडी कान्सपिरेसीकेस' के सिलसिले में। तो सज्जाद ज़हीर ने मुझसे कहा, 'हंगल, तुम् हिन्दुस्तान चले जाओ, यहाँ कुछ नहीं हो सकता।' किसी नौजवान ने दर्शक दीर्घा से पूछा कि वह 'केस' क्या था? इस पर हंगल साहब हँसते हुए बोले, 'वह 'केस' कुछ नहीं था जी, ये सज्जाद ज़हीर और फ़ैज बैठे-बैठे पी रहे थे। कुछ ज़्यादा ही पी गये होंगे। तो कोई सियासी बात उठी होगी। वहाँ फ़ौज का एक कर्नल भी इन लोगों के साथ बैठा था। तो नशे की झोंक में सज्जाद ज़हीर ने कह दिया जी, 'ये क्या है लियाक़त-फ़ियाक़त अली! हम जब चाहें, इसका तख़्ता पलट देंगे।' तो वो कर्नल डर गया और उसने जाकर बता दिया। तो बन गया जी, 'रावलपिंडी कान्सपिरेसी केस'। तो ऐसी राजनीति थी, जिसमें हम थे। ट्रेड यूनियन में हमारा काम था। हम अपने साथियों को दग़ा देकर कैसे चले आते? हम नहीं आना चाहते थे। हमारा मुलुक था। लेकिन बँटवारा हो गया। एक देश में दो देश। और बन्ने भाई ने जेल में अन्दर जाते हुए कहा था, 'हंगल, तुम चले जाओ। देश बँट गया है।' मैं जेल से बाहर आया और अपनी पत्नी से कहा, हम यहाँ नहीं रह सकते जी! हम अपना घर-बार बेचकर बम्बई आये। यहाँ हमारे पास कोई काम नहीं था जी! सो हमने एक सिलाई मशीन खरीदी। हमने दर्जी का काम शुरू किया। तब का बम्बई आज का मुम्बई नहीं था जी। तब जगह थी, और शोर कम था, नहीं था, समन्दर था और जंगल थे। बम्बई में आकर भी मैंने 'इप्टा' में काम शुरू किया, वहाँ भी करता था। नाटक होने लगे। उन दिनों 'इप्टा' की धूम थी। तो मेरी 'एक्टिंग' कुछ फ़िल्म वालों ने देखी। उन्हें मेरा काम पसन्द आया और मुझे फ़िल्मों में काम मिलने लगा जी! ज़िन्दगी चल निकली।'

आपने फ़िल्मों में देखा होगा मुझे। ...मैं अभिनय नहीं करता, मैं अपना 'रोल' जीता हूँ। मैं निर्देशकों के कहे पर अक्सर ध्यान नहीं देता जी! हाँ-हूँ करता रहता हूँ लेकिन काम अपने ढंग से ही करता हूँ। ...जैसे वो कौन-सी फ़िल्म थी? उसमें मुझे अन्धे का काम मिला। मुझे, कोई चीज़ गिर गयी है, जिसे ढूँढ़ना है। तो मैंने क्या सोचा? मैंने सोचा कि मेरी आँखें खो गयी हैं और मैं उन्हें ढूँढ़ रहा हूँ, टटोल रहा हूँ। तो मैंने वैसे ही किया जी! इसी 'सॉइकॉलाजी' से किया। तो बाद में निर्देशक कहते हैं, 'हंगल साहब, आपने बहुत अच्छा किया।'

'ये जो आपने मुझे लेक्चर देने के लिए बुलाया है, तो अब मैं थोड़ा मशहूर-वशहूर हो गया हूँ।... तो एक प्रकाशक ने कहा, 'हंगल साहब, आप अपनी जीवनी लिख दीजिए, हम उसे छापना चाहते हैं – 'हंगल! हिज़ लाइफ़ एंड टाइम्स'। तो एक प्रेस कान्फ्रेंस बुलाई गयी और मैंने कहा, 'इसके लिए तो पहले मुझे अपने

वतन जाना पड़ेगा। वतन माने वहाँ, अब पाकिस्तान। फिर से देखना-सुनना पड़ेगा। अपनी 'मेमोरीज़' को 'रिवाइव' करना पड़ेगा। तभी मैं लिख सकता हूँ। मैं 'हाँ' कर दी जी।... और ये लो जी, दूसरे दिन जब ये 'वतन' वाली बात छपी तो हंगामा हो गया। बाला साहब ठाकरे का वक्तव्य आया, 'हंगल देशद्रोही है।' और मुझे फ़िल्मों में काम मिलना बन्द हो गया जी! सभी फ़िल्म वाले मुँह फेर कर बैठ गये जी! मैं विज़ा के लिए दौड़ता रहा, मुझे विज़ा मिलना मुश्किल हो गया।... मैं अभी भी बम्बई के एक कमरे के मकान में रहता हूँ जी! मैं लाखों-करोड़ों में नहीं खेलता। तो मेरी रोजी-रोटी बन्द। मेरी बीवी दवा के बिना मर गयी। मेरे लड़के की बीवी मर गयी। लेकिन मैंने हार नहीं मानी जी, मैं टूटकर गिरा नहीं। मैं कुछ-न-कुछ करता रहा। मैं पुराने खेवे का आदमी हूँ जी!'

'तो ऐसे ही में एक दिन औरंगाबाद हवाई-अड्डे पर मैं जहाज पकड़ने के लिए बैठा था। किसी ने कुछ काम-वाम दिया था। तो ये जो आजकल आपके लोकसभा के 'स्पीकर' हैं, मनोहर जोशी, तो ये भी वहाँ जहाज पकड़ने के लिए खड़े थे। जब जहाज चला तो जोशी जी मेरी बगल की 'सीट' पर आकर बैठ गये:

'कैसे हैं हंगल साहब?' जोशी जी ने पूछा।

'देख तो रहे हैं, जैसा हूँ।' मैंने कहा।

'तो आपको बाला साहब से मिलना चाहिए था न!' जोशी जी बोले।

मैं थोड़ी देर उन्हें देखता रहा, फिर मैंने कहा, 'लुक हियर मिस्टर जोशी, इफ़ बाला साहब ठाकरे इज़ समथिंग, मिस्टर ए.के. हंगल इज़ ऑलसो समथिंग। लेट् बाला साहब कम टू मी एंड टॉक् टू मी!'

पता नहीं, उसके बाद मनोहर जोशी ने उनसे क्या कहा, बाला साहब का वक्तव्य आया, 'हंगल का काम मुझे पसन्द है।'

'और, देखिये जी, फ़िल्म वाले मुझे फिर काम देने लगे।' हंगल साहब ने हँसते हुए कहा।

(हंगल साहब का यह वक्तव्य मैंने अपनी स्मृति में दर्ज किया। वस्तु में कोई हेरफेर नहीं, शब्दावली इधर-उधर हो सकती है। उसमें भी मैंने हंगल साहब की वक्तृत्व-कला के लहज़े को पकड़ने की कोशिश की है। उनके भाषण का 'टेप' 'कला परिषद' के पास अवश्य होगा।)

हंगल साहब जा कर अपनी कुर्सी पर बैठ गये। बैठने पर लगा कि उनकी पीठ और कमर में दर्द है। उनके चेहरे पर पीड़ा की छायाएं थीं लेकिन उनकी मानसिक ऊँचाई बहादुरी के आगे उस शारीरिक दर्द का क्या अर्थ था।

* * *

तब मुझे पता चला कि नामवर जी गोष्ठी के अध्यक्ष हैं। वे उठकर माइक पर आये। उनका चेहरा तमतमाया और भरभराया हुआ था। या शायद तेज़ रोशनी के कारण मुझे ऐसा महसूस हुआ। वे कुछ पशोपेश में लगे, क्या बोलें, क्या न बोलें। शायद, सारी दर्शक दीर्घा की तरह वे भी हंगल साहब के उस चित्र-विचित्र, मासूमियत-भरे वक्तव्य के आगे खोये हुए थे। अब क्या कहना है, यह सवाल था। किसी विमर्श या तर्क-वितर्क की गुंजाइश कहाँ थी? वह तो हंगल साहब का जीवन-संघर्ष था, जो किसी को भी चुप कर सकता था। उसने नामवर जी को भी किया। उन्होंने कुछ शुरू किया, 'बाबू काशीनाथ सिंह ने रायपुर में हंगल साहब के दर्शन किये थे, मैंने आज किया।'... उन्होंने कुछ और इधर-उधर, शायद, कहा। फिर बोले, 'हंगल साहब 'इप्टा' के सद्र हैं और मैं पी.डब्ल्यू.ए. का अध्यक्ष...' और वे चुप हो गये। कुछ देर खड़े रहे। शायद

अपनी बात का सिरा ढूँढ़ रहे थे।... लेकिन तभी अचानक वह घटना घटी। नामवरसिंह ने कहा, 'आगे मैं कुछ नहीं बोल सकता... और वे भरभराकर रोने लगे।'

मजिलस बर्ख़ास्त हो गयी। हम लोग अँधेरे से उठकर बाहर भारत भवन के आँगन में आये। फिर ऊपर और फिर सड़क पर। मैंने इधर-उधर देखा, नामवर जी कहाँ हैं? लेकिन वे दिखे नहीं। मैं फिर पैदल ही टहलता हुआ होटल लौटा। मुझे इस आदमी को सख़्त-कठोर सन्यासी की तरह देखने की आदत थी। अभी गर्मियों में जब वे अपनी पत्नी के अस्थि विसर्जन पर बनारस आये थे तो मैं इलाहाबाद से भागकर अस्सी पहुंचा। वहाँ भी वे हल्के हास्य के साथ मिले। निर्विकार, निर्मम और निष्कलुष। अगर वे उदास होंगे भी तो आप उनकी उदासी को उनके चेहरे से पकड़ नहीं सकते थे। सारा काम विजय प्रताप ने किया। काशी और मंटू और रामजी भैया ने डुबकी लगायी। विजय ने सिर्फ़ क्षौर-कर्म करवाया। लेकिन नामवर जी? लोगों के साथ बैठकर स्टीमर पर, बीच धार तक गये और फिर लौटकर किनारे उतरकर लोगों से इधर-उधर बातें करते रहे। कोई दिखावटीपन नहीं..कुछ नहीं। ऐसी निर्ममता तो देखी नहीं।... लेकिन हाँ, इस आदमी को ऐसे ही तो देखने की आदत थी। घर पर आये हैं, खाना खा रहे हैं, बैठे हैं, हँसी-ठट्ठा कर रहे हैं लेकिन सब कुछ के ऊपर एक पथरीली चट्टान का पर्दा पड़ा हुआ है। ...क्या शुक्ल जी भी ऐसे ही रहे होंगे। क्या आलोचक होते ही एक उच्च कोटि की मेधा ऐसी ही उदासीन और कठोर हो जाती है? या यह एक खोल है, एक सुरक्षा-कवच है, बचे रहने के लिए? एक संकोच है, एक सुसंस्कृत लज्जा है, अपनी कमज़ोर कोमलता बचाये रखने के लिए? एक मर्दाना अहं है? क्योंकि रोती तो औरतें हैं। और हमारी तरफ़ की औरतें तो राग बाँधकर झुंड में रोती थीं। वे दुख की कथा को गाते हुए रोती थीं। लेकिन रोना पुरुषोचित नहीं है। तब क्यों मैं कोई अच्छी किताब, कोई कविता पढ़ते हुए, रोने लगता हूँ। मैं एक कमज़ोर आदमी हूँ। एक बार पंत जी के साथ मैं 'पैलेस' में पिक्चर देखने गया। 'सीमा' पिक्चर थी। पंत जी पूरी पिक्चर सुबकते रहे। देखना मुश्किल कर दिया। उन्हें रोते देखकर डर लगने लगा। शान्ति जोशी उन्हें बगल से बार-बार डॉटतीं रहीं - 'चुप रहो ददा, चुप रहो।' लेकिन पंत जी कहाँ मानें? जैसे महादेवी पिक्चर में कोई करुण दृश्य आने पर हँसती थीं। जीवन में रोना इतना आसान नहीं है। वह रोने की इजाजत नहीं देता। फ़ुर्सत नहीं है। ग़लत है। - ऐसी बेरहम थीं महादेवी। बेबात हँसती रहतीं। क्या वह भी अपने को छिपाये रखना था? दुनिया में जीने का तरीका यही है। क्या यही है? निराला ने एक कविता लिखी थी -

उठता नहीं हाथ
कोई नहीं साथ
दो शरण दोष-रण!

वह कविता जब निराला ने बहू (यानी मेरी बुआ) को सुनाई तो वे अपने घूँघट में रोने लगीं। लेकिन बताती थीं कि निराला जी ने सरल-कठोर नेत्रों से उन्हें सिर्फ़ देखा। यह सब क्या है? क्या नामवर सिंह भी ऐसे ही हैं - एक कठोर-कोमल, लज्जावनत, शान्त लेकिन अन्दर से भरे हुए अहंमन्य - सुघड़ अहंमन्य। निरावृत्त लेकिन सात पर्दों में छिपे हुए। जीवन ऐसा ही है। अपनी पत्नी के अस्थि विसर्जन पर जब विजय ने घड़ा ओन्हाया तो नामवर जी के मुँह से सिर्फ़ इतना ही निकला - 'जा!' और वह भी बहुत धीरे से। उस 'जा' में सब कुछ था और कुछ भी नहीं था।

मैं धीरे-धीरे टहलता हुआ होटल लौटा। नामवर जी के कमरे पर पता किया तो वे नहीं थे। पता लगा वे कमला के साथ हंगल साहब के होटल गये हैं। वहाँ नीचे लाउंज में कमला प्रसाद का पूरा परिवार आया हुआ था। पी.पी. (कमला के छोटे बेटे) का जन्म दिन था। वे सब लोग इंतज़ार कर रहे थे कमला का। फिर वे लोग खाना खाने भीतर हॉल में चल गये।

रात दस बजे खाना खाकर जब मैं होटल से बाहर थोड़ा टहलने के लिए निकला तो देखा, कमला एक कुर्सी पर लाउंज में थके-मांदे, निढाल बैठे हैं। मैंने बताया कि बच्चे सब आये थे तो उन्होंने सिर्फ़ 'हाँ' कहा। उन पर श्रद्धा हुई कि यह आदमी संगठन के काम के लिए बेटे का जन्म दिन छोड़ सकता है। मैं तो नहीं।

तसलीमा और निर्मल जी (19.2.2004)

पंकज सिंह ने मुझे सुबह-सुबह फोन किया। मैं नींद से उठाया गया। उसने बताया कि आई.आई.सी. में तसलीमा आ रही हैं। 'वाणी' द्वारा उनकी आत्मकथा का लोकार्पण है। कुछ भाषण भी होंगे। तसलीमा अपने देश निकाले पर भी कुछ-न-कुछ कहेंगी। ...मुझे सुबह थोड़ी देर लगती है। उठकर धीरे-धीरे चुपचाप तैयार होता हूँ। कम्प्लीटली रिलैक्स्ड... अगर रात को अच्छी नींद आयी हो। पूरी तरह समाधि में। फिर घर के सन्नाटे में कलम की खिस्-खिस्.. 'ग़ालिब सरीरे-ख़ाम नवा-ए-सरोश है' की तरह कुछ-कुछ। पंकज की सूचना से कोफ़्त हुई। लेकिन तसलीमा को सुनना ज़रूरी था। वे मुस्लिम कठमुल्लेपन की शिकार हैं... मारी-मारी फिर रही हैं। अपने लोगों के बीच न रहना, स्वर्ग में रहने को भी नारकीय बना देता है कि वहाँ अपनी पूरी बिरादरी मिल जाती है - बिरादरी... चाहे वह उपहास ही करे,उसके लिए हम तरसते हैं; जिसके लिए अड़सठ साल की उम्र में भी हम दौड़कर बस पकड़ते हैं। फिर ऑटो। फिर थके-माँदे, बाथरूम में जाकर, चेहरे को शीशे में माँज-मूँज कर, बचे-खुचे बालों और दाढ़ी में कंघी फिरा कर, चेहरे पर एक मुस्कान चढ़ाकर अपनी बिरादरी के बीच हम दाख़िल होते हैं। कोई यह न समझे कि हम थके-हारे हैं। हम हार के कगार पर हैं। हमें इस 'कैसिनो' में अगली बाज़ी नहीं खेलनी। नहीं जी, अभी हम हैं - अपनी कंकाल-काया में ख़ुद की हड्डियों का धनुष टंकारते हुए, अभी हम दोस्तों-दुश्मनों के साथ हैं। और हम वहीं पर ख़ुश भी रहते हैं। लेकिन क्या करें, दिल्ली में मेरे पास वाहन नहीं है। दिल्ली मेरे लिए एक दाहक और आकर्षक शहर है, जहाँ बौद्धिकों की छात्र-चँवर की हवा खाते हुए 'विमर्श' करते देखना ख़ुशी भी लाता है और उबकाई भी आती है। बहरहाल...

तो मैं जल्दी से उठा। मेरी समाधि छिन्न-भिन्न हो गयी। कुर्ते-पाजामे गन्दे हो गये थे। सो, मैंने अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ, कुढ़ते हुए जीन्स-कमीज़ पहनी, झोला लटकाया और डेढ़ किलोमीटर धूप में पैदल चलकर जयपुर हाइवे पर। पन्द्रह मिनट सड़क पार करने में लगे। जब बाँयीं तरफ़ आया तो 'बस' आ रही थी। मैंने 'बस' की ओर दौड़ते हुए हाथ उठाया। मैं जानता था, ड्राइवर रोक देगा। मेरी सफ़ेद दाढ़ी उसकी दया-दृष्टि के लिए काफी है। उसने रोक दिया और मैं अगले दरवाज़े से ही चढ़ गया। एक नौजवान ने कहा, 'उधर बैठ जा बुड्ढे!' अपने पूरब में होता तो नौजवान कहता, 'बाबा, उधर बैठ जाइए।'... इस तरह मैं धौला कुआं तक पहुँचा, और वहाँ से 'ऑटो' से 'आई.आई.सी.'। मैं वक्त पर पहुँच गया था। बिरादरी धीरे-धीरे हॉल में दाख़िल हो रही थी।

* * *

एक झूमती हुई, हँसमुख, बूढ़ी दुभाषिया के साथ, जीन्स और टॉप में तसलीमा अवतरित हुईं। अशोक वाजपेयी, अपनी सदाबहार हँसी के साथ-अध्यक्ष। तसलीमा का पूरा ड्रेस उलेमाओं के लिए फतवा जारी करने के लिए काफी था। जाँघों से सटी हुई जीन्स, टॉप, लड़कों की तरह कटे हुए केश। सिर्फ़ आँखों में काजल था, जो बाद में खाने की मेज़ पर मैंने 'मार्क' किया, जहाँ संयोगवश मैं शामिल हो गया था। लम्बा, साफ़-सुथरा बंगाली चेहरा, अनाकर्षक लेकिन साधु गर्व की छाया लिये हुए। फिर भी विनम्र...शायद।

तसलीमा की बांग्ला में बांग्ला-देशी लोक-धुन की गूँज न थी। वह रवीन्द्रनाथ की 'साधु बांग्ला' में बोल रही थीं। भाषा में वह तरंग नहीं थी जो ऋत्विक घटक के बोलने में होती थी। 'एक किताब (बोई) लिखना मेरा अधिकार है और पढ़ना पाठक का अधिकार। चूँकि मैं लड़की (मेये) थी, इसलिए भी इतना हंगामा मचा। उन्होंने फ़तवा जारी किया। मैंने पुलिस-सुरक्षा माँगी, लेकिन कोई कार्रवाई नहीं। उस दिन घर में मैं अकेली थी, अपनी काली-कलूटी नौकरानी के साथ। (तसलीमा गोरी नहीं हैं, सिर्फ़ पश्चिम की शरण में जाने से उनका रंग थोड़ा खुल गया है। फिर भी, एक स्त्री होते हुए भी उन्होंने अपनी नौकरानी के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। तसलीमा इस वक्त हॉरवर्ड में फ़ेलोशिप पर रिसर्च कर रही हैं।) मैंने उसे आदेश दे रखा था कि कोई भी दरवाज़ा खटखटाए तो पहले पूछना- 'के?' न भी पूछना। खोलना मत। हमने सभी कमरों के दरवाज़े-खिड़कियाँ बन्द कर लीं। और घर में चुपचाप मैं नौकरानी (वे कुछ नाम ले रही थीं।) के साथ अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में चली गयी। वे दरवाज़ा पीटते रहे। मैं फ़र्श पर लेट गयी थी। मेरा सारा शरीर बर्फ़ हो रहा था। इस सोलहवें तल्ले पर, अगर वे दरवाज़ा तोड़कर अन्दर चले आयें तो मैं क्या कर सकती हूँ?... तब दो दिन बाद पुलिस का इन्तजाम हुआ। ...मेरे मानवाधिकार का 'केस' वहाँ के दो बड़े वकील लड़ रहे हैं। ...मैंने एक कार भी ख़रीदी, जिससे सुरक्षित बाहर जा सकूँ। पहले जब मैं रिक्शे पर निकलती थी, तो चारों ओर से आवाज़े आती थीं; 'ये जा रही है तसलीमा, कुलटा, व्यभिचारिणी, रंडी... खींच लो, रिक्शे से, धर लो, मारो।' इसी तरह की ग़लीज़ और भद्दी भाषा में। मेरा चलना-फिरना दुष्कर था। ...लेकिन कार से ही मैं कहाँ जा पाती हूँ!'

दुभाषिया ने अनुवाद की जगह तसलीमा के भाषण का सारतत्व बताया। हम लोगों ने पीछे से ज़ोर से आवाज़ भी लगायी कि इसकी कोई ज़रूरत नहीं है। इस पर कई लोगों ने आगे से हमें घूरकर देखा। ज़ाहिर था कि बांग्ला उनकी समझ में नहीं आती थी और यह हमारी ग़लती थी। ...फिर अशोक वाजपेयी कुछ बोले - भंडारकर इंस्टीट्यूट और भोपाल कांड के बारे में। दुभाषिया ने 'द्विखंडिता' के कुछ हिस्से हिन्दी में पढ़े, जो बड़े नीरस थे। लेकिन सभा की उपलब्धि तसलीमा द्वारा अपनी दो कविताओं का पाठ था - 'देश द्विलो' और 'माँ'। 'मर्मवेधी' शब्द वहीं सार्थक हुआ। इतना सुन्दर पाठ: ...इतनी अच्छी कविताएँ... दोनों कविताएँ देश-निकाले की अनुभूति का मार्मिक आख्यान जैसी थीं। ...बहुत सारे लोग वहाँ बांग्ला नहीं समझ पाये। काश, कि वे समझ पाते! अथवा... काश, कि मुझे या डी.पी.टी. को (जो वहाँ नहीं थे) उन कविताओं का साथ-साथ अनुवाद करने या पढ़ने दिया जाता!

* * *

सभा समाप्त होने के बाद लोग बाहर लॉन में निकल आये, जहाँ खाने का इन्तज़ाम था। लॉन के कोने में मीडिया के लोग अपने कैमरों के साथ तसलीमा पर टूट पड़े। वे बड़ी देर तक टूटे-पड़े रहे। तसलीमा उनके बीच गुम हो गयी थीं। लगता था, वे लोग अपने कैमरों से उन्हें कुचल डालेंगे। तसलीमा इससे ख़ुश नहीं थीं, जैसा कि उन्होंने बाद में बताया। बाकी पूरी भीड़ खाने के लिए लाइन लगाये थी। मैंने देखा है कि ऐसे अवसरों पर, लोगों की खाने में बड़ी रुचि रहती है। लोग प्लेटें भर-भर कर इधर-उधर खड़े हो गये। वही सब कूड़ा-कबाड़ जो ऐसे अवसरों पर हर जगह मिलता है - वही सब। तभी अनवर (अनवर जमाल) ने कहा कि कल तक तो हॉल भी 'बुक' नहीं था, क्योंकि तसलीमा के आने का कोई निश्चय नहीं था।

'बड़े लोग नहीं दिख रहे हैं?' मैंने अनवर से पूछा।

'उधर होंगे।' उसने बाथ-रूम की ओर इशारा किया।

'मुझे अन्दाज़ा है।' मैंने कहा।

'चलें, उन्हें देखते हैं?' अनवर ने कहा।

हम दोनों वहाँ गये। और हम सच थे। और वे कहाँ हो सकते हैं। कहीं नहीं। वे परमानेंट सदस्य हैं। वही उनका ठीहा है। अशोक मेरे मित्र हैं। मैं जब भी दिल्ली आता और उनसे मिलने जाता, वे काम-धाम छोड़कर तुरन्त उठ जाते - 'चलो, आई.आई.सी. चलते हैं।' तो वह जगह मेरी जानी-पहचानी थी। अशोक, केदार जी, निर्मल जी और गगन। मैं जाकर शामिल हो गया। अनवर ने तुरन्त एक लार्ज बोदका मेरे लिए मँगायी। वहाँ हँसी और सुमुखता थी। निर्मल जी को बहुत दिनों बाद देखा। जी खुश हुआ। उनके चेहरे पर हल्की सी लाली थी - सामान्य से कुछ ज़्यादा। फिर यह हुआ कि नीचे खाना ख़त्म है,ऊपर हॉल में जाना पड़ेगा। मैं खा चुका था लेकिन बतरस के लालच में साथ-साथ चल दिया। ऊपर हॉल में एक मेज़ पर बैठे तो बगल की दूसरी गोल मेज़ पर तसलीमा बैठी हुई दिखीं। उन्होंने कब पिंड छुड़ा लिया, यह आश्चर्यजनक था। थोड़ी देर बाद वे उठीं और हम लोगों के साथ बैठने की इच्छा ज़ाहिर की। दो मेज़ें मिलाने की कोशिश की गयी, लेकिन प्रबन्धकों ने सख़्ती से मना कर दिया। अब आदरणीय केदार जी ने तसलीमा के लिए अपनी कुर्सी ख़ाली की और अपने लिए एक और कुर्सी उठा लाये। फिर खाना, और खाते वक्त बातें। बातें 'द्विखंडिता' पर लगी रोक से शुरू हुई। तसलीमा ने बताया कि सुनील गंगोपाध्याय और दूसरे छः-सात लेखकों ने पश्चिम बंगाल सरकार से रोक लगाने के लिए अनुरोध किया। दबाव बनाया। उनका तर्क था कि हिन्दू बड़े सौम्य और सहज होते हैं लेकिन मुस्लिम उलेमाओं का क्या भरोसा.. दंगा बन (हो) जायेगा। इसलिए ज़रूरी है।'लेकिन मैं समझती हूँ', तसलीमा ने कहा, 'कि यह मुस्लिम वोटों के लिए है। कम्यूनिस्ट सरकार है, और इस तरह से वोट लेगी ,और वह भी सत्ताइस वर्षों के शासन के बाद?' तसलीमा के कहने में व्यंग था। निर्मल जी और अशोक दोनों की बातों में एक ही ध्वनि थी, 'देखिये, कैसे वामपंथी हैं ये लोग?' मैंने इस बीच कई बार ज़ोर देकर कहा कि सुनील वामपंथी नहीं हैं। कई बार सुनते-सुनते निर्मल जी एकाएक फट पड़े, 'क्यों तुम ये बात कह रहे हो? बात पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार की हो रही है!' मैं चुप लगा गया। मैं निर्मल जी का बहुत आदर करता हूँ। लेकिन वे वामपंथियों को भरपेट सुनाते रहे। फिर सारे हिन्दुस्तानियों को... 'इन्हीं लोगों ने पहले 'सेटनिक वर्सेस' को बैन किया। ईरान ने इन्हीं लोगों से 'क्लू' लिया। ...आपको सरकार विज़ा नहीं देती?' निर्मल जी ने उसी रौ में पूछा। 'कभी एक महीने का, कभी दो महीने का', तसलीमा ने कहा, 'मैं कोलकाता में एक मकान ख़रीदना चाहती हूँ, वे परमिशन' नहीं देते। मैं उन्हें प्यार करती हूँ। वे मेरे अपने लोग हैं, बांग्ला भाषी। वहाँ मुझे घर जैसा लगता है। बहुत लोग वहाँ मेरे पास आते हैं, कहते हैं, 'द्विखंडिता' पढ़ने के लिए दीजिए न। धीरे-से फुसफुसा कर कहते हैं। दीजिए ना। लौटा देंगे। मैं कहती हूँ, 'जोरे बोलुन ना.. एइ कथा - हा जोरे बोलुन ना।' तब वे चुप हो जाते हैं और चले जाते हैं।' तसलीमा के कहने में यह ध्वनि थी कि किताब तो सभी पढ़ना चाहते हैं, लेकिन इसके लिए ज़ोर से बोलना नहीं चाहते। मुझे हँसी आने को हुई... जैसे बुद्धदेव भट्टाचार्य से बंगाली लोग ख़ौफ़ खाते हों... बुद्धदेव बाबू से... वामपंथी सरकार से। जैसे वहां कोई स्टालिन या ज़दनोव बैठा हो, जैसे पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार चुनाव लड़कर सत्ता में नहीं आती। जैसे लोग 'भोट' नहीं देते। मुझे हँसी आ रही थी।

'आपको वामपंथी सरकार विज़ा नहीं देती?' निर्मल जी ने फिर पूछा।

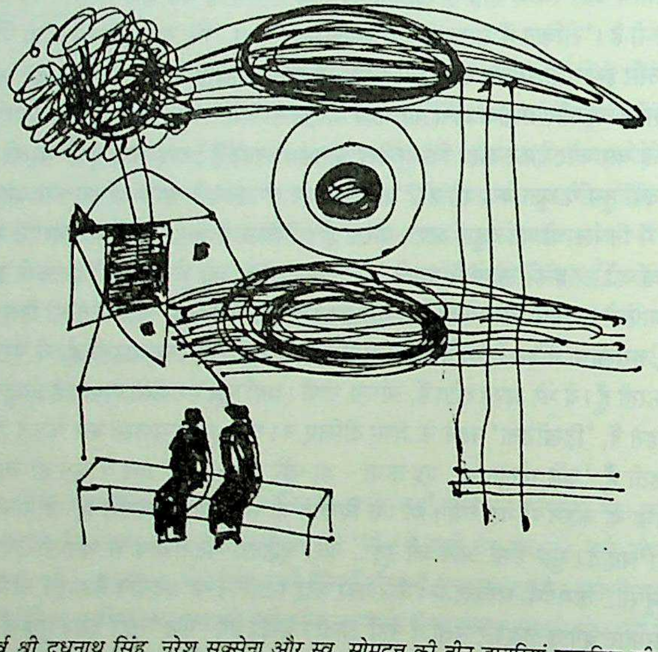
'विज़ा देना केन्द्र सरकार के अधीन है।' अशोक ने समाधान दिया।

तसलीमा ने बीजेपी पर भी उन्हीं शब्दों में, वही व्यंग किया, 'मुस्लिम वोटों के लिए... ।' लेकिन इस पर निर्मल जी ने बीजेपी सरकार को यह नहीं कहा कि, 'देखिये कैसे लोग हैं!' वे चुप रहे।

कुछ बातें हैं जिन्हें लोग नहीं समझना चाहते। तसलीमा हों, या सलमान रुश्दी... ये लोग इस्लाम के

'इन्साइडर्स' हैं, भीतर के लोग हैं। जब वे इस्लाम की आलोचना करते हैं तो हिन्दू धर्मान्ध उन्हें हाथों-हाथ उठा लेते हैं। ऐसे तो बाला साहब ठाकरे क्रिकेट-पिच खुदवाने में संकोच नहीं करते लेकिन जब 'द्विखंडिता' प्रतिबन्धित हुई तो बाला साहब बुद्धदेव भट्टाचार्य पर किस तरह बरसे थे। एकाएक मुसलमान होते हुए भी तसलीमा की उन्हें कितनी चिन्ता हो गयी! चाहे तसलीमा हों या रुश्दी, दोनों के लेखन में एक अनैतिक-उत्तेजक रस है। वे हमारे सम्प्रदायवादियों को बड़े प्यारे, बड़े महान लगते हैं। डॉ. विदिया भी आर.एस.एस. को बड़े प्रिय लगते हैं, जिन्होंने भारत को 'अँधेरे का क्षेत्र' कहा था, जो अपने ब्राह्मणत्वकी जड़ें खोजते हुए नेपाल की तराइयों तक टहल आते हैं। नोबल पुरस्कार भी एक राजनीतिक पुरस्कार है; जैसे सभी पुरस्कार। ख़रीद-फ़रोख़्त का एक विश्वव्यापी शग़ल है। अंग्रेजी भाषा का साम्राज्यवाद है... स्थानीय भाषाओं, स्मृतियों, मिथकों को दबाने, और दमन और अपमान का एक हथियार है। इसे लोग नहीं समझना चाहते। पैग़म्बर का मखौल उड़ाओ और देखो कि तथाकथित पश्चिमी सभ्य दुनिया तुम्हें किस तरह मालामाल कर देती है! हॉरवर्ड में 'फ़ेलोशिप' दे देती है।

* *



यहां सर्व श्री दूधनाथ सिंह, नरेश सक्सेना और स्व. सोमदत्त की तीन डायरियां प्रकाशित की जा रही हैं। दूधनाथ सिंह ने अपनी डायरी पर स्वयं एक टिप्पणी की है। सोमदत्त ने मुक्तिबोध के अंतिम दौर पर अपनी अभिव्यक्ति की है। यह अंश हमें सोमदत्त की पुत्री नेहा तिवारी ने उपलब्ध कराये हैं। विदित हो कि पहल ने एक दशक पूर्व सोमदत्त की कई कविताएं और अनुवाद प्रकाशित किये थे। पहल सम्मान से सम्मानित नरेश सक्सेना लम्बे समय से शिलांग में हैं और उन्होंने अपनी डायरी में जबलपुर से लेकर दूर दराज की यात्राओं के कई यादगार प्रसंग दिये हैं।

पाठक इसके पहले राजेश जोशी, अरूण कमल, नरेन्द्र मोहन, लीलाधर मंडलोई, कुमार अंबुज, निर्मला गर्ग और देवी प्रसाद मिश्र की डायरियां पढ़ चुके हैं।

पथ अनन्त हैं

नरेश सक्सेना

शिलौंग
29.07.2005

पथ अनन्त हैं
यहां से वहां हम चाहे जिस पथ से जाएं
यात्रा में वे पथ भी शामिल होते हैं
जिन पर हम नहीं चले

तारीख़ें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। वे समय को जकड़ती हैं। उन्हें भूल कर मैं अक्सर समय से बाहर हो जाता हूं। असल मुश्किल तब होती है, जब वे चिट्ठियों और चैकों पर ग़लत पड़ जाती हैं।

मैं जानता हूं वक्त कहीं नहीं जाता। वह हड्डियों में प्रवेश कर जाता है। ख़ून के दबाव में शामिल हो जाता है और रह रहकर झांकता है। अपनी सबसे महत्वपूर्ण यात्राएं मैंने छूटी हुई रेलगाड़ियों से की हैं। एक बार वक्त के बाद पकड़ी हुई रेल गाड़ी से भी। मेरी घड़ी अलग वक्त बताती है। मेरे दिन औरों के दिनों से अलग होते हैं।

यह निरी डायरी नहीं है। यहां उसका पुनर्लेखन, संवर्धन, और उससे जुड़ी घटनाओं के संस्मरण भी हैं। उनसे जीते जी कैसे बचा जा सकता है। मेरे पास कई तरह की कापियां और रजिस्टर हैं। घर के हिसाब की, इंजीनियरिंग के काम की, और कविताओं के नोट्स की। पूरी कविताओं की कोई कापी नहीं है। यह आदत इंजीनियरिंग कालेज से पड़ी। रात को कविता लिखने बैठता तो सुबह हो जाती है। कालेज गोल हो जाता। सेकेण्ड इयर में फ़ेल हो गया। तबसे यह तरीका निकाला कि – कविता का मूलभाव या तर्क कापी में नोट कर लिया और चैन से सो गये। कभी जब फ़िल्में बनाई या नाटक लिखे तो उनकी कापियां अलग हैं। इन्हीं में कहीं कहीं – निजी प्रतिक्रियाएं और भूली भटकी तारीखें भी है।

दिल्ली, 6 फरवरी 88

विजय विदेश सेवा के लिए चुन ली गई। भारतीय राजदूतावास में प्रथम सचिव के स्तर पर। यह ख़बर तो अगस्त में ही मिल गई थी। मैं चाहता था पोस्टिंग मास्को में हो लेकिन हुई सूरीनाथ में। आज अपने जन्म दिन पर विजय चली गई। हवाई अड्डे पर, एक बार चलीं तो फिर मुड़कर नहीं देखा। शायद अपने आंसू छुपा रही थीं। मैं अपने आंसू नहीं छुपा पाता। मैं कुछ भी नहीं छुपा पाता।

बड़ौदा 19 जून 88

बच्चों को लेकर सूरीनाम जा रहा हूं। बड़े भाई से मिलने आया हूं। किसी ने बताया कि टीकू गिर गई, और पांव में मोच आ गई है। बाहर जाकर देखा कि गिरी नहीं छत से कूदी है, और फ्रेक्चर हुआ है। पता चला पहले राघव छत से कूदे, फिर दीदी से कहा ''आप नहीं कूद सकतीं''। दीदी को कहां बर्दाश्त। वह भी कूद गई। राघव दस बरस के हैं। टीकू तेरह की।

दिल्ली 21 जून 88

हम लोग दिल्ली आ गये। टीकू के पांव पर प्लास्टर चढ़ा है। प्लास्टर पर पम्मी ने लिख दिया है ''हैप्पी बर्थ डे टू टीकू''। कल टीकू का जन्म दिन था। आई.सी.सी.आर जाकर पता लगा, विजय को 'डिप्लोमेट' का स्टेट्स मिला है। हम लोगों को लाल रंग के पासपोर्ट मिले हैं। राघव को किसी ने बताया कि उनकी मम्मी की कही हुई बात को भारत सरकार की बात माना जायेगा। भारत सरकार ने विदेशों में छः सांस्कृतिक केन्द्र खोले हैं। सूरी नाम केन्द्र की निदेशक विजय होंगी।

* * *

विजय को पहली बार मैंने फ़ोटो में देखा था। अक्टूबर-नवम्बर 1958 की बात है। यह जबलपुर इंजीनियरिंग कालेज का मेरा पहला साल था। विजय तब 15-16 बरस की थीं। मैं उन्नीस का था। सभी अख़बारों में विजय का फोटो था। वह विश्वविद्यालयों के अखिल भारतीय फ़ेस्टिवल में शास्त्रीय गायन में प्रथम आई थीं। विजय को लेकर कितनी ही किंव दन्तियां थीं – कि विजय ठाकुर की मां मशहूर तवायफ़ हैं, कि उनके पिता कोई जागीरदार या राजा हैं और शादी करने वाले को आधा राज्य मिल जायेगा, कि उनकी मां को ए.आर. कारदार ने फ़िल्म शाहजहां में सहगल के साथ साइन किया था। लेकिन दर्शकों का पर्दे पर चवन्नियां फेंकना उन्हें बर्दाश्त नहीं था। इसलिए उन्होंने करार तोड़ दिया – और हर्जाने के लाखों रुपये भर दिये, कि एच.एम.वी. ने उनके रेकार्ड बनाने चाहे तो वह भी उन्होंने मंज़ूर नहीं किया, कि उन्हें सेशन कोर्ट में जूरी बनाया गया है और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है।

विजय का घर गुरन्दी में था। यह वेश्याओं का मुहल्ला था। गुरन्दी से जब मैं गुज़रता तो देखता, दरवाज़ों पर लड़कियां गहरा मेकअप किये खड़ी हैं। भीतर से-तबले, घुंगरू और नाच गाने की आवाज़ें आती रहतीं। मैं सोचता यहीं कहीं, बेनी बाई का कोठा भी होगा – यानी विजय का घर। वेश्याओं और तवायफ़ों का फ़र्क तब नहीं जानता था।

विजय से मेरी मुलाकात इसके पांच बरस बाद हुई। मैं फ़ायनल इयर में था। सोमदत्त का घर रास्ते में पड़ता था – वहीं शायद कृष्ण कुमार पुरोहित से मिला – उन्हीं के साथ विजय से। गुरन्दी तिराहे पर घर था। एक अंधेरा और संकरा ज़ीना, जिसमें सहारे के लिए रस्सी बंधी थी। बाएं हाथ पर एक दरवाज़ा, जिस पर 'नो एडमीशन' लिखा था। कमरे में दूसरा दरवाज़ा – जो सड़क पर छज्जे की तरफ़ खुलता था, बन्द था। सामने छोटी सी खिड़की थी जिस पर पर्दा पड़ा था। खिड़की के साथ पलंग था, एक छोटी सी मेज़ और कुर्सी और

बस। इतनी ही जगह थी उस कोठरी में। दिन में भी बल्व जल रहा था। यही विजय का कमरा था। किंव दन्तियां लगभग सभी सच थीं लेकिन अब -

विजय की की माँ को संगीत के कार्यक्रम मिलने बन्द हो गये थे। ज़ायदाद पर किरायेदारों और बदमाशों ने कब्ज़े कर लिए थे। वह ज़ेवर बेच बेचकर गुज़ारा कर रही थीं। विजय की मेडीकल कालेज की पढ़ाई, लगातार बीमार रहने से छूट गई। पिता की मृत्यु हो गई। इसके बाद विजय अपने शहर में कभी किसी कालेज में नहीं पढ़ी। घर से ही प्राइवेट बी.ए. किया, फिर हिन्दी में एम.ए.।

सात बरस बाद, मेरी बारात इसी घर में - इसी मोहल्ले में आई। बारात इसी घर में आए - यह अम्मां की शर्त थी। विजय की तरफ़ से शादी के कार्ड पर - हरिशंकर परसाई, भवानी प्रसाद तिवारी और नर्मदा प्रसाद खरे के नाम थे। शादी में, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन, विनोद कुमार शुक्ल, हरिशंकर परसाई और सोमदत्त मेरे साथ थे। सोमदत्त लड़की वालों की तरफ़ से हमारी ख़ातिरदारी कर रहे थे।

वर्तमान के साथ ही हमारा अतीत भी लगातार बदलता है। विजय से पहली बार मिलने का अर्थ, क्या आज वही है, जो उस दिन था।

* * *

पारा मारिबो
सूरीनाम
16.07.88

आज सूरीनाम के प्रमुख कवियों और पेण्टरों को घर पर बुलाया। सूरीनाम के सूचना विभाग के संयुक्त निदेशक रामलाल के सहयोग से यह संभव हुआ। यह देखकर मैं हैरान था। कि उनमें भारतीय मूल का न कोई कवि था न पेण्टर। मैंने रामलाल से कारण पूछा तो वह याद करने लगे -लेकिन उन्हें कोई भारतीय कवि या पेण्टर याद नहीं आया।

वे सब अफ्रीकी मूल के क्रिओल थे। नीग्रो। बहुत अच्छी कविताएं थीं। उनकी भाषा मुश्किल से पचास वर्ष पुरानी है - सूरीनाम में ही उसका जन्म हुआ है। नाम है, स्रनन तांगो। रामलाल - हिन्दी और अंग्रेज़ी में कविताओं का अनुवाद करते जाते थे। एक कविता काफ़ी करुण और संगीत मय लगी - उसमें एक शब्द बार बार आता था 'कोम्बाका-कोम्बाका'। मैंने अर्थ पूछा तो बताया - लौट आओ - लौट आओ। 'कोम्बाका' मेरे ज़हन में गूंजता रहा - अचानक मुझे बोध हुआ - यह अंग्रज़ी के 'कमबैक' से बना है।

एक दो कविताओं के भाव याद रह गये हैं।

(1)

रूआंसे बच्चे ने बार बार कहा
पापा अपने ऐक्वेरियम की एक मछली मर गई
'तो क्या हुआ' झुंझला कर कह दिया
वज्रपात हुआ बच्चे पर
पापा आपको क्या हुआ
अपने घर में एक मछली मर गई
और आप कहते हैं, क्या हुआ

(2)

किसी के दबाये नहीं दबा जो जीते जी
उसके शव को
क्या धूल मिट्टी से दबाओगे
फूलों से ही दबा हूं मैं
मरने के बाद मुझे एक फूल से दबा देना

बहुत देर तक सोचता रहा कि अफ्रीका के अलग अलग कबीलों और देशों से आये लोगों ने – जो आपस में किसी भाषा में बात नहीं कर सकते थे – अंग्रेज़ी के शब्दों को अपनी भाषाओं की ध्वनिओं के अनुरूप ढाल कर एक नई और ताकतवर भाषा खड़ी कर ली और भारतीय मूल के लोगों ने एक समृद्ध भाषा के बावजूद डच और अंग्रेज़ी बरतने में ही अपनी शान समझी। नतीजे में वे डच और अंग्रेज़ी में तो पारंगत हो नहीं सके, अपनी भाषा भी भूल गये।

डिज़्नीलैण्ड (औरलैण्डो)

28.07.1988

टीकू और मैं सूरीनाम से लौट रहे हैं। राघव नहीं रहेंगे। आज दोपहर में हम एक आकाश में थे। न्यूयार्क शहर के ठीक ऊपर। नीचे लोग थे, कारें चल रहीं थीं। आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। खुले आकाश में ठंड़ी हवा लग रही थी। हमें पता था यह धोखा है। हम एक बन्द हाल में थे। यह ऐप्कौट सेण्टर था। हमें झूठा अहसास कराया जा रहा था कि जैसे हम हैलीकॉप्टर में हों। हम न्यूयॉर्क में थे ही नहीं – 'डिज़्नी-वर्ल्ड' और लेण्डो में थे। लेकिन अपनी आंखों का क्या करते। वे न्यूयॉर्क देख रही थीं – जीता जागता।

बहुत ऊंचाई से नीचे झांकने पर जो डर लगता है –

जैसा खिंचाव सीने में होता है –

वह तो सचमुच हो रहा था। मैंने हैण्डिल बार कसकर पकड़ लिया था। डर रहा था कि कहीं गिर न पड़ूं। यह एक तिलिस्म था।

यानी हम जहां गये वह जगह वहां थी ही नहीं। जिन लोगों से मिले, वे वहां थे ही नहीं। जो अपनी आंखों से देखा, कानों से सुना, त्वचा से स्पर्श किया वह यथार्थ नहीं था। तो फिर यथार्थ क्या होता है। जब हम बाहर आ रहे थे तो गेट पर मैंने अपना बहुत बड़ा फोटो देखा, जहां मुझे अपना फ़ोटो दिख रहा था ठीक उसी जगह टीकू को अपना फोटो दिखाई दे रहा था। अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर से विश्वास पूरी तरह हट गया है। ऐन्द्रिक अनुभव का क्या अर्थ रह गया।

* * *

बफ़्लो एयरपोर्ट

छोटा सा हवाई अड्डा देखते देखते खाली हो गया। बब्बू ने कहा था वह कनाडा से बफ़्लो एयरपोर्ट पर मुझे लेने आ जाएंगे। बारिश होने लगी। धीरे धीरे अंधेरा घिर आया। बब्बू का फ़ोन उठ नहीं रहा। इस अनजान शहर में टीकू को लेकर कहां जाऊंगा।

याद आया सुभद्राकुमारी चौहान की बेटी, ममता, इसी शहर में कहीं हैं। विजय ने टीकू को पता और

फोन नं. दिया था। मुझे कहा था फ़ोन ज़रूर कर लूं और पूछ लूं कि अम्मां की बुआ रिक्खाबाई के एच.एम.वी. के रेकार्ड ममता ने कहां रखे हैं। खो तो नहीं दिये। मैंने सोचा ममता से विजय चौहान का फोन नं. भी पूछ लूंगा। आसपास होंगे तो मिल भी लूंगा। फ़ोन किया और पूछा – ''क्या यह ममता चौहान का नम्बर है''।

''हां है, लेकिन उनसे बात नहीं हो सकती।'' किसी ने बड़ी बेरुख़ी से जवाब दिया और फ़ोन काट दिया।

बारिश बढ़ गई और अंधेरा भी। बब्बू का कुछ पता नहीं। शायद यह उस प्राचीन भय की तरह था कि अपरिचित जंगल है, कबीला साथ नहीं है। अंधेरे और बारिश में किसी गुफ़ा की तलाश है। कोई गाड़ी आती दिखती तो मैं उम्मीद से उठ खड़ा होता। तभी जैसे हवा में रोशनी फैलाता एक गीत सुनाई दिया।

'आज माने न मेरा जिया ठुमुक ठुमुक नाचे
सावन का मौसम सुहाना'

प्रेमनाथ और बीना राय की फ़िल्म बादल का गीत था। टैक्सी रुकी थी। मैं दौड़कर गया। सरदार जी थे। मैंने अपनी परेशानी बताई और पूछा कोई होटल मिल जायेगा। ज़रूर मिलेगा जी, सरदार जी ने आश्वस्त किया। और आपके दोस्त भी आते होंगे। कनाडा से आने में बार्डर क्रास करना पड़ता है तो चैकिंग में देर हो ही जाती है। तभी टैक्सी की रोशनी में बब्बू और मंजू आते दिखाई दिये। टैक्सी चल दी और गीत दूर जाने लगा।

'देखो आये उमंग भरे, रंग भरे बादल
लाये ख़ुशी का ख़जाना
झांवरे गिजर गिज गिना गिन
झांवरे गिजर गिज गिना गिन'

जान में जान आई। चलने से पहले, ममता चौहान को एक बार फिर फ़ोन किया। वही आवाज़। मैंने कहा ''देखिये, ममता की मित्र विजय ठाकुर मेरी पत्नी है, मैं कनाडा जा रहा हूं –पता नहीं लौटूं कि न लौटूं – ममता को ज़रूर बता दें और मालूम हो तो विजय चौहान का नम्बर दे दें।''

''विजय चौहान नहीं रहे।'' अभी-अभी। पता नहीं कब उनकी मृत्यु हुई। लाश कई दिन से फ़्लैट में पड़ी है। हमें अभी अभी ख़बर मिली है। ममता सदमें की हालत में हैं। माफ़ करिये-आपको पहचान नहीं पाया था मैं अरविन्द बोल रहा हूं।

मैं स्तब्ध रह गया। क्या कहता। सिर घूमने लगा। अभी तक विजय चौहान मेरे लिए जीवित थे। मैं उनसे मिलना चाह हाथा। उनकी एक कहानी 'मिज़राब' बहुत पहले पढ़ी थी। भाई-बहनके बीच अनायास उपजे तनाव की कहानी थी। ऐसी रचना जिसे पढ़कर लेखक का नाम हमेशा के लिए याद रह जाता है। उनकी मृत्यु शायद तभी हो गई हो, जब हम सूरीनाम में उनके बारे में बातें कर रहे थे।

बब्बू हमें कैनेडियन दूतावास ले गए। वहां हमें कैनाडा का वीसा लेना था। लम्बा क्यू था लेकिन हमारे पासपोर्ट 'डिप्लोमैट' वाले थे। लाल रंग के पास पोर्ट देखते ही प्राथमिकता देकर वीसा दे दिया। मुश्किल से बीस मिनिट लगे।

सेण्ट कैथरीन, कनाडा

7 अगस्त 1988

टीकू सूरीनाम वापस लौट गई। उसे मेरे साथ लखनऊ जाना था लेकिन पता नहीं क्या हुआ। उसने लौटने की ज़िद की। मुझे भी अब बेटी की जिम्मेदारी का अहसास शुरू हो गया था। विजय से बात करके, उसे अकेले टोरोण्टो से मायामी के लिए बिठा दिया। बच्चों को ले जाने और दूसरी कनेक्टिंग फ़्लाइट में बिठाने की जिम्मेदारी एयर लाइन ने ली थी। मंजू अटलाण्टा चली गई थी। टीकू की फ़्लाइट अटलाण्टा में रूकती थी। वहां से मायामी- फिर वहां से दूसरी फ़्लाइट से पारामारिबो। टीकू को छोड़ते वक्त मुझे घबराहट थी -लेकिन टीकू सहज थी।

बब्बू आफ़िस चले जाते हैं। ख़ाली घर में, मैं अकेला। दूसरे दिन डाक आई तो मेरे नाम एक लिफ़ाफ़ा। खोल कर देखा तो मेरा हैल्थ इंश्योरेन्स का सार्टिफ़िकेट। बब्बू से पूछा, तो बोले - ''तुम बीमार आदमी, हमेशा ज़ुकाम रहता है - कहीं बीमार पड़ गये, तो मेरा तो दिवाला निकल जायेगा - इसलिए तुम्हारे आते ही बीमा करा दिया''। फिर पूछा, तुम कब जाओगे - दो हफ्ते बाद मेरी शादी है। मैंने कहा - मैं क्यों जाऊंगा - लखनऊ में मेरे लिए अब क्या रखा है। शादी तक तो तुम्हें ख़ुद मुझे रोकना चाहिये - उल्टा पूछ रहे हो 'कब जाओगे'। बब्बू ने बताया शादी के बाद - वे लोग हनीमून पर चले जाएंगे। और तुम घर में अकेले रह जाओगे -पीछे कुछ हो गया तो। पहले से बुकिंग कराने से सस्ता टिकिट मिल सकता है। मुझे क्या तुम जब चाहे जाओ - या मत जाओ। वीसा तो बढ़वाना पड़ेगा। एक बार फिर अपनी अव्यवहारिकता का गहरा अहसास मुझे हुआ। शादी के बाद पाकिस्तान होते हुए मैं भारत लौटा।

2 फरवरी 04

मुक्ति बोध सृजनपीठ सागर

शिलौंग से रैलन साहब का फोन आयाथा। गंगटोक, शिलौंग एण्ड साउथ एशिया वाटर एण्ड सेनीटेशन प्रोजेक्ट में सीनियर इंजीनियरिंग कन्सलटेन्ट का पद है। उसी पर मुझे चाहते हैं। मैं अगले हफ़्ते कलकत्ता - काव्यपाठ के लिए जाने वाला हूं। कलकत्ता से शिलौंग तक आने जाने का हवाई जहाज का किराया, ठहरने की व्यवस्था और जितने दिन रहूंगा उतने दिन की प्रोफ़ेशनल फ़ीस देने के लिए राजी हैं। मैंने कहा - शिलौंग आने के बाद तय करूंगा कि वहां रहूंगा या नहीं। भाजपा की सरकार आने के बाद, सागर में रहने का तो वसे भी प्रश्न नहीं उठता।

मुम्बई

18 मार्च 04

एन.आई.आर.डी. हैदराबाद की डाक्युमेन्ट्री 'परिवर्तन' का बेसिक फ़ौरमेट तैयार कर दिया है। बाकी काम टीकू और अमिताभ करेंगे। अमिताभ इन दिनों मुम्बई के बड़े-बड़े डायरेक्टरों की फ़िल्में कर रहे हैं। मेरे साथ काम करने में निश्चय ही उन्हें उलझन होती होगी -लेकिन कहते कुछ नहीं हैं।

शाम को जाना है। रात को रवीन्द्र कालिया के साथ रूक कर - सुबह शिलौंग चला जाऊंगा। वहां अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव के इंजीनियर काम कर रहे हैं। लेकिन वहां पानी की जो समस्या है उसकी जड़ मेरी पकड़ में आ गई है। कोई मुश्किल नहीं होनी चाहिए। शिलौंग सुन्दर है। मौसम भी बहुत अच्छा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर वहां रहे हैं। अज्ञेय भी।

21 मार्च 2004

लोअर लमसोरा, शिलौंग

मैंने घर ले लिया है। मैं आज यह तय करके निकला था कि जो भी पहली जगह मिलेगी, ले लूंगा। आते ही बर्तन ख़रीदे, स्टोव, मिट्टी का तेल, भोजन का सामान, और सब्जियां खरीदीं, भोजन बनाया और खाकर सोया। होटल का खाना मुझसे नहीं खाया जाता। सड़क तक जाने के लिए पहले सोलह सीढ़ियां उतरनी पड़ती हैं, फिर एक सौ चालीस सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। आज आते वक्त देखा - बाएं हाथ की दीवार पर किसी ने खासी भाषा में कुछ लिख दिया था। पूछने पर पता चला इसका अर्थ है, 'सावधान, आगे सीढ़ियां हैं'

सुमर/डौन की मा जिंगकिन/ हा ख्यात/

20 अप्रैल 2004

शिलौंग में हिन्दी पत्रिकाएं नहीं आतीं। कोई हिन्दी अख़बार भी नहीं। दिल्ली का कोई अख़बार नहीं। सिर्फ़ इण्डिया टुडे और आउट लुक (हिन्दी) आते हैं। गौहाटी से निकलने वाले सेन्टीनल का हिन्दी संस्करण और एकाध अख़बार आता है जो हर जगह नहीं मिलता।

शिलौंग बिना शाम का शहर है। शाम कब होती है, पता नहीं चलता। सीधी रात होती है, लेकिन रात होने से पहले घर पहुंचना ज़रूरी है। सात बजते बजते, दूकाने बन्द होनी शुरू हो जाती हैं। आठ बजे तक होटल-रेस्त्रां भी बन्द हो जाते हैं। सड़कों पर सन्नाटा हो जाता है टैक्सियां भी मुश्किल से मिलती हैं। बारिश लगभग रोज़ होती है। घर से निकलते वक्त जैसे लोग पर्स रखते हैं। वैसे ही छाता भी ले लेते हैं। रात को कोई घर से बाहर नहीं निकलता। बाहर से आये हुए लोग तो हरगिज़ नहीं। सबेरा चार बजे हो जाता है। आकाश में रंग आ जाते हैं।

25 जुलाई 2004

हिन्दी लेखक रूस्तम राय यहां हैं। भोपाल के प्रभुनाथ सिंह आज़मी भी हैं। 'नेहू' यानी विश्वविद्यालय में, भरत प्रसाद और माधवेन्द्र पाण्डेय है। दोनों लिखते हैं। हिन्दी कविता और आलोचना में गहरी रुचि है। 'नेहू' उत्तर-पूर्व का एक बड़ा शिक्षा केन्द्र है। मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, नागालैण्ड, अरुणाचल और पूरे मेघालय से छात्र पढ़ने आते हैं। भरत प्रसाद बताते हैं कि हिन्दी के छात्र लायब्रेरी से समकालीन हिन्दी के कविता संग्रह ले लेते हैं। फिर कविताओं के अर्थ पूछते हैं। इसे लेकर भरत प्रसाद और डा. माधवेन्द्र बहुत बेचैनी और छटपटाहट से भरे हैं। वे ढूंढ़ ढूंढ़ कर प्रतिष्ठित हिन्दी कवियों की कविताएं मेरे सामने रख देते हैं कि इनके अर्थ बताइये। और इन संग्रहों पर जो आलोचना लिखी जा रही है उसका भी। मैं उन्हें भरसक शान्त करने की कोशिश करता हूं और सच्चाई यह है - कि इस कोशिश में ख़ुद अशान्त हो जाता हूं। ढेर सारी कविताएं लिखी जा रही हैं - कविता संग्रह पर कविता संग्रह छपते चले जा रहे हैं। पढ़ने वाला कोई नहीं। अर्थ तो बाद की बात है।

14 फरवरी 2005

गेयनर चलती हैं तो पूरे आफिस में धमक होती है। फ़र्श लकड़ी का है। दूर से पता चल जाता है कि गेयनर इधर आ रही हैं। आत्मविश्वास से भरी और दबंग। गेयनर ने पहले जिन दो प्रोजेक्ट पर मुझसे सलाह ली वे व्यवहारिक नहीं थे। उन्हें लगा कि मैं उनके प्रस्तावों में रूचि नहीं ले रहा। इसके बाद से वह अस्ट्रेलियन

इंजीनियरों से ही सलाह लेती हैं। गेयनर अस्ट्रेलियन हैं। संयोग की बात कि आज फिर ऐसा ही हुआ। हम लोग स्थल निरीक्षण से लौटे तो गेयनर एकदम चुप थीं। दोपहर में मीटिंग रूम के सामने से निकला तो गेयनर हिचकी भर भर कर रो रही थीं। मीटिंग रूम खाली था –वहीं सेलफोन लिए खड़ी थीं। आंसुओं की धार बंधी थी। मैं उल्टे पांव लौट आया। एक घन्टे बाद मैं चुप चाप गेयनर के सामने जाकर बैठ गया। अचानक गेयनर उठकर खड़ी हुई, बोलीं – 'मि. सक्सेना मैं जा रही हूँ।'

'कहाँ', मैंने पूछा तो बोलीं – 'अस्ट्रेलिया'। ठीक है मैंने कहा, 'लन्च करके जाना'। लन्च पर गेयनर ने अपने बारे में बहुत कुछ बताया जो उन्होंने किसी को नहीं बताया। यह भी कि वह कविताएं और कहानियां लिखती हैं – और उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित है। काम करते हुए वह लन्दन, कोलम्बो, अदन, पेरिस, साउथैम्पटन और जाने कहां घूमती रही हैं। ''जब मैंने अपना सामान एक सूटकेस में भरकर चलती हूं तो सोचती हूं क्या छूट रहा है। जहां की मैं हूं वहां मेरा क्या है। एक बेगानापन निरन्तर मेरा पीछा करता है। जो चीजें मैं खरीदती हूं – क्या उनका दाम चुकाने भर से वे मेरी हो जाती हैं।''

अस्ट्रेलिया, मेरा देश क्या वह मेरा है। उसकी नींव में जो अपराध हैं क्या वे भी मेरे हैं। 1772 में पूर्वीतट पर अंग्रेज़ और पश्चिम में डच वहां आये। ब्रिटिश द्वारा जेल से अपराधियों को वहां निर्वासित किया गया। बेसहारा मजबूर औरतें और अनाथ बच्चे भेजे गये और क्रूरतापूर्वक उनसे काम कराया गया। ग़रीबों से उनके बच्चे लेकर अस्ट्रेलिया भेजे गये जिन्होंने लौटकर कभी अपने मां बाप को नहीं देखा। चर्च ने इस काम में मदद की। बच्चों से गुलामों की तरह काम कराया गया। वह भावुक हो गई थीं और बिना रूके अंग्रेज़ी बोल रही थीं।

Like slaves, Little kids built Australia.

सिर्फ़ काम नहीं – उनका यौन शौषण भी होता था और कोई सुनने वाला नहीं था। बहुत नन्हें हाथों ने किया है अस्ट्रेलिया का निर्माण। बहुत देर तक वह अपने बारे में बताती रहीं। भोजन के बाद वह घर चली गई मैं आफिस आ गया।

7 मार्च 2005

गेयनर ने मुझसे कविताएं सुनीं। अमिताभ खरे ने जो अंग्रेज़ी अनुवाद मेरी कविताओं के सृजन संवाद में प्रकाशित कराये थे और कुछ अन्य जो मेरे पास थे उनने पढ़े। पार और अच्छे बच्चे उन्हें अच्छे लगे। मैंने पूछा – अंग्रेज़ी के लिहाज़ से अनुवाद कैसे हैं। क्या सुधार की गुंजाइश है। कविताएं देना भूल जाने पर वह आग्रह करके ले गई और कहा कोई सुधार सम्भव नहीं है। यहां-वहां थोड़ा बहुत परिवर्तन-एकाध पंक्ति में किया भी।

इंडियन लिटरेचर में यह कविताएं छपनी थीं। मैंने अमिताभ खरे से अनुरोध किया कि वह ठीक समझें तो अपने नाम के साथ गेयनर का नाम भी दे दें क्योंकि मूल अनुवाद तो उन्हीं ने किये थे। गेयनर को देखकर अच्छा लगेगा।

* * *

इण्डियन लिटरेचर के अंक 225 में जो अनुवाद प्रकाशित हुए हैं उन पर गेयनर डासन का नाम भी छपा है।

* * *

गेयनर आस्ट्रेलिया जा चुकी हैं। उन्होंने एक कविता संग्रह मुझे भेंट किया है जिसमें कुछ अस्ट्रेलियन कवियत्रियों की कविताएं हैं। गेयनर की 'रिफ्यूजी' शीर्षक से एक कविता है –

मेरे हाथों में एक हल्का सूटकेस-
जिसमें मेरी belongings हैं
मेरे पांवों में परदेसी भूमि के स्पर्श की
थरथराहट हैं।

यहां belongings का अनुवाद सामान नहीं किया जा सकता। क्योंकि एक जगह वह कहतीं हैं-

It does not belong to me
but do I ?

गेयनर ने बताया था कि सिल्विया प्लाथ उनकी प्रिय कवियित्रियों में से हैं। सिल्विया प्लाथ की प्रसिद्ध कविता 'डैडी' है जो अपने पूर्वजों के प्रति अपराध बोध से भरी है। (सिल्विया प्लाथ के पिता की मृत्यु बचपन में ही हो गई थी)

Daddy

Daddy, I have had to kill you
you died before I had time

I have always been scared of you
with your Luftwaffe, your gobbledy goo
And your neat mustache
And your Aryan eye, bright blue
Panzer-man, Panzerman, o you

They always knew it was you
Daddy, daddy, you bastard, I'm through

21 जून 2005

टीकू ने 'विकलांग' विषय पर चेन्नई के अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह में एक मिनिट की फ़िल्म के लिए आइडिया मांगा है। मैंने फ़ोन पर ही एक बौने आदमी के बारे में बताया – जो एक क्यू में है और उसका हाथ खिड़की तक नहीं पहुंच रहा। वह अपने सामने दीवार ठकठकाता है – पूछने पर बताता है 'इस दीवार को एक खिड़की की ज़रूरत है।'

* * *

टीकू ने एस.एम.एस. भेजा है। फ़िल्म चेन्नई फ़िल्म समारोह के लिए चुन ली गई है। उसे कृष की शूटिंग के लिए सिंगापुर जाना है। अमिताभ ही कृष की एडिटिंग करेंगे। अम्मा के स्मृति दिवस पर वह जबलपुर आयेगी। अमिताभ भी आएंगे।

12 जुलाई 2005

खासी में सीढ़ियों को जिंगकिन कहते हैं। पुल को भी जिंगकिन कहते हैं। इसमें एक तर्क है। पुल दो

किनारों को जोड़ता है। सीढ़ी दो ऊंची-नीची सतहों को जोड़ती है। सीढ़ी भी पुल है।

यहां हर फल के नाम से पहले, सो s लगता है। जैसे सो s पियांग यानी आम फल। सो s तुरन यानी अनन्नास फल, इसी तर्ज़ पर, सो s मिन कैन, यानी मिर्च फल। आख़िर मिर्च भी तो अपने पौधे का फल है। बाना ने बताया था कि खासी नामों के अर्थ नहीं होते। वे बस ध्वनियां होती हैं। मैंने एक सप्ताह तक लाइ उमक्रा इलाके में सर्वे तथा लैवलिंग करके पता किया था कि लगभग पूर्व, उत्तर, दक्षिण इलाकों की ढलान, पश्चिम दिशा में है। बाद में सोचा लाइ माने तीन, उम याने पानी लाइन उम क्रा के विखंडन से पता चला कि इसका अर्थ हुआ 'त्रि-जलधारा'। बारिश में इस चौराहे पर तीन तरफ़ से पानी आता है और चौथी तरफ़ जाता है।

20 जुलाई 05

खासी भाषा में ताला चाभी के लिए शब्द नहीं हैं। इन्हें वह ताला शाबी कहते हैं। जिस समय वह हिन्दी भाषा के सम्पर्क में आये - उस समय तक ताला डालने का विचार उनके पास नहीं था। किस पर ताला डालते। पेड़ों पर, हवा पर, आकाश पर।

* * *

वह खासी स्त्री मुझे रास्ता समझाने की कोशिश कर रही थी।

एक लात। दो लात। तीन लात
फिर खून, फिर खून फिर खून
इसके बाद मौत आजायेगा।

लात रास्ते को कहते हैं और खून मोड़ को। मौत, शायद मठ से बना है। इसका अर्थ होता है स्मारक। वह कहना चाह रही थी - तीन रास्ते यानी तिराहा - फिर तीन बार मुड़ने पर - स्मारक आ जायेगा।

1.8.2005

चट्टान (कविता के लिए नोट्स के अंश)

चट्टान चुप है
जैसे तारे चुप हैं
वैसे नहीं जैसे चीटियां चुप हैं, मछलियां चुप हैं

चट्टान की तरफ़ से बोलती है बारिश,
हवा बोलती है और झींगुर बोलते हैं

चट्टान
सदा से नहीं थी चट्टान
सदा से यहां पर नहीं थी चट्टान

चट्टान होने के रहस्य
उसके यहां होने के रहस्य,
समुद्र के पास हैं, सूर्य के पास हैं, तारों के पास हैं
* * *
चट्टान के पास है एक भारी विचार
जो उसे हिलने नहीं देता
* * *
उसकी परतों के बीच है वर्षों का समय
सटा इस तरह
कि एक क्षण की भी गुंजाइश नहीं
वही क्षण धड़कता है सीने में
अन्तरिक्ष की सिम्फ़नी के दो स्वरों के बीच के मौन में
शामिल है चट्टान का मौन



कुछ यादें मुक्तिबोध की

सोमदत्त

6 मार्च 64

आज मुक्तिबोध को लेकर परसाई जी और ज्ञानरंजन आ गये – वे हमीदिया के प्राइवेट वार्ड नं. 6 में भरती हैं और सरकार पूरा खर्च कर रही है – जैसी भयानक खबरें सुनी थीं – सो नहीं निकला – उनका राइट साइड ज़रूर पैरेलाइज़्ड है – कमज़ोर हैं – इतने कि बात भी ज़ोर से नहीं कर पाते।

शाम आफिस से लौटकर सीधे शहर गया, अस्पताल में ही सब मिले। मुक्तिबोध जी प्रसन्न दिखे और बातचीत करते – ज्ञानरंजन से बतिया रहे थे।

हाँ, ज्ञानरंजन के बारे में एक अच्छा लतीफा हुआ : सुबह परसाई जी ने अक्षय कुमार, वगैरह से परिचय कराते हुए बढ़ी हुई दाढ़ी मूँछ वाले ज्ञानरंजन को बगदाद से आया हुआ रिसर्च स्कॉलर बताया – पूरी गम्भीरता का निर्वाह हुआ और परिचितों के बीच बात फैल गई। शाम हमें पता चला कि अक्षय बाबू तो पूरी गंभीरता से ही उनसे बात कर रहे थे।

सुना है, कुसुमधर जी ने नवभारत में मुक्तिबोध जी को दिये जा रहे शासकीय रुपये पर कम्युनिस्ट साहित्यकार और छैल आदि की दरिद्रता का जिक्र कर कोई फतवा खड़ा किया है – सब नाराज़ हैं।

माचवे जी ने इसी सप्ताह के धर्मयुग में 'मेरे मित्र मुक्तिबोध शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करें' शीर्षक से जो संस्मरण – उर्फ जीवनी – परिचय लिखा है – उसके दिये फतवों पर से भी सभी कुढ़े हुए हैं और उसे बड़ा ही Irresponsible writing मान रहे हैं।

शाम शरद के यहाँ ज्ञानरंजन को लेकर पहुँचे तो दुष्यंत और बक्षी मिले। वे सब लेखकों के कुछ रोज पचमढ़ी शिविर की एक योजना बना रहे हैं – देखें आगे क्या होता है।

आज अंग्रेजी का पहला परचा आया। ठीक रहा। हाँ मैट्रिक ए कोर्स के दस परचे आउट होने की वजह से इम्तहान कैन्सिल हो गये हैं। वे कहीं किसी स्थान पर चुरा लिये गये। और तो ठीक है। शाम कई रोज़ बाद अच्छी कटी।

आज की यादें बहुत सी हैं
न जाने कितने लोग,
न जाने कितनी बातें,
न जाने कितने क्षण,
सिर्फ दिखने (खिलने) के ही नहीं
लिखने के भी हो गये
हाँ! याद के
इस शहर में

ऐसे रोज
बहुत कम आते हैं
हम अक्सर
कम खुल पाते हैं
(छुल)
(घुल)

7 जून 64 – शनिवार

कभी कभी ...

कभी कभी
खुद को दिखने का
मन करता है –
कभी कभी
लगता है
जैसे हम हैं वैसे
अपने को देख सकें
नई निपट तटस्थता से
अपने से बात करें
खुद अपने आप करें
हम खुद को अधिक दिखें
कुछ क्षण तो जियें-मरें।
कभी कभी।

हाँ मन कितनी सारी बातें लिखने का है क्योंकि आज काफी बातें अच्छी-अच्छी हुईं। शाम मुक्तिबोध जी के हास्पिटल वाले कमरे में अक्षय बाबू ने, परसाई, विद्रोही, रामविलास शर्मा, विजयवर्गीय की उपस्थिति में एक किसी उर्दू के स्वर्गीय शायर दोस्त का लतीफा सुनाया। लतीफा यों था : चीन के वक्त अर्शी साहब ने एक बड़ी ...किस्म की नज़्म लिखी और अपने सारे प्रोग्रेसिव दोस्तों को सुनाई, उसका फादर कम्युनिस्ट पार्टी का sympathizer था – उस ने उन मित्र महोदय से कहा, "तुम इस अर्शी को रोज सुबह उठ कर पाँच जूते मारा करो, और मैं भी। इसका दिमाग़ ठिकाने रहने लगेगा। साला बहुत उल्टी-सीधी बकता है।"

अब ये साहब भी एक ही थे – चमड़े का जूता मारने से तो रहे। पर उन्होंने एक शानदार बात की –

उस रात उनके घर की बत्ती फेल हो गई तो वो कहीं से चिमनी ढूँढ़ ढाँढ़ कर ले आये और उसको जलाकर (रोशनी कर – उसमें उन्होंने 7-8 पन्ने का अर्शी को जूते मारने का constitution तैयार किया – जिसकी कुछ धाराएँ अक्षय जी को याद थीं। उन्होंने सुनाया –

'अर्शी को इबादत करते वक्त जूता नहीं मारा जा सकेगा, पर जूते मारते वक्त इबादत भी नहीं पढ़ने दी जायेगी।'

'अर्शी को बरसात में रबर के जूतों से, ठंड में कपड़े के जूते से, गर्मी में चप्पल से मारा जा सकता है, पर किसी भी हालत में खड़ाऊँ नहीं मारी जा सकेगी।'

'अर्शी को एक किश्त में सौ जूतों से ज्यादा नहीं मारे जा सकेंगे, यदि हिसाब सौ से ज्यादा का हो तो जूते किश्त में मारे जा सकेंगे।'

इसी तरह एक लतीफा परसाई जी ने सुनाया (उनके लिए पुराना है) वे बोले – प्रमोद ने एक रोज गैस छोड़ी और उस पर जरा झेंपे तो परसाई जी ने कहा – नहीं नहीं तुम चलने दो –

नौ द्वारों का पींजरा
तामें पंछी पौन (पवन)

वैसे कबीर का दोहा है –

नौ द्वारों का पींजरा
तामें पंछी कौन?

परसाई जी के कालमों की, कहानियों की लोकप्रियता की चर्चा हुई। मुक्तिबोध जी ने कहा छोटे छोटे टुकड़ों में बात भर देता है। परसाई जी के भोपाल के पाठकों, श्रोताओं के बारे में अक्षय जी ने बताया कि परसाई जी को लोग ऐसा सुनते हैं जैसा शायरों को, और वही अंदाज़, 'वाह-साहब! क्या बात है, मुकर्रर-फरमाइये!' और परसाई जी दुहराते हैं। हर बात पर वाह वाह। लोग बड़ा पसंद करते हैं।

फिर राम विलास शर्मा आ गये – उन्होंने आज भोपाल के डिपो मैनेजर की हैसियत से चार्ज ले लिया है, अहसान बिल्डिंग में रहेंगे – अब रोज मुलाकात होगी। भला आदमी है। सहज दिखता है।

रात 12.15 : Journey By Train, Ambition, Health is Wealth, पढ़ी

9 मार्च 64

मूर्खता की हद होती है। इम्तहान देने गया – सिविक्स का। पता चला – General Knowledge है। इम्तहान देने बैठा तो मूर्खों की तरह बिना कुछ देखे सुने पर्चा करने लगा। साढ़े 6 प्रश्न हिन्दी में कर आया – सोच रहा था डेढ़ छोड़ दिये – रंज में था। बाहर आकर देखा – जाना कि सिर्फ पाँच करने थे – फिर और पढ़ा तो देखा – Answer should be written in English only – मैं धक् से रह गया – सोच रहा था सौ में से 80 लूँगा – 60 का तो solid है। अब सोचता हूँ 0 मिलेगा। पता लगाऊँ गा। सिविक्स का अब कल है।

आज मुक्तिबोध जी ने कविता सुनाने को कहा – उन्हें बेचैनी हो रही थी – बोले 'इस वक्त मुझे कविता चाहिए, इसीलिए आप से निवेदन किया।' मैंने कहा संकुचित होकर, 'नहीं नहीं, आप तो आज्ञा दीजिये बस' और फिर मैंने 'सौंदर्य बोध' कविता सुनाई – उन्होंने सराहा उसे – बोले हर चित्र पूरा है – और

एक के बाद एक बनता चला जाता है – और बात पूरी स्पष्ट कहती है कविता – उसके अंदर से कुछ कहने को नहीं रह गया। मुझे संतोष हुआ।

वीरेन्द्र जी के बारे में बोले, वे confused idealist हैं। उनके विचार से वीरेन्द्र कुमार जैन में कोई अन्तर नहीं आया चिन्तन की दृष्टि से। जैसे 20 वर्ष पहले थे सो अभी भी हैं।

जैनेन्द्र जी की बात चल रही थी – विज्ञान कहानी पर से – कल या परसों परसाई जी कह रहे थे, वे अच्छे कहानीकार हो सकते थे पर दार्शनिकता ने सब चौपट कर दिया।

आज मुक्तिबोध जी बोले – ये सेठिये! इन्होंने पहले प्रेस खरीदे, अखबार खरीदे, संपादक-पत्रकार खरीदे और अब साहित्यकार को खरीद रहे हैं। जैनेन्द्र जी की बातों के दौरान नहीं कहा।

जब तक आँखों में
न समा जाये
रेत,
पाँवों में न गड़ जाय
गिट्टी
और उँगलियाँ न दब जायँ
दरवाजों के पल्लों से
तब तक
आभास नहीं होता
कि
कुछ है भीतर
जिसे पीड़ा भी होती है
जरा जरा से में।

11 बजे रात

-- ---

आज का दिन अच्छा लगा – सच में, कई रोज बाद आज दिन में कई बार अच्छा –सुखी फील किया खुद को। सुबह सुबह एम.एल.ए. रेस्ट हाउस में देवेन्द्र कुमार (पहले साथ में बंगाली) सर्वेश्वर, बृजराज तिवारी अधीर, रामसेवक श्रीवास्तव को सुना। देवेन्द्र का धर्मयुग में छप चुका गीत – 'एक पेड़ चाँदनी लगाया है आँगने, फूले तो एक फूल आ जाना माँगने' – और भी – 'ओ सूरज उतरो मेरे द्वार, और एक 'फसल परियों के देश, गिलहरियों के देश। और सर्वेश्वर ने – नये संग्रह 'बांस का पुल' से कुछ गीत सुनाये, और एक कविता – 'हर बार सर उठाने पर, चौखट से सर टकरा जाता है, और भी कुछ, काफी ठीक थी कविता, गीतों में *प्यार* कहीं कहीं ही अच्छा लगा। और विराट ने गीत पढ़े – 'पवन बजाता आया बँसवट में बंसरी' और वह बोर ग़ज़ल 'चेतना का स्फुटन हो गया' – मुझे समझ में नहीं आता, ये लोग क्यों नहीं समझ पाते कि ग़ज़ल की साइकोलॉजी और सादगी, रिद्म, कन्टेन्ट, हिन्दी में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। हिन्दी में वैसे ही कुछ प्यारी लोच नहीं है – फिर 'स्फुरण' 'स्पष्टीकरण' 'आमरण' में तो और भी नहीं, ग़ज़ल की सारी नाज़ुकी खत्म हो जाती है – और लिखना ही है तो बोलचाल की भाषा में लिखें – जैसे क़तील में लिखी हैं, ग़ालिब ने लिखी हैं, ज़ज़्बी ने या साहिर ने लिखी हैं – फिर उस फॉर्म या भावभूमि पर ही, यदि हम कुछ आगे बढ़कर या ऊँचे उठकर नहीं कर सकते तो बेकार है – वहाँ भी बहस हुई इस पर; काफी लोग इस बात को जानते

हैं कि हिन्दी में ग़ज़ल नहीं लिखी जानी चाहिये – संभव नहीं है।

छंद की बात चलते – सर्वेश्वर जी ने कहा कि 'नई कविता तो छंद के फार्म में लिखी ही नहीं जा सकती।' रामसेवक ने भी यही कहा – सर्वेश्वर ने कहा – ये जो 'नवगीत है', ये नई कविता को नहीं मानता है (मैं) – क्योंकि गीत में आप 'emotions' को नहीं छोड़ सकते।

फिर लौटकर आने के बाद – दोपहर ऑफिस में...

हाँ, कुछ कविताएँ लिखी गईं। एक गीत भी उठा है –

'अब की फसल संभालना'

'धर्मयुग' का पारिश्रमिक शायद अगले हफ्ते आ जाये। शरद जोशी आजकल परेशान है – बेहद- मेन्टली वरीड-नौकरी छोड़ने के मूड में हैं – और मामला सारा, आगे के भविष्य और समस्याओं का सुलझ नहीं पा रहा है – वैसे वे धर्मयुग में कालम, ज्ञानोदय, नई कहानियाँ वगैरह में लिखेंगे और जबलपुर समाचार, नई दुनिया के कालम भी शायद मिल जायँ, फिर नवलेखन का झगड़ा निबट जाये।

कल रात खाना नहीं मिला, पर दूध था, आज तो और भी बोरियत है – दूध भी नहीं है और मैं 11 बजे रात खाना खाने की हिम्मत नहीं कर सका – साउथ से पैदल – 11.50 रात (21 मार्च, 65)

* लेट गये थे, फिर शायद 1 बजे ऐसा लगा कि मुझे खूब भूख लगी है। पहले सोचा, ठीक है कल जरा जल्दी खायेंगे, पर फिर लगी, सो उठकर हलुआ बनाया – आटा, घी, शक्कर भर तो हैई। मुझे बाई की याद आ गई। 'रोज उठकर, जरा सा शुद्ध घी का हलवा बनाकर खा लिया करो।' अभी 1.30 बजे लगभग खा कर निबटा – पर मीठा भर था – सो जी भर गया।

23 मार्च

एक बज रहा है रात का।

शाम वहीं गया – श्रीकान्त वर्मा कल आये – सो कल ही दिखे – जरा से हैं – दुबले पतले – हाथ मिलाया – तो जरा से, नरम। कल वहीं मुक्तिबोध जी के यहां – वो पोलिश लड़की दिखी – 'आग्नेस', जिसने वार्सा में संस्कृत में एम.ए. किया है और अब अपने यहां पीएच. डी. कर रही है। मुक्तिबोध जी कल उसी से उसकी तारीफ कर रहे थे – उनकी किसी कविता का बहुत अच्छा क्रिटिसिज़्म लिख कर बेजा था उसने। बालों और चेहरे की बनावट को छोड़ सारा कुछ भारतीय – लाल ब्लाउज़, साड़ी, लाल टीका, मोटा-मोटा काजल, पाँवों में बिछिया, कलाइयों में शायद आठ आठ चूड़ियाँ। उनके पति श्री सोनी वहीं बैठे थे, Patriot में काम करते हैं। मुक्तिबोध जी उन्हें खूब चाहते हैं – ऐसा लगा।

आजकल मन उचटा सा है। घर जाने की तबीयत होती है और अकेलापन, खाने की बेमजगी – सब बहुत अखरता है – चार रोज हो गये रात का खाना नहीं खाया – बोरियत और एकरसता की वजह से। ऊब गया सब कुछ से।

बस

10 मार्च 65

सुबह जागते ही कविताएँ लिखी गईं। लगता है अच्छी हैं। मुक्तिबोध जी को सुनाऊँगा – पता नहीं कैसी लगती हैं उन्हें। आज सिविक्स का पेपर हो गया। अच्छा रहा।

और यादें!

19 मार्च

आज उन्नीस मार्च है – रात के बारह बजकर पाँच मिनिट हुए हैं और मैंने – आज पहली बार अपने घर में – याने अपने इस 13/12 में – खाना खाया – मुँह मीठा हो गया – सिर्फ मीठा – दूध – भात, और भात घी शक्कर, मलाई और तलाई। और कई रोज से टालते टालते मुझे आज टूट जाना पड़ा – अंदर से लग रहा है कि मैं लिख डालूँ –

आज जब लौटकर उस बीच वाले कमरे में पहुँच, मैंने रोशनी जलाई, तो मेरी आँखें खुद-ब-खुद उठ गईं – बिजली के फिटिंग फ्रेम में वह रोज ही सिकुड़ सिमट गई गौरैया, नहीं बैठी थी – मैंने चारों ओर नज़र दौड़ाई पर वह नहीं दिखी – और अचानक मुझे बिल्कुल अकेलापन महसूस होने लगा – रोज लगता था – कि इन चार कमरों में दो लोग रह रहे हैं – एक मैं और एक गौरैया – दिन भर गौरैया कहीं भी रहे – बल्कि दिन में मैंने उसे शायद कभी देखा ही नहीं – या अगर दिखी भी हो तो मैं पहचान न पाया होऊँ – मैं सुबह देर से उठता हूँ – और गौरैया खूब तड़के जागकर कहीं जा चुकी होती है – दिन भर मुझे उसका ख्याल भी नहीं आता था – रात जब मैं कपड़े उतार कर खूँटियों में टाँगने के लिए जाता था तभी स्विच और गौरैया दोनों की ही याद मुझे एक साथ आती थी – और बल्ब के जलते ही कमरे को और मुझे दोनों को ही हँसी आ जाती थी – 'बैठी है!' मैं हँसते हुए कहता और फिर खुद ही कई बार मेरे मुँह से 'हैलो!' निकल जाता – मैं लगभग 10 मिनिट कपड़े उतारता – रखता – वह मुझे देखती रहती और रह-रह कर मैं उसे। न मुझे उसके रहने से कोई तकलीफ – होती और न उसे मेरी उपस्थिति से संकोच, भय। वह चुपचाप बैठी रहती। फिर अचानक मुझे लगता, 'कहीं ये डर कर भाग न जाये' और मैं बल्ब बुझा कर धीरे से बाहर हो जाता, ताकि वह नार्मल फील कर सके।

आज स्विच ऑन होते ही वह गौरैया मुझे नहीं दिखी – सचमुच दुख हो आया – और मुझे अचानक एहसास हुआ कि आज अभी तक – सारे कमरे अँधेरे हैं – शाम से अब तक – और मैंने सारे बल्ब जला दिये – कपड़े वाले कमरे को छोड़कर – वह भर अँधेरा रहने दिया।

मुक्तिबोध जी – पहले से बेटर हैं – कांस्टीपेशन, इंडाइजेशन की वजह से कै वगैरह हो जाता है – सो कमजोरी आ जाती है – कल काफी अच्छे थे – काफी बातें कर रहे थे – पदुमलाल पुन्नालाल बक्षी से लेकर परसाई और रमेश बख्शी तक – और और जाने क्या-क्या – कविता के बारे में, समाज के बारे में वे उस सब की वजह से अब भी परेशान हो लेते हैं – रहे आते हैं। रोज ही जाता हूँ – परसाई जी यहीं हैं – कई रोज से – मुक्तिबोध जी परसाई जी को बहुत स्नेह करते हैं – विश्वास भी। और परसाई जी भी उन्हें बहुत चाहते हैं – कोशिश करते हैं कि उनकी हर इच्छा पूरी हो – आज लेटे लेटे मुक्तिबोध जी ने – पास ही बड़ी कुर्सी पर बैठे रहे परसाई जी की ओर हाथ बढ़ाकर कमज़ोर सी आवाज़ में कुछ कहा – वे पहले समझे नहीं – और जब समझे तो पास जाकर पलंग पर ही बैठ गए – और मुक्तिबोध जी की हथेलियाँ परसाई जी की हथेलियों पर रख गईं। फिर दोनों बातें करते रहे – मुक्तिबोध जी परसाई जी पर आई कोई नई जिम्मेवारी या तकलीफ के बारे में चिंतित हो रहे थे – गंभीर लहजे में परसाई जी कहे जा रहे थे – सब कुछ हो जाता है – और फिर जो Impossible हो, उसे Impossible मान के छोड़ भी देना चाहिए –

12.51 रात्रि

मनोज शर्मा

नाच

(एक)

बच्चे ने फिर ली है घुमेटी
सब कुछ घूम रहा है
जिसे आप दुनिया कहते हैं...
पेड़-पौधे, घर-बार, समस्त शोर तक
प्रकृति घूम रही है...

घुमेटी एक और
अख़बार में छपने वाले सच को तो इसका पता न चला
धरती को ख़बर न हुई घूमते हुए
जामुन को बैंजनी करने में
समय ने वक्त लिया जितना
उससे कहीं पहले बच्चे ने ख़ुद को साध भी लिया

(दो)

भाभी ने सुरमा डाला
घोड़ी चढ़े देवर की गुलाबी आंखों में
दोस्त मस्त नाच रहे हैं
गुट्टे के कुछ फूल हैं - बासंती
उमंग इन्हें मैला होने ही नहीं देती
चंदा हंसा

तो बहनों ने उसे अंगूठा दिखा दिया
मरता मर जाए बाप, लेकिन
इस वक्त उसे कोई परवाह नहीं
और बैंड बज रहा है, पटाखे छूट रहे हैं...

(तीन)

बीता, नाच लेता है इतराते हुए जैसे
वैसे ही नाच रहा है वह
जैसे सड़क पर नाचती है नयी लॉरी
जैसे गुल्लक में पहुंचने से पहले सिक्का हथेली पर नाचता है
जैसे उम्मीद नाचती है
वैसे ही नाचता मिल रहा है।

मोहल्ले वाले तक हैरान हैं
भला क्यूं, क्यूं भला?
पर अच्छा...
ज्यूं किसी को दिल खोल हंसते पा
दूजे के होठों पर आती मुस्कराहट की आहट
बची है अभी
अच्छा है...बहुत अच्छा है...
बगल से गुजरता कोई बोल भी देता है
भई! बल्ले-बल्ले!!

(चार)

क्या बड़े लोग भी नाचते हैं
क्या नाचते हैं पढ़े-लिखे
क्या नाचते हैं नेता, मनिस्टर
प्रधानमंत्री नाचता है क्या
क्या नाचते हैं हत्यारे
बड़ी कंपनियों के मालिक
क्या जनरल नाचते हैं और न्यायाधीश
क्या नाच लेते हैं चोर-डाकू, तस्कर, लुटेरे
क्या साहूकार नाचते हैं

नाचते हैं लेखक, पत्रकार, संपादक क्या
चलें इनकी छोड़ें
क्या नाचता है किसान
मजदूर अपनी जवान होती बिटिया संग नाच लेता होगा क्या
क्या सांझ ढले घर लौट बाबू नाचते मिलता है?

(पांच)

शहर के उस सबसे बड़े चौरस्ते पर
एक बाजीगर
पिछले दस हजार साल से नाच रहा है
कहते हैं, बी.आर. चोपड़ा को अपने सीरियल में
जब अभिमन्यु-वध के उपरांत कौरवों को नाचते दिखाना था तो
उन्होंने कलाकारों को इसी बाजीगर की नृत्य-मुद्राएं कॉपी करने को कहा था
यही सीख बाद में भीम बने कलाकार के तो बहुत ही काम आयी

जब ठुमका लगाता है बाजीगर
तो लगता है जैसे
वरक बदला तो इतिहास ने
पखेरू तक अगर उसी पल दम न ले लें
तो उनके डैने जल जाते हैं...
एड़ी मारता है जब वह ज़मीन पर
पता नहीं क्या हो जाता है मांओं को
काम धंधे छोड़
व.ीरणे डालने लगती हैं
अजीब गाढ़ा लेसदार थूक छोड़ता है
गहरा हरा कभी केसरी
थकता नहीं है बेसुध नाचता, कलाबाजियां दिखाता है
चीखता है उन्मत्त
कोई भाषा नहीं है कहीं
हा...हा...हीही...हूहू...हू...हू

(छः)

यह कैसा हड़कम्प है भाई
कहां लिये जा रहे हो गाड़ियां लाद-लाद
अक्षत, नैवेद्य, सिंदूर-मौली, पान-सुपारी-श्रीफल,
यह कैसा उल्लसित मंत्रोच्चार
इतनी ख़ुशबू कहां से आ गयी
इतनी डकारें
इतनी भव्यता
बताओ तो इसका कोई अर्थ, मानी कोई
इस धुले माहौल में कुछ तो होगा
चुप्पी तोड़ो... डर सा लगने लगा है अब
हूक उठी है पता नहीं क्यों
जैसे कुछ ढह गया हो...
होने क्या जा रहा है ऐसा
कि दंदल पड़ गयी है गवैयों को
नचैये नाचना भूल गए हैं...

(सात)

जब वहां पहुंचा
और मेरे बैग की तलाशी लेता गार्ड
प्लास्टिक की खाली बोतल को दाएं-बाएं हिला, हंसा
ऐसा लगा कि फिजूल ही आया
सितारा होटेल के सामने पसरे समुद्र में
स्वप्न थपेड़े ले रहे थे
उन्हें नींद का इंतज़ार नहीं था
होटेल का गलियारा अंधविश्वास की मानिंद अंदर तक खुल रहा था
थोड़ा सा और आगे हुआ तो आनंद टुनकते मिला
दीवारों पर शानदार आबनूसी चित्र थे
दर्शकों के काफी करीब तक आते हुए
यकीनन किसी ने पंखों वाले घोड़े पे बैठे उन्हें टांगा होगा
वहां से गुजरा तो लगा किसी ने मेरा गिरेबान खींचा है
इतने में महामहिम पधारे

और मेरे इतने पास से निकले
कि मेरी देह तड़क उठी
मुझे लुक कर बैठने की जबरदस्त चाह हुई
पर इसे दबा मैं हॉल में घुस गया
अंदर सिंदूरी तितलियां फैली थीं
कुर्सी पर बैठते ही बेखटके भव्यता अंदर उतरनी शुरू हो गयी
जैसे ऋतु पोनी कात रही हो
जैसे प्रभाती का शुरुआती आलाप
जैसे नृत्यांगना ने छनका के देखे हों घुंघरू
लगने लगा कि मुलायम होते-होते अब तो
मैं अपनी हथेलियों की तहें लगा सकता हूं

यह इक्कीसवीं सदी की बीतती हुई ऐसी शाम थी
जब हड्डियों तक को चीटियां लगनी शुरू हो गयी थीं
बाज़ार ऐसी-ऐसी चीजों से अटे पड़े थे जो
एकाध घंटे में पुराने पड़ जाते
रोटी-पानी मुहाल बनाए जा चुके थे, जबकि
धर्म बताशे की तरह आसान था
राष्ट्र के नाम पर
कुनबे के कुनबे ज़िंदा जलाए जाने का रिवाज़ स्थायी हो चुका था
कितना कुछ होता है ठीक हमारी नाक के सिरे पर
जबड़े किचकिचाते हैं
और कभी छोटी सी बात से ही हम
मुड़-तुड़ जाते हैं

बहरहाल
शंखनाद जैसा कुछ हुआ
अैर महामहिम बोलने को उठे
किसी कवि के सम्मान में देश के सर्वोच्च व्यक्ति का वक्तव्य
कमाल है
मन थिरकने को हुआ
'कविता का कोई बदल नहीं' - जैसे मंच फुसफुसाया हो
बेशक, देख लें...
क्षेत्रीय भाषा के इसी कवि ने
हाल ही एक इंटरव्यू में

शहर अपने में घटे जनसंहार को
जवाब देना ठहराया था, तथा
प्रकृति-प्रेम पर नाचने को ही
मनुष्य का असली कर्म बताया था...

झल्लाए कुछ विचारक, संस्कतिकर्मी वगैरह
ऐसा लग रहा है आज
बेतुकियां ही बजाते रहे
लाख धुनकें
लोगों के सर चढ़ रही है कविता
कई जनवादी तो स्टॉल लगा
पुरस्कृत हुई यही कविता बेच रहे हैं
पीट रहे हैं तालियां भद्रजन
कहीं नहीं है रिक्त स्थान

महामहिम का उल्लास तो फटा पड़ रहा है
रोके रुक नहीं रहा पुरुषार्थ
भाषा में कितना धारदार हो सकता है राष्ट्रप्रेम
सिद्ध हो रहा है

अचानक लगा कि काफी देर हो गयी है
बाहर अंधेरा
भ्रष्ट होते-होते पूरी तरह फैल चुका होगा
वक्तव्यों से अब लगने लगा है कि
होटेल के इस हॉल तक का निर्माण भी
पुरातन काल के उसी इंजीनियर ने किया होगा...
जिस अग्निबाण से पिछाड़ी जा चुकी है मिसाइल
उसके अवशेष देखने की ज़बरदस्त इच्छा जगी है
बगल की कुर्सी वाले ने
अपने उत्साह की ताव न झेलते हुए
जैसे ही गर्व भरी मुट्ठी हवा में लहरायी
मुझे लगा कि जरूर
यह पुष्पक - विमान वाले कारीगर का वंशज रहा होगा

कविता की इस चकमक सहोदरता पे अचंभित हुआ मन

सभी चेहरे एक जैसे लगने लगे
सभी चेहरों पर कुछ नाचने लगा गौरव भरा
विलुप्त होने लगीं तमाम समस्याएं
एक कल्याणकारी राज्य के अंदर
बलिष्ठ भुजाओं में गदाएं हैं
और धनुर्धारी छोड़ रहे हैं मंत्रसिद्ध बाण

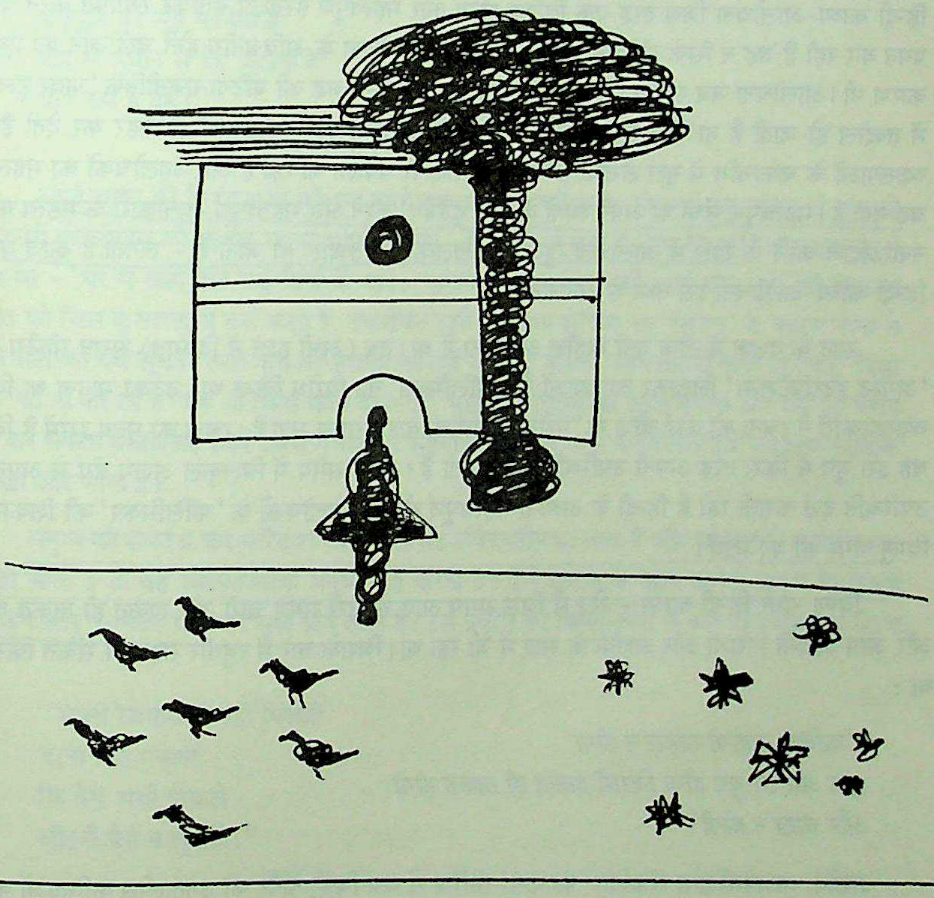
मुझे एकबारगी लगा
कहीं बदल तो नहीं गयी है भाषा
संशय, वेदना, नृशंसता, घृणा...
ऐसे ही कई शब्द हुआ करते थे हिंदी में
कवि का कविता-पाठ चल रहा है
जिसके बोल मेरे पल्ले नहीं पड़ रहे
किंतु लोगों पर इसका असर जाहिर है
कुछ तो बीच-बीच में
अपनी जगह पर खड़े हो, नाच जैसा ही कुछ करने लगे हैं
सबसे अधिक मंत्रमुग्ध है संचालक
इतना सहमत कि पारिवारिक नज़र आने लगा है
कविता की इतनी ज़बरदस्त प्रतिक्रिया से
मैं तो उमड़-उमड़ आया
पेशाब की ज़बरदस्त हाजत हुई
बाहर जगमगाहट का एकालाप गूंज रहा है
कुलीन जनों की चाय की तैयारी चल रही है
और यदि पढ़ न लेता प्लेट तो
पहचान ही न पाता कि सजी सामग्री दरअसल बिस्कुट हैं

इतने में
कोई आदमी जैसा ट्रॉली से खहकर तेजी से बाहर को निकल गया
पता नहीं किस आवेग में या हौसले में या चाह में
मैं भी बढ़ा उसी ओर
अजब दृश्य है झुटपुटे में यहां
एक मरियल बूढ़ा है और उसके हाथ में दूधधुला नैपकिन
जिसे हवा में लहरा-लहरा उसने
कुछ ऊट-पटांग हरकतें शुरु की हैं
धीरे-धीरे मुझे समझ में आने लगा उसका नाच

समझ आने लगा है बच्चा एक घुमेटी लेता हुआ
बीर पे बारी जातीं बहनें
एक कामगार अपनी बिटिया संग ठुमके लगाता
दफ्तर से लौटा बाबू ताली बजाता
नाचता रहा बूढ़ा पस्त होने तक
और आखिरकार उसने
नैपकिन से सुड़का नाक, फिर उसे गेंद बना
जोर से समुद्र की ओर उछाल दिया।

* *

मनोज शर्मा की यह पहली कविता 'पहल' में प्रकाशित हुई है। जम्मू के हैं, इन दिनों मुम्बई में रहते हैं।



दिल के आइने पे पड़ती है इस तरह से निग़ाह

पंकज पराशर

सत्तामूलक प्रतिस्पर्द्धा में उपजने वाली मध्यवर्गीय निराशा और दीनता को मैत्री/गुट निर्वाह के कारण हिन्दी काव्य-आलोचना जिस तरह एक विशिष्ट मूल्य और महत्वपूर्ण हस्तक्षेप बताकर स्थापित करने का प्रयत्न कर रही है वह न सिर्फ बौद्धिक दरिद्रता है बल्कि आलोचना के अविश्वनीय होते चले जाने का एक कारण भी। आलोचना जब सच कहने का साहस खोकर उखाड़-पछाड़ की घटिया राजनीतिक 'पावर टूल' में तब्दील हो जाती है तो खोटे सिक्के की तरह अच्छी रचनाओं को भी 'चलन' से बाहर कर देती है। व्याख्याओं के चकाचौंध में मूल लेखक/कवि को हाशिए पर धकेला जा रहा है और आलोचकों का महत्व बढ़ गया है। महत्वपूर्ण मंचों पर अपने लोगों के 'नेम ड्रॉपिंग' करने और महत्वपूर्ण रचनाकारों के महत्व को नज़रअंदाज करने के खेल में आलोचना खुद एक खिलवाड़ में तब्दील हो जाती है – लगता है आज की हिन्दी काव्य-आलोचना इस तथ्य से अनजान है।

साठ के दशक में ठीक यही माहौल अमेरिका में था। तब (अभी हाल में दिवंगत) सूसन सौन्टैग ने 'अगेंस्ट इंटरप्रिटेशन्स' लिखकर व्याख्याओं के 'पॉलिमिक्स' का विरोध किया था। उनका मानना था कि व्याख्याकारों ने रचना को कोई चीज़ या 'मैसेज' ढोनेवाला वाहन समझ रखा है। रचना का मूल्य इसमें है कि वह इस युग में किस तरह अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराती है। अपने समय में बिलकुल अलग ढंग से अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराती रही है हिन्दी के अत्यन्त महत्वपूर्ण लेकिन आलोचकों के 'पॉलिमिक्स' की शिकार; विष्णु नागर की कविताएँ।

विष्णु नागर हिन्दी काव्य – क्षेत्र में जिस समय आए थे; उस समय चारों ओर ताकत ही ताकत थी और आम आदमी निराशा और आतंक के साए में जी रहा था। जिसके बारे में रघुवीर सहाय ने संकेत किया था :

''कविता न होगी साहस न होगा
एक और ही युग होगा जिसमें ताकत ही ताकत होगी
और चीख़ न होगी''

अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित 'पहचान' सीरिज में जब विष्णु नागर की उनतालीस कविताओं की

पुस्तिका 'मैं फिर कहता हूँ चिड़िया' सन् 1974 में छपी तो देश में आपातकाल घोषित होने की भूमिका बनने लगी थी। जनवरी 1974 में गुजरात में भारी उथल-पुथल उस समय हुई थी जब अनाजों, रसोई गैस, तेल एवं अन्य आवश्यक चीज़ों की कीमतों में हुई वृद्धि से पैदा जन आक्रोश छात्र-आंदोलन के रूप में फूट पड़ा। गुजरात के नक्शे कदम पर चलते हुए मार्च में बिहार के छात्रों ने भी इसी प्रकार का आंदोलन शुरू कर दिया। जयप्रकाश नारायण अपने राजनीतिक सन्यास को त्याग कर इस आंदोलन का नेतृत्व करने लगे। उन्होंने 'सम्पूर्ण क्रांति' का नारा दिया जो उस पूरी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष था जिसने हर व्यक्ति को भ्रष्ट बनने के लिए मज़बूर कर दिया था। लेकिन वैचारिक अस्पष्टता और कमज़ोर व्यक्तित्व के कारण आर.एस.एस. - जनसंघ जे.पी. के आंदोलन पर हावी होता चला गया। फलस्वरूप आंदोलन के राजनीतिक चरित्र में भी भारी बदलाव आ गया।

विष्णु नागर उस समय उसी उम्र के थे जिस उम्र के नौजवान जे.पी. की अगुवाई में 'संपूर्ण क्रांति' के लिए आंदोलन कर रहे थे; जिसे नागार्जुन ने बाद में उचित ही 'संपूर्ण भ्रांति' कहा था। नागर उस समय अपने समय को किस तरह देख रहे थे, देखिये :

''कुत्ते को रोटी नहीं मिलती
वह सूँघता फिरता है - हताश
लोग अपनी लाशें छुपाकर चीं पों कर रहे हैं

थककर वह मुँह फाड़ता है
बाद में जुबान से देह चखता है
रोटी नहीं है देह।''

– मैं फिर कहता हूँ चिड़िया, पृ. 4

अपने समय की विडंबनाओं को दर्ज़ करते हुए नागर हर बड़े कवि की तरह उस परंपरा से जुड़ रहे थे जिसमें तुलसीदास को भी यह मानना पड़ा - 'आग - बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की' और नागार्जुन ने देखा था - 'घर में आए दाने कई दिनों के बाद।' नागार्जुन छिपकलियों की गश्त और चूहों की शिकस्त हालत को जिस कुशलता से दर्ज़ करते हैं, तकरीबन उसी कुशलता लेकिन नए 'विजन' के कारण नागर न सिर्फ रोटी की गंध सूँघते फिरते कुत्ते की हताशा को दर्ज़ करते हैं बल्कि 'लोग अपनी लाशें छुपाकर' किस तरह 'चीं पों कर रहे हैं' वह भी। कोई कवि दुख-दर्द, भूख और ग़रीबी का इतना यथार्थ और मार्मिक वर्णन तभी कर सकता है जब वह स्वयं उससे गुजरा हो। कहना न होगा कि नागर ने इन स्थितियों को खूब नज़दीक से देखा और भोगा है।

मनुष्य की संवेदना जब क्षरित हो जाती है तो वह संवेदनहीन हो जाता है और समाज की सामाजिकता नष्ट हो जाती है तो वह समाजविरोधी मनुष्य पैदा करता है। ऐसे समाज के लोग अपनी क्रूरता के कारण परपीड़न और परनिंदन में अपार सुख प्राप्त करते हैं। इस प्रवृत्ति को विष्णु नागर ने क्या खूब बेनकाब किया है :

''साली रेजगारी ही नहीं मिलती
वरना क्या मजाल
कि तेरी अर्थी निकले
और मैं पैसे न लुटाऊँ।''

– वही, पृ. 13

यहाँ यह गौरतलब है कि विष्णु नागर ने यह कविता तब लिखी थी जब न तो आर्थिक उदारीकरण हमारे यहाँ आया था और न समाज आज की तरह इतना आत्मकेन्द्रित था। जिस समाज का मनुष्य अर्थी निकलने पर पैसे लुटाने की तमन्ना रखता हो और रेजगारी की किल्लत पर खीजता हो, उसकी क्रूरता और अमानवीयता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रवृत्ति का अमानवीय आदमी किसी की सफलता और खुशी देखकर इस कदर दुखी होता है जैसे उसके हिस्से की खुशी और सफलता छीन ली गई हो। दूसरों को सब कुछ यूँ ही मिल गया हो। लेकिन नागर कहते हैं :

''कितनी चौपाइयाँ रटी हैं उस गरीब ने
तब जाकर कहीं पहुँचा है, वह भी हाँफता हुआ इस जगह
जिसे देखकर तुम्हारे मुँह में पानी आ गया।''
– वही, पृ. 6

हिन्दुस्तान के सामंती समाज में ग़रीबों का कुछ भी पा लेना प्रभु वर्ग के लोगों के लिए असहनीय रहा है। लोकतंत्र में राजनीति का, सत्ता पाने के तरीके का तो किसी हद तक अपने यहाँ लोकतंत्रीकरण हुआ है, लेकिन सामाजिक और सामंती व्यवस्था का लोकतंत्रीकरण नहीं हो पाया। तभी तो आज भी, बकौल रघुवीर सहाय ''फटा सुथन्ना पहने जिसका/गुन हरचरना गाता है।'' हरचरना जैसे लोगों की नियति ही रही है अधिनायकों के 'गुन' गाने की। यहाँ तक कि विष्णु नागर के समय में भी 'हरचरना' के बाल-बच्चे 'गुन' गाने के लिए मजबूर है :

''सबसे कह
सबसे झगड़
राजा अच्छा बोले।''
– वही, पृ. 20

क्योंकि आज के राजा (यू.पी. के नेता राजा भैया की कारकर्दगी को याद रखें।) भी हर हाल में जनता के मुँह से यही सुनना चाहता है – राजा अच्छा बोले। आज के लोकतांत्रिक शासन में भी यह कहना संभव नहीं कि राजा बुरा बोले।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी लोकतांत्रिक देश में आपातकाल की घोषणा करके तमाम नागरिक अधिकारों को कुचलते हुए मात्र उन्नीस महीने के दौरान एक लाख से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया और मौलिक अधिकारों को अप्रत्यक्ष रूप से दुर्बल बनाने के लिए उसे संविधान में सन्निहित राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों का मातहत बना दिया गया।

1974 में प्रकाशित 'मैं फिर कहता हूँ चिड़िया' पुस्तिका में विष्णु नागर की काव्य-भाषा में व्यंग्य की तुर्शी की जो एक झलक मात्र दिखलाई पड़ी थी वह 'तालाब में डूबी छह लड़कियाँ' (1980) संकलन में स्पष्ट रूप से सामने आई। नागर की कविताओं में व्यंग्य शब्दों की मितव्ययिता, वर्णनात्मकता से सायास परहेज, अलंकारविहीन भाषा का चुनाव आदि जो प्रवत्तियाँ बाद में स्पष्ट होकर सामने आती है, वे सारी प्रवृत्तियाँ अपने बीज रूप में 'मैं फिर कहता हूँ चिड़िया' में साफ लक्षित की जा सकती हैं।

रोने-धोने के खिलाफ वे शुरू से रहे हैं। इसलिए उनकी भाषा में एक तरह खिलंदड़पन है। इस खिलंदड़पन के पीछे कितने गम हैं यह कोई नहीं जानता। क्योंकि दया या सहानुभूति प्राप्त करना नागर की कविता का लक्ष्य नहीं है। बार-बार असफल होकर भी संघर्षशीलता की ताकत नए सिरे से प्राप्त करके जनता पर अपने भरोसे को बनाए रखना उनकी कविता का स्वभाव है। 'रहिमन निज मन की बिथा मन ही राखो

गोय' की तरह इस पीड़ा का अंदाजे बयां देखिये :

''वह जब रोता है
तो बच्चा होने से ही
दुखी नहीं लगता है।

वह जवानी में भी रोयेगा -
आपा खोकर
तब किसी को जानने नहीं देगा
कि वह रोया था।''
- तालाब में डूबी छह लड़कियाँ, पृ. 29

यह 'हार्लिक्स' पीकर हर महीने कपड़े तंग हो जाने की शिकायत करने वाले बच्चे का बिम्ब नहीं है। इस तरह के बच्चों के दुखी होने का कारण उनकी भूख होती है और जवानी में सबसे छुपाकर रोने की वजह भी भूख ही होती है। लेकिन विडंबना यह है कि बचपन में रोकर वह अपना दुख बताता है लेकिन जवानी में सबके सामने रो भी नहीं सकता। सबको सब कुछ बता भी नहीं सकता। तकरीबन इसी तरह की त्रासद स्थिति को भारतेन्दु-युग के कवि प्रताप नारायण मिश्र ने कुछ इस तरह बयान किया है : ''कछु दोष दै मारहिं अरु रोवन नहिं देई।'' और रघुवीर सहाय तक आते आते सत्ता हँसी से भी डरने लगी : ''हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है।'' जिस राजनीतिक व्यवस्था में हँसने और रोने पर भी निगाह रखी जाती हो उसमें जवानी में आपा खोकर रोने वाला व्यक्ति रोने की वज़ह किसी को कैसे बता सकता है?

डर-डर कर जीने वाले आम आदमी को ढूँढ़ने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता :

''वह खुद जहाँ कहो, वहाँ मिलेगा।
दौड़ता आता सड़क-दर-सड़क
बसों से, कारों से, डरों से बचकर।''
- वही, पृ. 6

बचकर यदि वह न चले तो क्या पता किस अमीरजादे की गाड़ी के नीचे आ जाए। नव अभिजात्य वर्गों की सनक का कब शिकार हो जाए कहना मुश्किल है। सो, 'हमारा' यह आम आदमी दौड़ता-भागता हुआ न सिर्फ खुद को बचाने की कोशिश में मुब्तिला रहता है बल्कि अपनी बेटी की जान बचाने की कोशिश में भी तैंतीस करोड़ देवता के अतिरिक्त इस देश के जो तरह-तरह देवता हैं वे कब इस 'आम आदमी' की दुनिया को तबाह कर देंगे, कौन जानता है?

''देवता जिधर दौड़ रहे हैं
उधर मेरी बच्ची है
कुचल न जाये
मेरी बच्ची
वह धूल के रंग में रंगी है।''
- वही, पृ. 40

विष्णु नागर 'सारवादी' परंपरा के अत्यन्त सरल कवि हैं। उनके यहाँ भाषा अलंकारों और विचारों के बोझ तले कराहती हुई नजर नहीं आती। वे न आख्यान रचने की कोशिश करते हैं, न विवरणों का बोझ

कविता पर डालते हैं। शमशेर ने त्रिलोचन की कविता के लिए कहा था : ''सरलता का आकाश था/जैसे त्रिलोचन की रचनाएँ/नींद ही इच्छाएं'' करीब-करीब वही सरलता नागर के यहाँ हैं जिसमें वे अपनी कविता संभव करते हैं। यूँ कहें कि नागर की काव्य-भाषा त्रिलोचन-नागार्जुन-रघुवीर सहाय की परंपरा को आगे बढ़ाती हुई अपने मूल्यांकन के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र - 'सरलता का सौंदर्यशास्त्र' की मांग करती है। जिसमें न संस्कृत काव्यशास्त्र के औजार रखे जाएँ और न पश्चिम से आयातित शब्दावलियों, विचारों के अंत के घोषणा-पत्रों की। आखिर हमारे लोक-परंपरा में मौजूद गीतों,पदों, दोहों के अर्थ और सौन्दर्य को जानने के लिये जनता तो किसी शास्त्र और शब्दकोश की जरूरत महसूस नहीं करती। वहाँ गायक/कवि चौपाल में सुनाता है और जनता बिना किसी शास्त्र, कोश या आलोचक की मदद लिये सब कुछ समझ जाती है। यहाँ सावधानीपूर्वक लोकप्रिय साहित्य में और मनोरंजक साहित्य में फर्क करने की जरूरत है।

स्त्री-जीवन की विडंबनाओं को बिना किसी नारे या विस्फोटक भाषा की मदद लिये नागर किस प्रकार अत्यन्त सरलता से रखते हैं, देखिये :

''वह गाय की तरह जी
और गाय की तरह मर गयी''

यहाँ तक कि वह जी रही थी या ता-उम्र तिल-तिल करके मर रही थी, उसे नहीं पता। एक अर्थहीन जीवन की इससे बड़ी त्रासदी और क्या हो सकती है कि उसे यह पता ही न चले कि वह जी रही थी या मर रही थी :

''गाय की तरह उसकी आँखों की कोरें कभी भींगी हुई दिखीं
गाय की तरह उसे मरने का कोई पछतावा नहीं हुआ
गाय की तरह उसे पता नहीं चला था कि वह जी रही थी''

– पहल-78, पृ. 149

यह अधिकांश भारतीय स्त्री-जीवन का सत्य है। हमारी सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि आज भी स्त्रियों को गाय से अधिक कुछ भी नहीं समझा जाता। यहाँ गाय की तरह निरीह, मौन होकर स्त्री सबके लिए मंगलकामना करती हुई मर जाती है। बावजूद इसके सामाजिक और पारिवारिक हर तरह की हिंसा का शिकार स्त्री ही होती है। वह कहीं भी जलायी जा सकती है - चाहे वह स्थान गुजरात हो या ससुराल। कहीं भी स्त्री बलात्कृत हो सकती है - ऑफिस में, घर की चहार दीवारियों के भीतर, दंगों में, ट्रेनों में, बसों में; यहाँ तक कि थाने और अदालतों तक में। महिला सशक्तिकरण के तमाम दावों के बावजूद स्त्री और गाय में बहुत अधिक फर्क नहीं। जब वह मर जाती है तब उसकी याद आती है। वह भी इसलिए कि एक वफादार गुलाम के न रहने की कमी खलती है :

''जब तक वह थी
मुझे कभी अच्छी नहीं लगी
जब वह नहीं है उसको याद करके बेहाल हो रहा हूँ''

यह विकलता क्यों है इसकी हकीकत देखिये :

''मालिकों को अपने गुलाम तक बहुत याद आते हैं
जब वे एक दिन संसार से कूच कर जाते हैं -
गालियों और दुत्कार की दुनिया से बहुत दूर।''

– वही, पृ. 148

आज के बाज़ारवादी युग में अनुपयोगी चीज़ों की कोई क़ीमत नहीं। वह चाहे गाय हो, पत्नी या फिर जन्म देने वाली माँ। लाभ-हानि के समीकरण की महत्ता के आगे रिश्तों-नातों की कोई अर्थवत्ता नहीं। उपभोक्तावादी समाज का आत्मकेन्द्रित मनुष्य अपनी मक्कारी को लाचारी बताकर किस बेशर्मी से दलीलें पेश करता है, देखिये :

"मेरी लाचारी समझिये
मैं हूँ बड़ा व्यापारी
मैं गाय को माँ न मानूँ
तो क्या अपनी माँ को माँ मानूँ
उसकी नहीं है पूंछ
वह कैसे पार कराएगी वैतरणी!"

– बच्चे, पिता और माँ, पृ. 52

आज के बड़बोले स्त्री-विमर्शकारों के बीच विष्णु नागर की कविता धीरे से, कभी-कभी तो 'अंडरटोन' होकर अपनी बात कहती है। जो कि बातें कम, बातों का सार अधिक होती है। यह भारतीय स्त्री के स्वभाव का भी हिस्सा है कि वह बोलती बहुत कम है। बोलती वह तब भी नहीं जब अधेड़ पुरुष के संग ब्याह दी जाती है, शराबी पति से अकारण पिटती और कदम-कदम पर अपमानित होती रहती है। हत्या और आत्महत्या से यदि बच जाती है तो कुबेर पिता की संतान न होने कारण तालाब में डूबी छह लड़कियों की तरह 'मजबूरन' खुदकुशी कर लेती है।

स्त्री-जीवन के अनेक पक्ष नागर की कविताओं में पूरी विडंबना बोध और गहरी करुणा के साथ अभिव्यक्त हुआ है। वही थकी और उदास स्त्री खड़ी रहती है चुपचाप – उम्र से पहले ही न केवल बुढ़ाती हुई बल्कि स्त्री-प्रगति के सारे आँकड़ों को झुठलाती हुई और अपने दुख को अपने ही अंदर कैद किए हुए। बहुसंख्यक स्त्रियों की त्रासदी को नागर की कविता बहुत सरल तरीके से उठाकर हमारे सामने सवालों की श्रृंखला छोड़ जाती है :

"शुरू-शुरू में वह दाल में नमक डालना भूल जाती थी
फिर वह नमक कम डालने लगी
अब ठीक है, अनुपात है, स्थिति में पूरा सुधार है
चिन्ता की यही बात है।"

– वही, पृ. 80

वाकई! क्योंकि स्त्री यहीं से उस साँचे में ढलने लगती है जिसमें ढल जाने के बाद गाय की तरह चुपचाप मर जाने को ही वह अपनी नियति मान लेती है। शुरू में अल्हड़ता और अनुभव की कमी के कारण दाल में नमक डालना भूल जाने वाली नववधू डाँट-डपट, मार-पीट, थाली उठाकर फेंकते पुरुषों की जलती आँखों को देखकर नमक डालने का अनुपात सीख लेती है और उसकी भुलक्कड़ी भी गायब हो जाती है। पितृसत्तात्मक समाज उसके स्वाभिमानों को रौंदकर उसे 'निरीह अबला' में बदलना शुरू कर देता है और वह चुप रहती है। बकौल नागर 'चिंता की यही बात है।' इस बात से भला कौन इनकार करेगा?

प्रेमचन्द ने जिस तरह 'होरी' के जीवन की त्रासदी और दारुण पक्षों को दिखाया है उस तरह नागर – स्त्री-जीवन के सिर्फ त्रासद पक्षों को ही नहीं दिखाते। उनकी दृष्टि एकांगी नहीं है। वे संपूर्णता और पूर्ण रागात्मकता के साथ स्त्री-जीवन की कविताएँ रचते हैं :

''लड़की का जागा
बादलों से पुराना प्यार
वह लाँघने लगी
दरो-दीवार।''

– वही, पृ. 82

या यह मिसाल देखिये :

''उसने कहा –
ऐ मैं दौड़कर पहाड़ पर चढ़ जाऊँ?
शिखर पर रह आऊँ कुछ देर?
मैने कहा – हो।''

– कुछ चीजें कभी खोई नहीं, पृ. 79

'हो' यानी ठीक है जो चाहे करो। मालवा की संस्कृति का यह शब्द 'हो' पुरुष की अन्यमनस्कता को, एक तरह की वीतरागी प्रवृत्ति को जिस ढंग से अभिव्यक्त करता है वह अद्‌भुत है। एक तरफ स्त्री की अल्हड़ता, प्रेम, व्याकुलता-आतुरता है पुरुष के प्रति; तो दूसरी तरफ पुरुष की कुछ हद तक उपेक्षा; कि ठीक है और यह ठीक है वह तब भी उसी वीतरागी लहजे में कह देता है जब वह आसमान में फुर्र से उड़ जाने की बात करती है।

नागर के काव्य-संसार में स्त्री अपनी समग्रता में आती है – हार-जीत, त्रासदी-प्यार सभी रूपों में। क्रीड़ा या विडंबनाओं के बखान में भी भाषिक स्फीति या 'बाहरी उछल-कूद' नहीं दिखाई पड़ती।

स्त्री की तरह हाशिए पर पड़ी चीज़ों और हाशिए के समाज की चिंता नागर की अनेक कविताओं में प्रमुखता से दिखाई देती है। किसी चीज के 'चलन' को बनाने और मिटाने के पीछे की मानसिकता का विश्लेषण वे परत-दर-परत उधेड़ते हुए बहुत गहराई से करते हैं। समकालीन हिन्दी कविता के प्रचलित मुहावरों और शब्दावलियों को नागर 'चलन' में होने के कारण या एक व्यापक समाज में स्वीकृति के कारण स्वीकार करने से गुरेज़ करते हैं। बावजूद इसके 'दस पैसे का सिक्का' जिस तंत्र के द्वारा बाहर कर दिया गया उसे कविता में ले आना तो मुमकिन है लेकिन जीवन में नहीं:

''वह सिक्का है इसलिए उसे भूलना मुश्किल है और याद करना तकलीफदेह
उसे मैं कविता में तो ले आया, मगर जिंदगी में ले जाना मुश्किल है।''

– तद्‌भव -6, पृ. 139

गहरी राजनीतिक समझ और साफ वैचारिक दृष्टि के बिना किसी स्थिति को ठीक-ठीक समझ पाना किसी कवि के लिए संभव नहीं। यहाँ तक कि अपने देश की जनता, मिट्टी और इतिहास को भी इसके बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता। कोई कवि जब इतिहास या भूगोल को विषय बनाकर कविता लिखता है तो वे कविता निरा इतिहास या भूगोल नहीं होतीं, बल्कि नई काव्य-दृष्टि के आलोक में नई अर्थवत्ता भी प्रास करती हैं। पाब्लो नेरुदा के यहाँ यह कोशिश अपने सफलतम रूपों में दिखाई देती है :

''माच्चु पिच्चु चीथड़ों की नींव पर ही क्या तुमने
पत्थर पर पत्थर रखे?''

माच्चु पिच्चु के संग 'चिथड़े' शब्द का प्रयोग नेरुदा ही कर सकते थे जिनकी वैचारिक दृष्टि और

इतिहास-भूगोल की समझ बिलकुल साफ थी। और विष्णु नागर की? पेड़ पर लिखी उनकी एक कविता देखिये :

''अँधेरे में तुम्हारी जड़ें हैं
उजाले में
तने रहो, तने रहो।''

– कुछ चीज़ें कभी खोईं नहीं, पृ. 100

उजाले में तनकर खड़े रहने के लिए जरूरी है कि जड़ अँधेरे से रस खींचती रहे। अगर अँधेरा न रहा तो पेड़ उजाले में खड़े होने लायक नहीं रहेगा। समाज का भी यही सत्य है कि अँधेरे में, हाशिए पर रहने वाले लोगों के दम पर ही उजाले में तनकर खड़े रहने वाले लोग वाकई 'तने' हैं। विडंबना यह है कि इसके बाद भी उजाले वाले अँधेरे वालों की अहमियत नहीं जानते।

विष्णु नागर की अब तक प्रकाशित सारी कविताओं को देखने से यह बिलकुल साफ हो जाता है कि वे हाशिए पर जीने के लिए अभिशप्त मनुष्य के कवि हैं। वे उस जीवन-दर्शन का अपने तईं पुरज़ोर विरोध करते हैं जो बहुत सारी चीज़ों को हाशिए पर डालता हुआ सिर्फ लाभ कमाने और खुद तक ही महदूद रहने में यकीन रखता है। शायद यही कारण है कि सूअरों को भी आदमी से कोई उम्मीद नहीं रही :

''सूअरों को शायद यह आनुवंशिक रूप से मालूम होता है
कि आदमी की नज़र में वे कुत्तों-बिल्लियों-चूहों से भी गये-बीते हैं
इसलिए वे आदमी से कोई उम्मीद नहीं रखते।''

– पहल-78, पृ. 147

कुछ कवियों की कविताएं भले कभी उम्मीद न छोड़ती हों लेकिन नागर की कविता 'उम्मीद' लफ़्ज की खुशफहमी में इस कदर नहीं खोतीं कि नाउम्मीदी के वजूद तक से गाफिल हो जाए। कविता में उम्मीद की बातें करना अच्छी बात है लेकिन ज़मीनी हकीकत को नज़रअंदाज करके नहीं। इस दहाड़ते आतंक के बीच नागर जानते हैं कि किससे उम्मीद है और किससे नाउम्मीदी :

''उड़ने वालों से चलने वाले को कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए
जिस तरह उड़ने वाले भी एक-दूसरे से नहीं रखते
जिस तरह उड़ने वाले, चलने वालों से भी नहीं रखते''

– तदभ्व-6, पृ. 139

बावजूद इसके चलने वाले लोग उड़ने वालों की बातों पर यकीन करके बहुत उम्मीद से उन्हें लड़ने लायक बनाते हैं और ठगे जाते हैं। कई बार उड़ने वालों को बदल-बदलकर देखते हैं और नाउम्मीद हो जाते हैं। उड़ने वालों में से ही किसी एक पर उम्मीद टिकाने के लिए अभिशप्त जनता की मज़बूरियों, त्रासदी और नाउम्मीदी का आख्यान रचने की कोशिश में विष्णु नागर की कविताएं संलग्न दिखती हैं।

नागर 'अमर कविताएँ' अमर होने के लिए नहीं लिखते। वे 'मर-मर' कर लिखते हैं – रोज़ मर-मर कर जीने वालों की दारुण व्यथा-कथा। लोगों को भूल-भुलैया में उलझाकर 'अमर' होने के लिए जो लोग कविताएं लिखते हैं वे 'सर्वहारा' का ध्यान यथार्थ से हटाकर उसे तिलिस्मी संसार में ले जाते हैं :

''अमर कविताओं में
इस कदर सुन्दरता होती है कि

उन्हें पढ़कर रामप्यारी का बेटा
भूल जाता है कि वह गरीब माँ की संतान है
कि नागनागिनी गली में
उसका एक ढहता हुआ मकान है''

– कुछ चीज़ें कभी खोई नहीं, पृ.32

अभी हाल में प्रकाशित 'एक कवि की नोट बुक' में राजेश जोशी विष्णु नागर को उनके ठण्डे मुहावरे के लिए फटकार लगाते हैं लेकिन ऐसा करते समय वे ठण्डेपन के वजह की पड़ताल करना एकदम जरूरी नहीं मानते। हालाँकि वे विसंगतियों विद्रूपताओं को पहचानने की उनकी नाटकीय अन्विति की तारीफ करते हैं, इसके बावजूद राजेश जोशी की कमज़ोरी यह है कि वे हिन्दी की समृद्ध काव्य-परंपरा और आलोचना की समृद्ध परंपरा से शायद अनजान हैं। अन्यथा राजेश मुहावरों की सामयिकता को यदि समाजशास्त्रीय व्याख्याओं की रोशनी में देखते तो इस तरह की हल्की टिप्पणी नहीं करते।

विष्णु नागर अकसर दुहराए जाने वाले उस मुहावरे को भी एक नई अर्थवत्ता देते हैं जो गाहे-बगाहे दुहरा दिया जाता है – सुबह का भूला यदि शाम को लौट आए तो उसे भूला हुआ नहीं कहते। मगर उसके जाने के बाद और आने के बीच जो एक पूरा दिन बीता वह यूँ ही तो नहीं गुजरा! दुनिया जबकि रोज बनती है और बिगड़ती है तब एक पूरे दिन में वैसी की वैसी ही कैसे रह सकती है? और यह भी कि सुबह का भूला लौटने तक का जो समय छोड़ गया वह यूँ ही तो नहीं बीता? इस अंतराल को नागर कुछ इस तरह देखते हैं:

''कहते हैं
सुबह का भूला
शाम को अवश्य लौटता है
कई बार
शाम हो जाती है
और लौटने की जगह नहीं मिलती।''

– वही, पृ. 102

क्योंकि जाने वाले के साथ ही समय नहीं चला जाता। वह उसकी अनुपस्थिति में भी बदलता है, घटता-बढ़ता और बनता-बिगड़ता है। इसलिए शाम तक लौट आने तक सब कुछ उसी तरह नहीं रहता- समय बदलता रहता है और यह बदलाव नागर की काव्य-दृष्टि से अलक्षित नहीं रहता। वे इस दुनिया की हर चीज़, हर बदलाव को सिर्फ मनुष्य की नज़र से ही नहीं देखते – इस रोज बनती दुनिया को वे एक कीड़े की नज़रों से भी देखने की तमन्ना रखते हैं :

''इस दुनिया से
मैं एक कीड़े की तरह
जाना नहीं चाहता,
एक कीड़े की नज़र से
इसे
जानना
है
जरूर।''

– वही, पृ. 98

इस जिज्ञासा का पर्यवसान न दर्शन में होता है और न भाषाई अमूर्त्तन में। वे कलावादी कवि नहीं हैं इसलिए उनके यहाँ हर दृष्टिकोण और विचार रहस्यवाद के शून्य में जाकर नहीं खो जाते। कीड़े की तरह वे इस दुनिया को जानता चाहते हैं ताकि कीड़ेतर जीवों, 'उड़ने वालों' को यह पता चल सके कि उनके बारे में कीड़ों की क्या राय है। फिर भी :

''जो दीखता है, वह होता नहीं
जो होता है, वह दीखता नहीं
यह सच है।''

– वही, पृ. 83

अपने यहाँ आर्थिक उदारीकरण और व्यापक समाज का सांप्रदायिकीकरण लगभग एक साथ शुरू होता है। राम शिला पूजन के बाद बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना और एक-पर-एक घोटालों का पर्दाफाश होना भी तकरीबन साथ-साथ शुरू हुआ। यह एक ज्वलंत सच्चाई है कि चाहे भागलपुर हो या गुजरात, या फिर मुंबई; भीषण दंगे वहीं हुए जहाँ मुस्लिम समुदाय के लोग आर्थिक रूप से अधिक समृद्ध थे। 'बुर्जुआ' और 'पेट्टी बुर्जुआ' दोनों के आर्थिक स्वार्थ सांप्रदायिकता के प्रसार से सधते थे। पेशे से पत्रकार होने की वजह से सांप्रदायिकता और इसके शिकार बेकसूर, निश्छल लोगों से उनका साबका पड़ता रहा है। नागर ने साहित्य और पत्रकारिता दोनों मोर्चे पर इसका कड़ा विरोध किया है – उसी समय से जब ख़तरनाक रूप से इसका प्रसार होने लगा और इसकी भयावहता और खतरे का अनुमान उनके कई समकालीनों को बाद में हुआ।

नागर गुजरात में जिंदा जला दिए गए उन मासूमों के मुँह से बिखरी इबारतों को कुछ यूँ तरतीब देते हैं :

'वे जला दिए गये
जिन्होंने कभी सोचा था कि
मरेंगे तो कम से कम कब्र की दो गज़ ज़मीन तो
नसीब होगी इस मुल्क में।'

– साक्षात्कार, मई, 2002

लेकिन वे मासूम इतने बदनसीब थे कि दो गज़ ज़मीन भी उन्हें न मिल सकी इस कूए यार में। इस उजड़े दयार में। चंडीदास का यह कथन ''शुनह मानुष भाई/शबारे उपरे मानुष-सत्य/ताहार उपरे नाई'' अब अप्रासंगिक हो गया है। एक मंदिर और एक मस्जिद के आगे लाखों मानुष के जान की कोई कीमत नहीं। मानुष-सत्य के ऊपर अब धार्मिक इमारत के सत्य की कद्र ज़्यादा होने लगी है। तभी तो हाल में जारी जनगणना रिपोर्ट में यह खुलासा हुआ है कि देश में स्कूलों और अस्पतालों से ज़्यादा धार्मिक इमारतें हैं। पर लोगों का जी मचलता रहता है – और-और धार्मिक इमारतों की तामीर के लिए। नागर किस तरह देखते इन सब चीज़ों को, देखिये:

''33 करोड़ देवताओं के इस देश में
100 करोड़ मनुष्य हैं
यानी हर तीन मनुष्य के पीछे
एक ईश्वर है
यानी एक परिवार के पीछे तो

कई-कई बार
दो-दो ईश्वर हैं।''

– कुछ चीज़ें कभी खोईं नहीं, पृ. 21

समाज को और ईश्वर चाहिए। 33 करोड़ ईश्वर से काम नहीं चल रहा है। इतिहास इस बात का गवाह रहा है कि सांप्रदायिकतावादी लोग धर्म में दिलचस्पी ही नहीं रखते हैं। वे सिर्फ धर्म और धार्मिक पहचान का इस्तेमाल और दोहन राजनीतिक उद्देश्यों के लिए जनता को सांप्रदायिक बनाने के उद्देश्य से करते हैं। धार्मिक मतभेद अपने आप में न तो सांप्रदायिकता के कारण हैं और न ही इसकी जड़। जैसा कि गाँधी जी ने 1942 में कहा था, ''धर्म एक निजी मामला है जिसकी राजनीति में कोई जगह नहीं होनी चाहिए।'' लेकिन राजनीति में धर्म को जगह देकर मनुष्य विरोधी माहौल बनाने में इसका खुलकर इस्तेमाल किया जाने लगा है।

नागर इस 'ग्लोबल' समय में हत्यारे के 'ग्लोबलत्व' को पहचानने में तनिक भी धोखा नहीं खाते :

''ग्लोबलाइजेशन के इस जमाने में
हत्यारे का नाम कुछ भी हो सकता है
जार्ज मोदी भी और नरेन्द्र बुश भी।''

– सोच, पृ. 84

ऐसे लोग (?) किसी देश, किसी भेष और कोई भाषा बोलने वाले हो सकते हैं लेकिन काम उनका तकरीबन एक जैसा होता है – लोकतंत्र की हत्या और फासिज्म, तानाशाही की स्थापना। कभी अफगानिस्तान, इराक के मासूमों पर बम बरसाना तो कभी हामिला औरतों, बच्चों को जिंदा जलाना ऐसे लोगों का क्रूरतम शगल होता है। एक ऐसे आतंक का ग्लोबली तरीके से प्रसार करना जिसके आगे लोकतंत्र, संप्रभुता, स्वाभिमान सब नतमस्तक हो जाए। सीधे-सीधे कहें तो प्रकारांतर से ताकत की सत्ता स्थापित करना। नागर ऐसे दुर्दिनों में भी कविता की ताकत को कुछ यूँ देखते हैं :

''जिस समाज में ताकत की – सिर्फ ताकत की पूजा होती है
मंदिर बनाए जाते हों, पुजारी रखे जाते हों, प्रसाद बाँटा जाता हो
वहाँ जो यह समझ सके कि ताकत के पीछे न भागने की भी एक ताकत होती है
वही सिर्फ, सिर्फ वही लिख सकता है ऐसी कविता, जो कविता सी न हो
जो आलोचकों के काम की न हो''

– तद्भव-6, पृ. 139

आलोचकों के काम की जो कविता होती है, उसके बारे में अकसर कहा जाता है कि वह नखदंतविहीन होती है। दुख को राग वागेश्वरी में गाकर सुनाने वाली होती है, लेकिन कविता (!) होकर भी वह ताकत के आतंक में जी रहे सर्वहारा की आवाज़ नहीं बन पाती। हाशिए के मनुष्य की दहाड़ बनकर तानाशाहों के कान में पिघले हुए शीशे की तरह घुसने की हिम्मत नहीं बटोर पाती है। नागर ऐसी कविता रचने की आकांक्षा नहीं रखते।

अनलंकृत भाषा का चुनाव विष्णु नागर काफी सोच-विचार करके करते हैं। उनके पास जो थोथाविहीन काव्य-भाषा है वह जीवनानुभव और संवेदना के सार को पूरी मार्मिकता के साथ बयान करने में समर्थ है। नागर अपनी भाषा की काव्य-परंपरा से भली-भाँति वाकिफ हैं इसलिए वे अपने अनुभवों और दैनिक-व्यवहारों से अपनी एक अलग भाषा निर्मित करते हैं और एक अलहदा शिल्प भी। अपने अनुभव के अनुसार

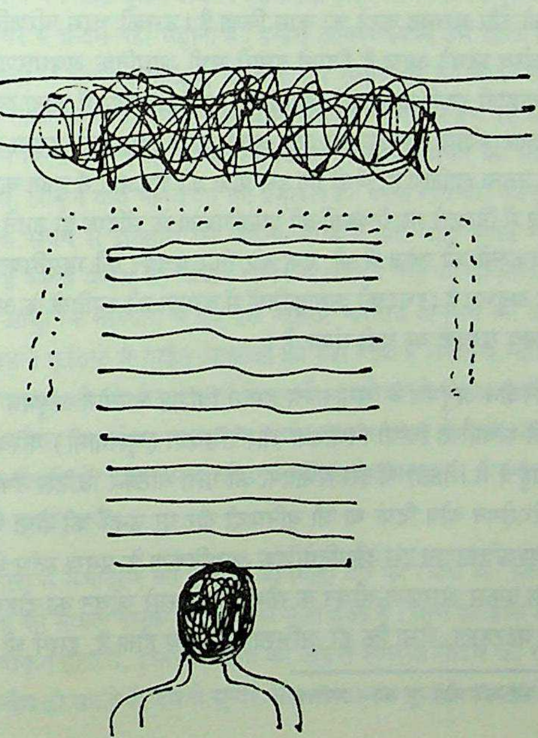
ही वे अपना एक शिल्प ढूँढ़ते हैं, लेकिन अपनी भाषा की काव्य-परंपरा से अनजान बनकर नहीं। मतलब ये कि विष्णु नागर समकालीन हिन्दी कविता में अपनी साफ वैचारिक राजनीतिक दृष्टि, जनता के साथ गहरी संपृक्ति रखने और सरलता का एक नया सौन्दर्यशास्त्र रचने वाले कवि हैं।

हिन्दी कविता में उनके महत्व को अभी ठीक से रेखांकित किया जाना शेष है और उनकी काव्य-भाषा की अर्थवत्ता की पहचान भी।

* *

सहायक ग्रंथ

1. आजादी के बाद का भारत - 1947-2000 : विपिन चन्द्र
2. सांप्रदायिकता : एक परिचय : विपिन चंद्र
3. अचिन वानाइक : कम्यूनलिज्म कंटेस्टेड : रिलीजन मॉडर्निटी एंड सेक्योलराइजेशन, नई दिल्ली, 1997
4. राजेश जोशी : एक कवि की नोट बुक, राजकमल, नई दिल्ली
5. विष्णु नागर : कविता के साथ-साथ, मेघा बुक्स, दिल्ली
6. जॉन आर. बूड : एक्सट्रा-पार्लियामेंट्री अपोजीशन इन इंडिया : एन एनालिसिस ऑफ पॉपूलिस्ट एजिटेशंस इन गुजरात एंड बिहार, पैसिफिक अफेयर्स, खंड XLVII
7. कुलदीप नैयर : द जजमेंट : इनसाइड स्टोरी ऑफ द इमर्जेंसी इन इंडिया, नई दिल्ली।



क्या फ़र्क़ है कि सबको मिले एक सा जवाब*

कृष्णमोहन

आधुनिक युग के पिछली दो शताब्दियों के अनुभव से गुज़र चुकने के बाद हम इस दौरान अर्जित अपने सभी मूल्यों, लक्ष्यों, संस्थाओं और उपलब्धियों को प्रश्नों के विकट घेरे में पाते हैं। स्वतंत्रता, जनतन्त्र और समाजवाद के आधार पर निर्मित व्यवस्थाएं अपने विपरीत में बदल गई हैं। अब गुलामी, साम्राज्यवादी निरंकुशता और बाज़ारवाद से उन्हें अलगा पाना मुमकिन नहीं रह गया है। जिस विज्ञान और तकनीक के बूते हमने आधुनिकता के अपने सफ़र को अंजाम देने की सोची थी, उसने लगभग निरपवाद रूप से विषमता को बढ़ाने और ताक़तवर को और मज़बूत करने का काम किया है। उसकी चरम परिणति के रूप में अमरीका का अति आक्रामक वर्चस्व सामने आया है जिसने हमारी सभी आधुनिक अवधारणाओं में उनके विपरीत अर्थ भर दिया है। यह कहानी इतनी ताज़ा और ठोस है कि इसके विस्तार में जाना व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के सामने विकलता, संशय, प्रश्नाकुलता और अपने अन्दर-बाहर ही जड़ता को तोड़ने की लगभग वैसी ही तड़प का जाग उठना लाज़िम है, जैसी कि इस यात्रा की शुरुआत में हुआ करती थी। इस मायने में यह अपने वयस्क जीवन में निकाले गए निष्कर्षों की प्रामाणिकता के संदिग्ध हो उठने के बाद उनकी जाँच-परख के साथ उनके विकल्पों की खोज में भी, एक बार फिर बचपन की मासूमियत में लौटकर यात्रा को पुनर्संयोजित करने जैसा अनुभव है। इधर की कथाकृतियों में बचपन की स्मृतियों के अवगाहन की प्रवृत्ति जो बढ़ी है, उसके पीछे मानव सभ्यता का यही संकट है।

उस सामान्य मानवीय अनुभव के समानान्तर हमारा विशिष्ट भारतीय अनुभव यह है कि हम अपनी आंतरिक गत्यात्मकता से संचालित किसी निर्णायक और रैडिकल (मूलगामी) परिवर्तन के वाहक बनकर आधुनिक युग में नहीं पहुंचे थे। 1857 में इस संभावना का गला घोंटकर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने हमारे ऊपर आधुनिकता का रंगरोगन थोप दिया था जो बुनियादी तौर पर उन्हीं की सेवा करता था। रेल, डाक, पुलिस, अदालत और विश्वविद्यालय इस औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रमुख स्तंभ थे जो आज तक अपनी भूमिका निभा रहे हैं। इस प्रकार असफल जीवन के साथ-साथ अधूरे जीवन का दोहरा अभिशाप झेलते हुए हम यहाँ तक पहुँचे हैं। बहरहाल, जैसा कि हर अभिशाप के साथ होता है, इसमें भी एक वरदान छिपा है।

---

* आओ न हम भी सैर करें कोहे तूर की – ग़ालिब

विकसित देशों ने तो अपनी-अपनी क्रांति का एक चक्र पूरा कर लिया है और उसका खट्टा मीठा मज़ा भी चख लिया है, लेकिन विकासशील देशों में अकेला चीन उस सीमा को पार कर सका है। जबकि हमारे देश में 1857 के दमन से उपजी बेचैनी और घुमड़न को समाप्त करने के लिए नवजागरण युग से ही उदारवादी अथवा लिबरल आदर्शों के वाहक तमाम 'सेफ्टी वाल्व' लगाए गए लेकिन वह आजादी के दौर के क्रांतिकारी आंदोलन, तेलंगाना, नक्सलवादी, श्रीकाकुलम और भोजपुर जैसी जगहों से लगातार फूटता रहा है। अब जबकि औपनिवेशिक उपहारों की असलियत भी उजागर हो गयी है, और देश के टुकड़े करने की कीमत पर आई 'आजादी' भी बेपर्दा हो गयी है, यह सही समय है जब हम भारतीय अपनी अर्थवत्ता की खोज में उतर सकते हैं और आधुनिकता तथा जनतन्त्र के अपने मॉडल की रचना कर सकते हैं। इसी वस्तुगत आवश्यकता के कारण पिछले दिनों उठीं सभी बहसें 19 वीं सदी के नवजागरण, स्वाधीनता संग्राम और विभाजन पर केंद्रित होती जा रही हैं और भगतसिंह, सावरकर, जिन्ना, गांधी, नेहरू और माउंटबेटन की भूमिका पर पुनर्विचार तेज़ हो गया है। हमारी इसी राष्ट्रीय आकांक्षा को व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध ने 'चम्बल की घाटी में' शीर्षक कविता में कहा था -

'मैं एक थमा हुआ मात्र आवेग,
रुका हुआ एक ज़बर्दस्त कार्यक्रम,
मैं एक स्थगित हुआ अगला अध्याय
अनिवार्य,
आगे ढकेली गयी प्रतीक्षित
महत्त्वपूर्ण तिथि,
मैं एक शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य!!

दोहरे अभिशाप में निहित दूसरा अवसर यह है कि हमारे सामने अपने पूर्ववर्तियों के अनुभवों का पूरा इतिहास है। हमें अंधेरे में क़दम नहीं बढ़ाना है। हमारी आवश्यकताएं हमें रास्ता दिखाती हैं। हम यह जान चुके हैं कि किन रास्तों से होकर स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और समाजवाद की तरफ़ नहीं जाया जा सकता। हमें वैकल्पिक रास्तों की खोज करनी है। मसलन सोवियत संघ के अनुभव से हम यह सीख सकते हैं कि मनुष्यता के पक्ष में काम करने वालों को विचार का सामना विचार से और हथियार का सामना विचार और हथियार दोनों से करना चाहिए, लेकिन वहाँ भी विचार की प्रमुखता हो; वरना हथियारों की होड़ में फंसने से नहीं बचा जा सकता। आंतरिक संघर्ष से इतिहास को तोड़ना-मरोड़ना और बाह्य संघर्ष में सैन्य प्रतिद्वन्द्विता करना परजीवी, शासक वर्गों को तो सोहता है, लेकिन दलित-उत्पीड़ित वर्गों की शक्तियों को इससे बचना चाहिए। मानव-इतिहास के आधुनिक अध्याय में हुए इस विशिष्ट भारतीय अनुभव को आत्मसात करते हुए हमारे अनेक लेखकों ने अपनी कृतियों में युगीन आकांक्षा को स्वर दिया है। जितेन्द्र भाटिया का उपन्यास 'जुस्तजू ए निहां' उर्फ 'रूणियाबास की अंतर्कथा' उनमें से एक है। इससे पहले कि कथा में प्रवेश करके हम देखें कि अपने समय के इस जटिल यथार्थ का कलात्मक रूपांतरण इस रचना में कैसे संभव हुआ और विश्वसनीय बन सका, आइए इस स्थिति में निहित कला की एक बुनियादी समस्या पर ग़ौर करते चलें जिससे कि अतीत की कुछ गुत्थियाँ भी सुलझ सकें।

यथार्थ के कला में रूपांतरण की समस्या बुनियादी तौर पर रचना के 'सत्य' की समस्या है, जबकि उसकी विश्वसनीयता का सवाल उसके 'सौन्दर्य' से जुड़ा हुआ है। सत्य इतिहास और समाज द्वारा प्रदत्त और स्वीकृत अथवा अस्वीकृत होता है, इसलिए कला की अपनी समस्या सौंदर्य की समस्या है। रचना में निहित विचार तभी विश्वसनीय हो सकते हैं जब वे सुन्दर और कलात्मक ढंग से व्यक्त हों। यहां एक बात बिलकुल

साफ़ होनी चाहिए कि रचना कितनी भी अमूर्त्त हो और रचनाकार कितना भी यथार्थ-विरोधी, प्रत्येक रचना अपने स्वरूप में यथार्थ के प्रति किसी न किसी दृष्टिकोण को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से समाविष्ट रखती है। अब यह उसकी संरचना पर है कि वह अपने दृष्टिकोण को (जो सचेतन भी हो सकता है और अचेतन भी) कितना प्रभावशाली बन सकती है।

कला में सत्य और सौंदर्य के रहस्य पर से पर्दा उठाते हुए ग़ालिब ने कहा था :

क़तरे में दजला दिखाई न दे और जुज़्ब में कुल
खेल लड़कों का हुआ दीदा ए बीना न हुआ

अंश में संपूर्ण यानी व्यष्टि में समष्टि की अभिव्यक्त कला का मूलभूत दायित्व है। छोटे से छोटे विषय को उठाकर की गई सार्थक रचना व्यापक यथार्थ को व्यंजित करती है। इस प्रक्रिया में रचना के दो स्तर हो जाते हैं- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। इन दोनों में पारस्परिक अन्त:क्रिया, सामंजस्य और गाहे ब गाहे एक दूसरे में होने वाला रूपांतरण सौन्दर्य की प्राथमिक शर्त है। ध्यान रहे कि रचना मूलत: काल्पनिक प्रतिसृष्टि है और सतही यथार्थ से उसका कम ही लेना-देना है।

ज़ाहिर है कि इस शर्त को पूरा करने के लिए दोनों पक्षों की मौजूदगी की आवश्यकता पड़ेगी। प्राय: यह संभव नहीं होता क्योंकि प्रत्यक्ष तो सशरीर उपस्थित होता है और अप्रत्यक्ष उसकी छाया अथवा व्यंग्यार्थ बनकर ही आ सकता है। इसलिए इन दोनों में भी प्राथमिक स्थिति प्रत्यक्ष की होती है। उसका निरूपण रचना के आंतरिक तर्क से जितना ही पुष्ट और प्रामाणिक होता है, उतना ही व्यापक यथार्थ के व्यंजित होने की संभावना भी बढ़ जाती है, जबकि संकेतों और प्रतीकों के सहारे प्रत्यक्ष की क़ीमत पर अप्रत्यक्ष की साधना करने वाली रचना, विशेषकर कथा-रचना चूँ-चूँ का मुरब्बा होकर रह जाती है। रचना के सौंदर्य का दूसरा जानने योग्य संघटक तत्व है उसके प्रत्येक पक्ष तक रचनाकार की संवेदना का अबाध प्रसार। प्रत्येक रचना में रचनाकार का कोई न कोई प्रिय तथा अप्रिय पक्ष ज़रूर होता है जिसे उसका पक्ष और प्रतिपक्ष कह सकते हैं। अपने पक्ष से संवेदना और समानुभूति का होना तो आवश्यक है ही, बड़ा रचनाकार अपने प्रतिपक्ष के अंतर्जगत में प्रवेश करके उसके पक्ष को भी सामने लाने में सफल होता है। इस प्रकार विभिन्न पक्ष जब अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में अपने औचित्य की स्थापना के लिए रचना में द्वन्द्वरत होते हैं, तब वह रचना सौंदर्य की दृष्टि से परिपूर्ण होती है, और इससे सत्य की हानि भी नहीं होती। जबकि कमज़ोर रचनाकार अपने पक्ष को न्यायोचित ठहराने और प्रतिपक्ष की कमज़ोरियों की पोल खोलने और उसकी खिल्ली उड़ाने में ही जुटा रहता है। ऐसे में उसकी रचना एक पहिए वाली बैलगाड़ी की तरह एक ही जगह गोल-गोल घूमती रह जाती है और किसी लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाती, चाहे उसमें कितने ही महान सत्य का पक्षपोषण किया गया हो।

कुछ लोग रचनाकार के अपने 'स्टैंड' को लेकर बहुत आंदोलित रहते हैं। कोई रचनाकार अगर संयोगवश राजनेता, न्यायाधीश अथवा समाजसुधारक हो तो इन क्षेत्रों में उसके 'स्टैंड' का कुछ अतिरिक्त महत्व हो सकता है, लेकिन रचना के प्रसंग में यह क़तई महत्त्वहीन और अप्रासंगिक बात है। महत्व रचना के 'स्टैंड' का है, उससे उभरने वाली सचाई का है। इस सचाई को अपनी-अपनी रुचियों, संस्कारों और स्वार्थों के मुताबिक अलग-अलग लोग अलग-अलग रूप में ग्रहण करते हैं। इसीलिए किसी रचना को लेकर होने वाले वाद-विवाद का महत्त्व होता है। इसी प्रकार रचनाएँ इतिहास के निर्माण में अपनी भूमिका निभाती हैं। अपने सर्जक और समय की वैचारिकी का उपकरण बनकर नहीं, बल्कि उनकी सीमा का अतिक्रमण करते हुए, वे भविष्य की पगडंडियों का उद्‌घाटन करती हैं।

बहरहाल, उपन्यास की शुरुआत इस एक वाक्य के पैराग्राफ होती है, 'ढलान से उतरते हुए अचानक

ख्याल आया कि अपनी या किसी दूसरे आदमी की समूची गुजरी हुई जिन्दगी को क्या किसी सूरत में दुबारा जिया जा सकता है?'

प्रसंग, वाचक 'मैं' के (जो खोजी पत्रकार है) अपने पत्र के। 'भैंचो' तकिया कलाम वाले मालिक- पारीक साहब के कहने पर मुख्यमंत्री के गांव डूंगरपुरा आने का है, जहां से लौटते समय बस का ऐक्सल टूट गया है और वह उसे छोड़कर तिरछे जंगली रास्ते से कुछ कि.मी. पर स्थित हाइवे की तरफ़ जा रहा है। दरख्तों और झाड़ियों के झुरमुट से गुज़रते हुए अचानक वाचक को अपने बचपन की याद आने लगती है और वहीं के एक खडंहर में पिछले चालीस वर्षों से अदृश्य रहते हुए लोगों की मनौतियों को पूरा करने वाले ओझल बाबा के बारे में सुनकर वह उसकी असलियत का पता लगाने के लिए रुक जाता है, और यह कहानी परवान चढ़ती है।

वाचक एक 'टिपिकल' आधुनिकतावादी है, विवेक और तर्क के प्रति समर्पित, प्रत्येक स्थिति की विसंगति को पहचानने और उस पर टिप्पणी करने में ग़ज़ब के हास्यबोध का परिचय देने वाला, जीवन में अव्यावहारिकता और अराजकता की हदों को छूता हुआ लोकतांत्रिक, लेकिन आंतरिक संशय की दीवार को अंततः न लांघ पाने वाला। एक सीमा के बाद उसे हर उद्देश्य 'चूतियापा' लगने लगता है और अनास्था तथा संत्रात का शिकार होकर वह अपने बॉस 'पारीक साहब की हिदायतों के मुताबिक किसी मुख्यमंत्री या सेठ के पी ए या उसके साले के बहनोई की व्यक्तिगत मशीनरी के किसी ज़रूरी कलपुर्जे को सहलाने या चूसने की शर्मनाक प्रक्रिया में जुट जाता था।'

(पेज - 109)

इसी 'दोगली जिन्दगी' को जीते-जीते वाचक का यह अहसास एक दिन गहराकर उसे जकड़ लेता है कि 'क्या सचमुच हमारे लिए उम्मीद की शक्ल में कोई रास्ता बचा था, जिस पर चलते हुए चीजों में एक नई बेचैनी पैदा की जा सकती या कम से कम इस बेतरह गलत हो गए सिलसिले को एक बिल्कुल नए सिरे से दुबारा जीने की कोई तदबीर जुटाई जा सकती, या कि हम किसी मनहूस अंधी गली के आखिरी बदहवास मोड़ तक पहुँचकर दम तोड़ देने का उपक्रम मात्र कर रहे थे।'

(पेज - 62)

किसी फिल्म के 'टाइटिल सांग' की तरह वाचक के मन में रह-रहकर उठने वाला यह सवाल हमारी आधुनिक सभ्यता के सामने लगे हुए विशालकाय प्रश्नचिह्न की तरफ़ भी इशारा करता है। इसका प्रमुख कारण हमारी समूची आधुनिक सभ्यता में विचार और व्यवहार अथवा ज्ञान और कर्म के बीच बन गया विरोध का रिश्ता है। इसका एक विशिष्ट भारतीय संदर्भ भी है जो उपन्यास में आर्य समाजी प्रोफेसर, संघी गुरु जी और 'शाखा' के 'बौद्धिक' के दौरान प्रवचन देने वाले एक मुष्टंडे योगी के हवाले से सामने आता है।

प्रोफेसर साहब देश के पतनशील 'मॉरल कैरेक्टर' की मीमांसा करते हुए पुराने ज़माने के लोगों की धार्मिकता और चरित्र की बात करते थे। इसी से जुड़ा हुआ संघी गुरु जी का वक्तव्य पुराने जमाने के लोगों के लिए है कि 'उनका वीर्य दही की तरह गाढ़ा होता है।' 'शाखा' में आने वाले योगी का मूलबंद लगाने तथा खून की सौ बूंदों से बनने वाली वीर्य की एक बूँद के संरक्षण और संचरण के 'पेटेंट सिद्धांत' के साथ-साथ वाचक को यह भी याद आता है कि 'चौथी क्लास के एक भुक्तभोगी चिकने छात्र के बाद में अफवाह उड़ाई थी कि बच के रहियो, योगी साला परले सिरे का रंगीला और लौंडेबाज है....'

(पेज - 88)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि नैतिकता और चरित्र को काम भावना तक सीमित करके देखने वाली यह पाखण्डी प्रवृत्ति हमारे राष्ट्रीय जीवन में अपनी तमाम विकृतियों और कुंठाओं के साथ चौतरफ़ा बजबजा रही है। लेकिन यह विषय ऐसा है जिस पर 'बोल्डनेस' का तमगा लेने के इच्छुक (सेक्स से उतने ही आक्रांत) तो बहुत मिलते हैं, लेकिन सुसंगत दृष्टिकोण का अभाव ही दिखता है। वाचक की समस्या यह है, 'प्रोफेसर की शारीरिक और मानसिक संयम वाली बातें मुझे उस मूलबंद पुराण जितनी ही पोच और वाहियात लगती हैं, लेकिन उनका दिल दुखाकर मैं उन्हें अपनी ज़िन्दादिल संगति से एवं अपने-आपको चाय और समोसों के लजीज नाश्ते से महरूम नहीं रखना चाहता। यानी तमाम बड़े-बड़े मंसूबों के बावजूद इस मोड़ पर आकर हिन्दुस्तान हमेशा मार खा जाता है'।

(पेज - 88)

बात यहाँ चाय-समोसे की नहीं है, किसी का दिल न दुखाने की है। सत्य वही बोलो जो प्रिय भी हो, अप्रिय सत्य मत बोलो। लेकिन सच तो कड़वा होता है। ज़ाहिर है, उसे बोलना बुद्धिमानी का काम नहीं। इसीलिए हमारे समाज में कबीर के बाद अब तक कोई कवि हर सत्ता को चुनौती देकर फटकार का सच बोलने वाला नहीं हुआ। समन्वय, सामंजस्य, संतुलन और तालमेल की बाजीगरी को सत्य और न्याय का संकल्प बना दिया गया। इस बात को भुला दिया गया कि सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित के बीच होने वाला कोई भी तालमेल निरपवाद रूप से असत्य, अन्याय और अनौचित्य के पक्ष में जाता है। समदर्शिता के इसी पाखंड को लक्ष्य करके मुक्तिबोध ने कहा था :

''प्रस्तरीभूत मैं गतियों का हिम हूँ,
बीच ही में टूट गया कोई पराक्रम हूँ,
चट्टानी-टीलों की जमी हुई तह से
दुनिया की पाषाणीभूत सतह से
सामंजस्यों के कठघरे में ख़ुद
संगति-बद्ध ही रहने की है ज़िद
परन्तु, संतुलनात्मक स्थितियाँ
जैसी कि वे हैं
छि: हैं, थू: हैं, हे: हैं।''

(चम्बल की घाटी में)

पहले कहा जा चुका है कि 1857 में हमारे सभी अग्रगामी, रैडिकल तत्त्वों का बर्बर दमन कर चुकने के बाद अंग्रेज़ों ने अपने विधि-विधान के मुताबिक हमें आधुनिक बनाया। हमारी रैडिकल प्रवृत्तियाँ समय-समय पर उभरती रहीं, लेकिन औपनिवेशिक मूल्यों की घुट्टी अधिक असरदार साबित हुई और हमारा राष्ट्रीय चरित्र समझौतापरस्ती का ही बना रहा, जिसे हमने उदारता, सहिष्णुता और विशिष्ट भारतीय नैतिक बल के रूप में परिभाषित किया। गुलामी के समझौते का अंत विभाजन की शर्त पर हुए समझौते से मिली आजादी में हुआ। इसके अगले चरण के रूप में हमारे रंग-बिरंगे शासक वर्ग ने नई गुलामी के समझौते पर दस्तख़त करने और नए बंटवारे की दीवार उठाने में कोई कोताही नहीं की है।

पूरी कथा में वाचक बार-बार अपने उदारवादी तथा समझौतापरस्त रवैये के कारण अपनी अनिश्चयात्मकता तथा निर्णायक मौकों पर संशयग्रस्त होकर वापस लौट आने वाली प्रवृत्ति की बात करता है। वह संतुलन और सामंजस्य के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त भी करता है। पहली बार साइकिल चलाते समय का अनुभव उसी के शब्दों में देखें -

'अहसास हुआ कि पीछे से कैरियर को संभालने वाले पड़ोस के लड़के का हाथ कहीं दूर छूट गया और साइकिल अपने दो पहियों और मेरे संतुलन के बूते पर अपने आप किसी अजूबे की तरह आगे बढ़ रही है, तो एक अनकहा रोमांच सारे जिस्म को सराबोर करता चला गया था। ...वक्त के साथ मैंने जाना था कि संतुलन के रोमांच से आगे निकल जाने के बाद कहीं कुछ खास बचता नहीं है।'

(पेज 51-52)

इसी तरह एक चिड़िया की उड़ान का दृश्य देखें - 'जैसे समंदर के पानी में घुटनों-घुटनों तक लहरों के बीच खड़ा हुआ कोई बच्चा होता है, कुछ उसी अंदाज में एक जिद्दी चिड़िया आसमान में हवा के बहाव के विरुद्ध पंख फड़फड़ाती हुई अपने-आपको हवा में स्थिर खड़ा करने की असंभव कोशिश में थी। संतुलन की स्थिति में पांच-सात क्षण गुजर चुकने के बाद वह अपने इस करतब से विभोर होकर हवा में एक स्वच्छन्द गोता लगाती, और उसके बाद न्यूटन के सिद्धांत को गलत सिद्ध करने की शिद्दत भरी कोशिश में दुबारा उसी तरह पंख फड़फड़ाना शुरू कर देती।'

(पेज - 125)

कोई भी देख सकता है कि इन दोनों मौकों पर जो रोमांच है वह हवा और गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से अपनी गति के बल पर जूझने से पैदा हुआ है। इस प्रक्रिया में कुछ देर का संतुलन कायम हो जाय, यह और बात है, पर निरे संतुलन की अवस्था में रोमांच की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वाचक की समस्या ही यह है कि वह जीवन में नया अर्थ तो करना चाहता है लेकिन एक सीमा के बाद असुरक्षा का जोखिम भी नहीं उठाना चाहता। इसीलिए उसकी 'भूतपूर्व दोस्तानियाँ' उसमें 'किलर इंस्टिंक्ट' की कमी की शिकायत करती हैं, और वह स्वीकार करता है कि 'असली दिक्कत यह थी कि एक सीमा से आगे मुझे न सिर्फ़ हर उद्देश्य के औचित्य पर शक होने लगता था, बल्कि संयोग कुछ ऐसा पड़ता था कि वक्त के साथ यह शक सही भी साबित होता था।'

(पेज - 129)

ग़ौरतलब है कि अपनी इस अनिश्चयी मनोदशा के लिए वाचक जिन्हें ज़िम्मेदार ठहराता है उसमें उसके अध्यापकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गणित के मास्टर सोहनलाल जी अपनी पत्नी से पिटते थे और बदले में क्लास के बच्चों की बेंत से इतनी पिटाई करते थे कि उन्हें जो आता था वह भी भूल जाता था। इसी प्रकार काशीप्रसाद गुरु जी थे जो छात्रों की हर बात के जवाब में एक ही जुमला दुहराते थे - सो नहीं, सो नहीं। वे पिटाई तो नहीं करते थे लेकिन उनकी यह असहमति-सूचक मुद्रा वाचक को आगामी जीवन भर मौके-बेमौके याद आती रही। प्रारंभिक शिक्षा के दौरान ही बच्चों में व्याप्त हो जाने वाला अपराध-बोध तथा आतंक उनके अवचेतन में बैठ जाता है और उन्हें इतना आत्मविश्वस्त नहीं रहने देता कि कभी अपना सर्वस्व दाँव पर लगाकर वे कोई निर्णायक कारवाई कर सकें। शिक्षा का यह चक्रव्यूह बच्चों को उत्तरोत्तर अधिक भयग्रस्त करता गया है। वाचक के बचपन में गणित इसका वाहक हो सकता था, लेकिन आजकल अंग्रेजी के सर्वव्यापी वर्चस्व के बीच नब्बे फीसदी बच्चे भाषाई विकलांगता के शिकार होकर रटंत विद्या की बैसाखी के सहारे किस तरह अपने मां-बाप की अधूरी महत्वाकांक्षाओं की नैया खे रहे हैं और इस प्रक्रिया में उनका मासूम मन कितनी जटिलताओं से घिर रहा है, इसकी कल्पना सहज नहीं है। वाचक की ही एक मार्मिक आत्मस्वीकृति देखें -

'उन अनपढ़ गांव वालों की ही तरह मैं भी अपनी आदर्शवादी अपेक्षाओं के वजन से बाबा को ऐसा बना डालना चाहता था, जैसा शायद वह नहीं था, न हो सकता था।... मेरे जेहन में अचानक काशीप्रसाद

गुरु जी का वही जुमला कौंधा जिससे वे हमारे तमाम छोटे-बड़े तर्क काट दिया करते थे। और तब मुझे लगता कि ओझल बाबा उर्फ रामगोपाल चोरडिया की सही गलत स्मृति के साथ मैं वही सब कर रहा हूँ जो गणित के सोहनलाल मास्टर जी, बायोलॉजी के सर, पारीक साहब और मेरे अपने बड़े भाई सहित सैकड़ों लोगों ने अब तक मेरे साथ किया था।'

(पेज - 64)

उपन्यास में वाचक का प्रतिरूप डेविड है जो जर्मनी के हाइडेलबर्ग नामक शहर में फिजियोथेरेपिस्ट का काम करते-करते अपनी पत्नी से लड़कर हिन्दुस्तान चला आया है और उसी की तरह राह चलते ओझल बाबा के बारे में सुनकर उसका रहस्य जानने में जुट गया है। वाचक की ज़िन्दगी में जो जगह पारीक साहब की है, डेविड की जिन्दगी में वही जगह उसकी बीवी की है। जीवन के व्यावहारिक तकाजों को पूरी तरह न स्वीकार कर पाने के कारण डेविड की बीवी को भी डेविड से वही शिकायत है जो वाचक से पारीक साहब को है, यानी 'उन्हें पता नहीं है कि उन्हें ज़िन्दगी से क्या चाहिए।'

डेविड की बूढ़ी माँ एक खस्ताहाल 'ओल्डएज होम' में अकेली रहती थी और हर दूसरे दिन वह उनसे बात करता था। अब माँ की याददाश्त कमज़ोर पड़ती जा रही थी और कभी डेविड का फोन नम्बर याद न आने के कारण वे दीवारों पर सर पटक पटककर रोने लगती थीं। 'यह सवाल डेविड को बेतरह परेशान करता था कि मां की धुंधली पड़ती, ऊबड़-खाबड़ स्मृति में ऐसा क्या था, जिसे वे नीम बेहोश बदहवासी में भी खंगाल-खंगालकर किसी भी तरह अपने दुनियादार बेटे और बहू के साथ बाँट लेना चाहती थी?' डेविड जब गर्भ में था तभी उसके यहूदी पिता नाज़ी कैंपों के शिकार हो गए थे और वह उन्हें (स्पीलबर्ग की फिल्म (शिंडसर्ल लिस्ट) में ढूँढ़ने और पहचानने की कोशिश करता था। डेविड की पत्नी उसके स्वभाव के लिए उसे पिता से विरासत में मिले यहूदी खून को दोषी मानती थी।

वाचक और डेविड में फ़र्क़ यह है कि वाचक ढुलमुल, अस्थिर और पलायनवादी स्वभाव का व्यक्ति है, वहीं डेविड दृढ़, आक्रामक और निश्चयात्मक रवैया अपनाता है। वाचक कई बार उसकी आक्रामकता और दृढ़ता से घबरा भी जाता है, लेकिन उसके निर्देशों पर अमल करते हुए वह काफी राहत और सुकून का अनुभव करता है। अपने इस रैडिकल प्रतिरूप की अगुवाई में काम करते हुए वह काशीप्रसाद गुरु जी तथा पारीक साहब जैसों के प्रति भी उदार और मानवीय हो पाता है, जिससे पता चलता है कि उसके जीवन में वास्तविक कमी रैडिकल की ही थी। उसकी कुछ स्वीकारोक्तियाँ देखें - 'डेविड के ठंडे और निश्चयात्मक रवैये ने हमारे अभियान को एक ठोस किस्म की अनुशासनशीलता दे डाली थी। ...''शहर और सपना'' वाले पिलखुवा से कई सौ मील दूरी वाली उस उम्मीदों भरी शाम में मैं अपने आपको काशीप्रसाद जी जैसों के कई सौ खून माफ कर डालने की असाधारण मनःस्थिति में पा रहा था। ... आत्मावलोकन की उस घड़ी में पहली बार मेरे मन में पारीक साहब के लिए एक फाहश, मगर आत्मीय किस्म की गाली भी उभरी।'

(पेज - 130, 151)

हमारे समय में जारी उलटफेर, अराजकता और उथल-पुथल के कारण अनेक कथाकारों ने अपनी रचनाओं में इसे दुःस्वप्न से समीकृत करके इसकी विकरालता और 'अतार्किकता' को बोधगम्य बनाया है। वाचक का एक महत्वपूर्ण अवलोकन देखें -

'एक दुनिया थी, जो हमारे हाथों से फिसलकर किसी बदसूरत दुःस्वप्न के जबड़ों में समाती जा रही थी। इस दुनिया के मूल में कहीं कुछ आदिम और शाश्वत था, जो बहुत नजदीक होते हुए भी किसी विस्मृति भरे जंगल की पागलकर देने वाली खुशबू की तरह अप्राप्य और पहुंच के बाहर लगने लगा था। ...वह परम

यथार्थ, जिसे क्षण भर के लिए छू पाने के जुनून में मेरी ही तरह उस जर्मन मालिश वाले और पता नहीं कितने दूसरे लोगों को अपने घरों से हजारों मील दूर, इन जंगली बियाबानों में सदा के लिए भटकते रहने पर विवश कर डाला था? और क्या यही था उस सिरफिरे उड़न छू बाबा का अन्तिम लक्ष्य, उसके अस्तित्व का चरम उद्देश्य, जिसके पागलपन में उसने अपनी जिन्दगी के चालीस लंबे वर्ष जमाने की नजरों से बहुत दूर उस नामालूम खंडहर की अँधेरी, खुश्क दीवारों को चुपचाप निहारते हुए गुजार डाले थे?'

(पेज - 112)

मानव-जीवन अपने आरंभ में किसी प्रकार के भेदभाव से अनजान, आदिम सामंजस्य (प्रिमिटिव हार्मोनी) की अवस्था में था। सभ्यता के विकास के साथ यह आदिम लय टूटी और वर्ग, लिंग, धर्म, जाति, तथा राष्ट्र आदि के आधार पर विभाजन उत्पन्न हुआ। हमारी आधुनिक सभ्यता ने इसके बीच की विषमता को मिटाकर मानवजाति को उसकी पुरानी 'निर्द्वन्द्विता' प्रदान करने का वादा किया था। जनतन्त्र और साम्यवाद, इन वायदों के दो छोर थे। दोनों फिलहाल अपने विपरीत में बदल गए हैं। विभाजन और तीखा होता जा रहा है, विषमता और बढ़ती जा रही है। लेकिन मनुष्य हमेशा ऐसी परिस्थितियों को ख़ारिज़ करके नया रास्ता ढूँढ़ता आया है। इस खोज की शुरुआत सामूहिक प्रयासों की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रयासों से होती है। पहले कुछ अग्रगामी, विद्रोही व्यक्ति अनजाने इलाकों में आगे बढ़ते हैं। इस खोज के अपने जाखिम होते हैं। इसमें वापसी का रास्ता नहीं होता। जो आगे बढ़ने की राह नहीं पाते, वे अपनी तलाश में ही धीरे-धीरे खो जाते हैं। ढेरों असफलताओं के बाद कोई सफलता मिलती है। इसके बाद धीरे-धीरे समाज उस रास्ते को स्वीकार करता है, और उस पर चलता है। वाचक और डेविड की बेचैन ज़िन्दगी की वजह यही खोज थी, और एक दिन जब उन्हें अपने एक पूर्ववर्ती द्वारा इस दुनिया को चालीस बरस पहले ठुकराकर अपने हठ पर कायम रहने का पता चला तो स्वभावत: वे उसकी सचाई जानने के लिए व्याकुल हो उठे।

चालीस बरस पहले अपने सूदखोर बाप से लड़कर रूणियाबास नामक उस गांव के खण्डहर में हमेशा के लिए गुम हो जाने वाले रामगोपाल चोरडिया नामक उस शख्स को शुरुआत में कई दिनों तक खाना खिलाने वाले ग्यारसीलाल के अनुसार 'खंडहर में रहने के कुछ दिनों बाद ही बाबा चोरडिया का दिमाग फिर गया था और रात के वक्त वह जानवरों, चिड़ियों और कीड़े-मकोड़े से बातें करने की कोशिश करता रहता था। अब भी लंगूरों की टोलियां उस अहाते के पेड़ों पर रात के वक्त पनाह लेती हैं और सुनते हैं कि बाबा की सेवा में जुटे बहुत सारे काले नाग पहरेदारों की तरह खंडहर के बाहर-भीतर चक्कर लगाते रहते हैं।'

(पेज - 69)

ज़ाहिर है कि लंगूरों और नागों की भूमिका इन चालीस बरसों के दौरान लोकमन में बने मिथक से उपजी है, लेकिन शुरुआती दौर में 'बाबा' का प्रकृति से तादात्म्य अर्थपूर्ण है। उसने एक सामाजिक व्यवस्था से निर्णायक विद्रोह कर दिया था लेकिन उसके पास कोई वैकल्पिक रास्ता नहीं था। ऐसे में उसके अवचेतन में बैठी आदिम युग की स्मृति जाग उठी जब मनुष्य बहुत कुछ अपने परिवेश और प्रकृति का हिस्सा होता था। प्रत्येक मानव भ्रूण को गर्भ में इस तादात्म्य की अनुभूति होती है, जो पैदा होने के कुछ समय बाद धीरे-धीरे विलीन होने लगती है। बचपन की स्मृति की तरफ लौटना आंशिक रूप से उस अनुभव को भी याद करना है, जैसा कि वाचक बार-बार करता है। किन्तु रामगोपाल चौरडिया के लिए यथार्थ असहनीय हो चुका था। उसने चेतना की सरहदों को पार कर अवचेतन की अंधेरी, गहरी खाई में छलांग लगा दी। होशमंदों की दुनिया से ओझल होकर वह अपने गुप्त तहखाने में रहने चला गया।

वह ओझल बाबा अपनी मूल आदिम प्रवृत्तियों और ऐंद्रिय संवेगों के साथ खंडहर में रहता है। कथा

के साक्ष्य के अनुसार उसकी स्वादेन्द्रियां अधिक सबल हैं और वह अच्छे खाने के शौकीन के रूप में विख्यात है। शुरुआती वर्षों में लाडनबाई उर्फ भगवती, जिससे संभवत: उसका प्रेम संबंध भी कायम हो गया था। उसके लिए खाना लाती थी। कथा के बिलकुल अंत में जाब उसने अपनी अदृश्यता का मान रखने के लिए मौत को गले लगा लिया था, उसके पास अधखाया अमरूद पड़ा था। इसी अधखाए अमरूद के साथ उसने हमारी आधुनिक सभ्यता को आखिरी बार ठेंगा दिखाया था।

ओझल बाबा का अस्तित्व वाचक और डेविड के लिए ख़ुद उनके अस्तित्व का प्रश्न बन गया है। इस दुनिया को ठुकराकर अगर कोई चालीस साल तक किसी और को दिखाई दिए बिना रह सकता है, इसका मतलब है कि सांसारिक व्यावहारिकता का निर्वाह अनिवार्य नहीं है और उससे निर्णायक संबंध-विच्छेद करके जीवन को सही अर्थ देने वाले रास्तों की खोज की जा सकती है। इसीलिए एक बार जब वे खंडहर की अच्छी तरह छानबीन करके खाली हाथ लौट आते हैं तो डेविड कहता है -

'आई कांट विलीन इट! मुझे यकीन नहीं आता कि वहां कोई नहीं है!...वह सारी उम्मीद, दैट फेथ... वह सब क्या बेमानी है?'...

डेविड को असमंजस और निराशा में आकर वाचक की स्वाभाविक अनास्था प्रकट होती है - 'हकीकत यह है कि हमने अपने-आपको एक अँधेरे तहखाने में बंद कर लिया है। इस घटाटोप में जाब हमें रोशनी का एक बारीक कतरा दिखाई देता है तो हम समझते हैं कि हमने बाहर निकलने का रास्ता ढूँढ़ लिया है। लेकिन रोशनी का वह कतरा धोखादेह होता है। वह कतरा दरअसल हमारी खुद की आँख की परछाईं भर होती है.. दैट्स इट!... हकीकत यह है कि उस खंडहर में कोई नहीं है, न हो सकता है क्योंकि हमने खुद...हमने खुद...'

आशय यह है कि हमने खुद अपने लिए यह नियति चुनी है और दूसरी संभावनाओं का अंत कर लिया है। वाचक अब इस खोज-अभियान को एक 'हादसा' समझता है और किसी 'दु:स्वप्न' की तरह इसे भूलकर लौट जाना चाहता है, लेकिन डेविड उसके जवाब पर क्रुद्ध हो जाता है - 'क्या कहा तुमने अभी? व्हाट डिड यू से जस्ट नाऊ?... फिर से कहो!... रिपीट इट! ...मैं कहता हूँ...'

(पेज - 142)

मूलत: यह फ़र्क़ लिबरल और रैडिकल के बीच का है। आमूलचूल परिवर्तन की संभावना की अनुपस्थिति में लिबरल प्रवृत्ति राहत की साँस लेती है, क्योंकि उसके अपने रवैये की वैधता इसी से स्थापित होती है। इसीलिए वह उन संभावनाओं की खोज में शामिल होने के बावजूद पहला मौक़ा मिलते ही लौटने की सोचने लगती है। इसके इसी ढुलमुलपन में उसके रूपांतरण की संभावना भी छिपी होती है। रैडिकल प्रवृत्ति के दबाव के सामने भी वह कोई निर्णायक विरोध नहीं कर पाती और हिचकिचाते हुए उसके साथ चल पड़ती है। आगे चलकर जब उसके अनुभव रैडिकल विचार की पुष्टि करते हैं तो उसके अन्दर पुनर्विचार की प्रक्रिया चलती है जो उसे रूपांतरण की दिशा में ले जा सकती है। इसीलिए डेविड उस पर क्रोधित हो उठता है और खंडहर में तहखाने की संभावना का ख्याल आते ही वह वाचक को लगभग 'घसीटता हुआ' चल देता है, जबकि वाचक की प्रतिक्रिया कुछ यूँ रही - 'उसकी निश्चयात्मकता से मैं फिर एक बार काँप-सा गया। ...मेरे माथे से ठंडा पसीना छूटने लगा था।... बाबा के वजूद की एक धुँधली, पागल-सी संभावना दुबारा हमारी ओर झाँकती दिखाई देने लगी थी...'

(पेज 143)

जब ये दोनों खंडहर के तहखाने में घुसते हैं तो पाते हैं कि सफेद बालों वाला एक नंगधड़ंग बूढ़ा मुँह

के बल गिरा पड़ा है। उसका बदन गर्म है और होठों से खून की लकीर फूट रही है, लेकिन प्राण निकल चुके हैं। ऐसा लगता है कि अपने चालीस बरस लंबे एकांत के टूटने की संभावना ने पलक झँपकते ही उसका अंत कर दिया था। मृत्यु के साथ ही उसकी साधना अटूट रही। जीते जी कोई उसे देख नहीं सका। यही वजह है कि डेविड और वाचक उसकी मृत्यु पर कोई शोक नहीं व्यक्त करते। यह महज़ उसकी जैविक मौत है। उसकी भावना उनके जैसे तमाम जिज्ञासुओं के मन-प्राण के साथ एकाकार होकर जीवित रहेगी, जैसा कि वाचक महसूस करता है - '...कोई और हमारे करीब, बल्कि हमारे भीतर साँस ले रहा है, जिसे हाथ आगे बढ़ाकर छू पाना बेहद मुश्किल है, लेकिन कॉलर के बटन खोलकर अगर पूरी तबीयत से कोशिश की जाए, तो शायद इतना मुश्किल भी नहीं है....'

(पेज 148-49)

कथा के इस मुकाम पर पहुँचकर बरबस ही मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' की याद आती है :

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' मर गया...
वह सघन झाड़ी के कँटीले
तम-विवर में
　　　　मरे पक्षी-सा
　　　　विदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ!
क्यों यह हुआ!!
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-डर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।

ओझल बाबा की तरह ही उसकी पूर्व प्रेमिका लाडनबाई भी सांसारिक मापदण्डों के अनुरूप नहीं साबित हुई। तीन साल पहले एक दुर्घटना में (जो लोकनिर्माण कार्य में व्याप्त भ्रष्टाचार की वजह से हुई) अपने इकलौते बेटे को खो देने के बाद वह जड़ हो चुकी है। डॉक्टरों को उसकी भनक लग गई है और उसे मानसिक अस्पताल ले जाकर वे सुइयों और हथौड़ों से उसकी भरपूर गत बना चुके हैं, लेकिन उसके अवरुद्ध कंठ और हृदय से कोई आवाज़ या रुलाई नहीं निकल सकी। वह सिर्फ भय और क्रोध का प्रदर्शन कर पाती है, तथा मिट्टी के ठीकरों को इकट्ठा करने और उनकी सुरक्षा में लगी रहती है।

वाचक जब डेविड को लेकर उसके पास जाता है तो बाहर लोगों के साथ अपने कटु अनुभवों के कारण वह 'किसी घेर लिए गए जानवर की तरह चारपाई के सहारे दुबकर बैठी... गोया कि अपनी नियति

से परास्त, आने वाले अगले क्रूर प्रहार का इंतजार करती रही...' डेविड ने उसकी हथेली को अपने हाथ की गिरफ़्त में लेकर दबाया तो उसके भाव कुछ बदले और वह उसकी आँखों में देखने लगी। फिर डेविड उसकी हथेलियों को छोड़कर उसके गले और कंधे के बीच के हिस्से को एक नियमित दोहराव के साथ धीरे-धीरे मथने लगा। वाचक को ध्यान आया कि डेविड पेशे से एक 'फिजियोथेरेपिस्ट' यानी 'मालिशवाला' है। उसकी प्रतिक्रिया देखें -

'मालिश करने वाली उंगलियों के वज़न तले लाडनबाई के चेहरे का वह दहशतज़दा भाव अब धीरे-धीरे पिघलने लगा था। मैंने देखा था, उसकी पलकों पर किसी नशे की-सी सुस्ती गहराने लगी थी। शायद वह बरसों से सोयी नहीं थी। शायद बरसों से किसी कोमल हाथ के स्पर्श ने उसे छुआ नहीं था। शायद अब तक किसी ने उसके चेहरे की ठंडी, पथरीली दहशत के उस पार जाने की कोशिश नहीं की थी...'

(पेज - 122)

इसके बाद डेविड जब उसके गले पर दबाव डालता है तो वह चीख कर रो पड़ती है। उसकी चीख सुनकर कुछ पड़ोसी एकाध लट्ठ लेकर आ पहुँचते हैं और वाचक मौके की नज़ाकत भाँप वहां से डेविड के साथ खिसक लेता है। उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसके मोपेड की आवाज़ सुनकर लाडनबाई भी घर से बाहर निकल आई और 'किसी शाश्वत उम्मीद' में डेविड के हाथों को 'कातर निगाहों' से देखने लगी।

लाडनबाई की कृतज्ञता से यह साबित होता है कि बेटे की मौत के बाद उसे एक 'केस' मानकर कैरियरिस्ट डाक्टरों ने 'डिग्री' और 'एक्सपीरिएंस' लेने के लिए उसके साथ 'वैज्ञानिक और चिकित्सकीय' बर्ताव तो किया लेकिन उसे कोई सहज मानवीय स्पर्श न मिल सका, जैसा कि आरंभिक युवावस्था में उसे, ओझल बाबा बनने से पहले के, रामगोपाल चोरडिया से मिला होगा, या तीन वर्ष पहले एक अपने प्रतिभाशाली राजमिस्त्री बेटे से मिलता रहा था। डेविड ने उसी बेटे के स्पर्श का अहसास उसे दिलाया क्योंकि वह उसमें अपनी माँ को देख सका था - 'उसकी गर्दन को उंगलियों से दबाते ही उसकी आँखों में मुझे अपनी 'मामा' दिखाई दी थी... शी वाज राइट देयर, वह उन आँखों में वहाँ मौजूद थी और... वह मुझसे कुछ कहना चाह रही थी... मुझे मालूम नहीं क्या, लेकिन... शी वांटेड टु से समथिंग... शी वांटेड टु...?'

(पेज - 141)

इसी बातचीत के दौरान पहले डेविड यह संभावना व्यक्त कर चुका है कि 'मम्मा ने जरूर मुझे फोन किया होगा 'होम' से।... हो सकता है कि उन्हें मेरा नम्बर याद रहा हो... मुझे हमेशा लगता है कि वह मुझे डैड के बारे में कुछ बताना चाहती है... ऐसा क्या हो सकता है?' ओझल बाबा की मौत के बाद डेविड की 'सवालिया आँखों' कों देखकर वाचक को लगता है कि उसकी आँखें 'शायद पूछना चाह रही थीं कि उसकी तरह क्या मैंने भी उस तहखाने के भीतर उसके यहूदी पिता के लहूलुहान चेहरे का अक्स पहचान लिया था...?'

डेविड के पिता उन असंख्य निर्दोष और बेगुनाह लोगों में से एक हैं जो हमारे आधुनिक युग की क्रूरताओं के शिकार बने। आधुनिक विज्ञान और तकनीक के चलते जिस बड़े पैमाने पर नरसंहार किए गए हैं उनका मुकाबला इसी युग में अंकुशों, चोरबाजारियों और पाबंदियों द्वारा पैदा किए गए, खाद्यान्नों के कृत्रिम अभाव से हुई मौतों से ही किया जा सकता है। मध्ययुग में यह सब कल्पना से परे था। घृणा का कारोबार बदस्तूर जारी है, उसका नारा नस्ल, जाति, संप्रदाय हो, या फिर कुछ और। इस मामले में भारत हो या जर्मनी, कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता। अपने युग के दुखों की सलीब उठाए हर चेहरा एक सा है। उसके बारे में कहने और

बताने को भी बहुत कुछ है, लेकिन ज्ञान-विज्ञान की स्थापित आधुनिक सारणियाँ इतनी असहिष्णु हैं कि वे अपने अलावा किसी और की सुनने को तैयार नहीं हैं। लोकतंत्र के युग की बात करते करते वे खुशी-खुशी सत्ता का औज़ार हो गयी हैं। लेकिन इस स्थिति का एक सकारात्मक पहलू भी है। इस युग की सच्चाई अथवा उसके पाखंड अंततः पूरी तरह बेनकाब हो गए हैं। अब इनका विकल्प खोजने से लोगों को रोक पाना असंभव होगा। वाचक और डेविड जैसे लोगों की बेचैनी और भटकन इसी बात का इशारा करती है।

मानवीय त्रासदी की सार्वभौमिक एकता का उद्‌घाटन तथा उसके गुमनाम भुक्तभोगियों के प्रति संवेदना का इज़हार करता उपन्यास का एक विलक्षण प्रसंग 'नुकीली छातियों वाली' उस लड़की का है जो वाचक के दफ्तर में महज़ चौबीस दिनों तक काम करने के बाद अचानक बिना किसी सूचना के गायब हो गई। लंच के समय वह दीवाल की तरफ़ मुँह करके खाने का बहाना करती, लेकिन एक बार जब वाचक ने निकट से देखा तो वह दरअसल रो रही थी। कैशियर के पास उसके चौबीस दिनों के वेतन के काग़ज़ात भी पड़े ही रह गए, उन्हें कोई लेने नहीं आया। डेविड की माँ अथवा लाडनबाई के प्रसंग में वाचक को अनायास ही उसकी याद हो आती है - '...जिससे हम पूरी तरह वाकिफ भी नहीं हो पाए थे और जो आसमान में विलीन होते धुँए की तरह एक दिन अचानक हमारे बीच से चली गई थी, लेकिन जिसके बकाया हिसाब के साथ उसके न होने का अहसास आज भी किसी अनपढ़े दस्तावेज की तरह हममें से बहुतों की टेबलों और डेस्कों पर उसी तरह जिंदा था...'

(पेज - 113)

इसी प्रकार स्वाद को स्मृति से जोड़ने वाले अनेक प्रसंग है जो अधिकांशतः वाचक की दाढ़ी से जुड़े हैं, बचपन में जिसकी गोद में मिलने वाले सुकून का वाचक पर इतना असर है कि वह अब भी दुखों का सामना होने पर उसी स्मृति की शरण लेता है। ये सभी प्रसंग एक तो इन्द्रियसंवेदनों को स्मृति के मूल आधार के रूप में चिह्नित करते हैं तथा दूसरे, यथार्थ के 'दुःस्वप्न' में बदल जाने के कारण बचपन की स्मृति में पनाह लेने की प्रवृत्ति को दर्शाते हैं। गौरतलब है कि दुःस्वप्नों का गहरा नाता भी बचपन से ही होता है और बच्चे उसकी अराजकता को अधिक सहृदतापूर्वक अपने मनोजगत् में सुलझा लेते हैं। यही वजह है कि अक्सर वाचक को यह सवाल परेशान करता है कि सिर्फ़ कामना करने भर से किसी भी दुःख को ख़त्म कर देने की उसकी बचपन की सिद्धि आख़िर कहाँ चली गई।

ग्यारसीलाल के बेटे मेवालाल के जिक्र के बिना बात अधूरी रह जाएगी। 'तलवार कट' मूँछों वाले इस नौजवान की खंडहर के पास, पान-चाय की खोखेनुमा दुकान है। पहली बार वाचक ने जब उससे ओझल बाबा के बारे में पूछा तो 'लापरवाह अंदाज में हँसते हुए' उसका जवाब था - ''बाबा शाबा कुछ नहीं जी, उस खंडहर में साठ-पैंसठ साल का एक खूसट रहता है जो जनता का 'चूतिया खैंचणे' के मकसद से वहाँ 'धूणी रमाके' बैठा है और किसी को पास फटकने नहीं देता। अंधविश्वासी लोगों ने अफवाह फैला रखी है कि बाबा मुरादें पूरी करता है। इन्हीं ढपोरशंखियों द्वारा छोड़े गए चढ़ावे से बुड्ढे का गुजर चलता है...''

(पेज - 15)

इसके बाद जब वाचक अपनी तमाम नास्तिकता के बावजूद बाबा के लिए पूड़ी-सब्जी के पैकेट पर फूलमाला रखकर ले जा रहा था, मेवालाल ने उसे देखकर वह जुमला छोड़ा कि वाचक के देवता कूच कर गए - 'के बाउजी! व्हे भी फँसगे साल्ड़े भैणके बाबा का चक्कर मां...?'

ऊपर से देखने पर मेवालाल भी वाचक की अनास्थावादी और 'सिनिकल' प्रवृत्ति से ग्रस्त दिखता है, लेकिन वह ऐसा नहीं है। वह हमारी अशिक्षित और ग्रामीण जनता में प्रचलित बुद्धि-विवेक का प्रतिनिधित्व

करता है। बाबा में किसी अतिमानवीय शक्ति होने की संभावना से बलपूर्वक इंकार करके वह उसे सामान्य मनुष्य के रूप में देखता है, जिसने जीने का अपना अलग ही तरीका खोज निकाला है। वह उसके एकांतवास की रोमानी व्याख्या को ठुकरा कर उसकी अतियथार्थवादी व्याख्या कर डालता है। ऊपर से देखने पर यह उसके प्रति अवमाननाजनक लगती है, लेकिन उसकी वास्तविक अवमानना उसे संत और शहीदका दर्जा देकर उसकी मूर्ति बना देने में है। मेवालाल की बातों से बाबा की दीर्घ 'साधना' किसी सामान्य व्यक्ति की क्षमताओं के दायरे में आ जाती है। अगर कोई सिर्फ लोगों को बेवकूफ बनाकर जीवन यापन करने के लिए इतनी लंबी पारी खेल सकता है तो महत्तर उद्देश्यों का दावा करने वाले ऐसा क्यों नहीं कर सकते। मेवालाल के इस रवैये की पुष्टि मृत्यु के समय बाबा के चेहरे पर मौजूद अत्यन्त सामान्य मानवीय घावों से होता है, जिसका उल्लेख वाचक इन शब्दों में करता है -

'उसका चेहरा बेहद मामूली था और वहाँ किसी तरह का कोई भाव नहीं था। न भय, न दया, न करुणा, न खुशी या दुख, न महत्वाकांक्षा, न अवसाद। जीते-जीत किसी को दिखाई न देने के चालीस बरस लंबे असाध्य व्रत को आखिरी दम तक सफलतापूर्वक निभाए जाने का कोई संतोष या स्वाभिमान भी वहां मौजूद नहीं था। उसकी आँखें सहज भाव से बंद थीं और होंठ थोड़े से खुले हुए थे।'

(पेज - 148)

इस लेख में उपन्यास के उन्हीं पक्षों पर ध्यान केंन्द्रित किया गया है जिनसे इसके वृहत्तर आशयों पर प्रकाश पड़ता है, यानी जहाँ 'कतरे' में 'दरिया' की झलक मिलती है। लेकिन क़तरे की भी अपनी ज़िन्दगी है और शुरू में ही अर्ज़ किया गया है कि कथा-साहित्य की प्राथमिक जवाबदेही उस 'प्रत्यक्ष' के प्रति है, जिसे वह अपना विषय बनाता है। आजकल प्रतीकों और संकेतों में कथा कहने वाले और फिर यत्र-तत्र उसकी व्याख्या करने वाले बहुत से 'महत्वपूर्ण' कथाकार सक्रिय हैं। यह उपन्यास ऐसी प्रवृत्तियों के लिए भी एक उदाहरण है कि बिना 'प्रतीकवादी' हुए यथार्थ के दोनों स्तरों का रचनात्मक संयोजन कैसे किया जा सकता है।

उपन्यास की घटनाएँ हमारे सामान्य अनुभव-जगत् के अनुरूप सहज प्रवाह में घटती हैं। डेविड और वाचक के लगभग एक साथ वहाँ पहुँचने और एक मरणोन्मुख व्यक्ति के नाम पर अर्पित खाने को बाबा द्वारा न खाए जाने जैसी कुछ छोटी-मोटी बातों को छोड़ दें तो सभी घटनाएँ तर्कसंगत और कार्यकारण की श्रृंखला से आबद्ध हैं। स्थितियों की प्रत्येक विसंगति पर कथाकार की अचूक निगाह है और उसे व्यक्त करने वाली ऐसी रचनात्मक भाषा है कि पाठक किसी जासूसी, रोमांचक उपन्यास की तरह इसे पढ़ता चला जाता है। इसका 'सेंस ऑव ह्यूमर' भी एक विरल उपलब्धि है। 'राग-दरबारी' के बाद संभवत: यह अकेला उपन्यास है जिसे पेज पर पेज पढ़ते हुये बेसाख्ता हँसी छूट जाती है। इसमें वर्णित कथा अपने आप में सम्पूर्ण है और इसके कोई परोक्ष आशय न होते तो भी इसे बेहिचक हिन्दी के कथा साहित्य की एक उपलब्धि माना जा सकता था।

अंतत:, इस कथा में वर्णित आधुनिक दुनिया के अधूरेपन और उसे भरने वाली नई दिशाओं की खोज में लगी हमारी उदारवादी और रैडिकल प्रवृत्तियों की सक्रियता पर ग़ौर करते हुए मिर्ज़ा ग़ालिब का साक्ष्य लें:

है कहाँ तमन्ना का दूसरा क़दम या रब
हमने दश्ते इम्काँ को एक नक़्शे पा पाया

कृष्ण मोहन इस सिरीज में अगली बार रवीन्द्र कालिया के उपन्यास खुदा सही सलामत है पर लिखेंगे।

पत्थरों से बगीचा बनाने की कला

सियाराम शर्मा

मनुष्य और उसके आस-पास फैली वस्तुओं के बीच बहुत गहरा, पर अदृश्य और अनजाना सा आत्मीय रिश्ता भी है, इसका अहसास नरेश सक्सेना के प्रथम काव्य संग्रह 'समुद्र पर हो रही है बारिश' की कविताओं के संसार में प्रवेश करने के साथ ही होता है। वस्तुजगत् और हमारे जैविक बोध के बीच पड़ा एक झीना आवरण इन कविताओं के साथ धीरे-धीरे खिसकता है और कवि की अंतर्दृष्टि की चमक में अत्यंत ही स्वच्छ और पारदर्शी मानवीय रिश्तों की धारा वस्तुजगत् से मानवीय संसार तथा मानवीय अनुभव से वस्तुजगत् की ओर हमें छूती और भिगोती हुई प्रवाहित होती है। इस तरह हमारे आस-पास और बाहर पड़ी अजनबी वस्तुएं अपने परायेपन को त्याग कर हमारे ही अस्तित्व और व्यक्तित्व का हिस्सा जान पड़ती हैं। ये कविताएँ मनुष्य के वस्तुकरण के विरुद्ध वस्तुओं के मानवीय रूपांतरण की कविता है।

नरेश सक्सेना का काव्य संसार आम, साधारण, उपेक्षित और तिरस्कृत पदार्थो एवं वस्तुओं का संसार है। इन्हीं से वे एक सुन्दर, न्यायपूर्ण और जीवंत संसार की रचना करते हैं। लोहा हो या ईटें, सीमेंट हो या कांक्रीट, ऊपर से अत्यंत ही शुष्क, नीरस, बेकार और बेजान दिखने वाली चीजों में भी मानवीय भावनाएँ और अनुभूतियों की नमी महसूस करने की कल्पनाशीलता, उनसे संवाद स्थापित करने की उत्कट आकांक्षा एवं भावप्रवण आत्मीय दृष्टि की नवीनता सम्पूर्ण संसार को आश्चर्यजनक ढंग से सुन्दर, अर्थगर्भ और संभावनाशील बना देती है। हर चीज हमसे कुछ कहती हुई सी लगती है- हमारे भीतर के मनुष्य को और भी चौड़ा, व्यापक और गहरा बनाती हुई। हर चीज नए रंग, नई संवेदना और नए अर्थ की आभा से जगमगाने लगती है। इस तरह बाजार की निष्ठूरता, पूंजी के छल-छद्म और सत्ता की क्रूरताओं के बरक्स अपने आस-पास के संसार को नई तरह से रचने की यह कोशिश कवि के अनुभव, संवेदना और दृष्टि की गहराई एवं असीमित विस्तार का पता देती है। रंग-बिरंगे ऊन के गोलों से सुन्दर स्वेटर बुनने की रेशमी शब्द संस्कृति के विरुद्ध नरेश सक्सेना की कविताओं की कला कबाड़ में पड़ी वस्तुओं और पत्थरों से बगीचा बनाने की कला है।

कवि को प्रकृति के एक-एक पदार्थ, वनस्पतियों और जीवन से गहरा लगाव है। वह अतिशय रागात्मकता और आत्मीयता के साथ उनसे रचनात्मक संबंध कायम करता है। पदार्थ और वस्तुएँ इन

कविताओं में इतनी जीवंत, संवेदनशील, सोचती और साँस लेती हुई दिखाई देती है कि खुद हमें अपनी मानवीयता और संवेदनशीलता पर संदेह होने लगता है। यह काव्य संसार का हिस्सा बनकर आई निर्जीव वस्तुएँ कवि के विचार, संवेदना और अनुभूति का संस्पर्श पाकर दूर से आती हुई आवाज की तरह नींद के सम्मोह से मुक्त कर जगाती हुई हम में अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति तड़प और बेचैनी पैदा करती हैं। हवा से थोड़ी सी नमी और ऑक्सीजन चुराकर गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार जब लोहे की रेलिंग का जंग लगा हिस्सा शिल्प और तकनीक की जकड़बंदी से मुक्त होकर अपनी वास्तविक जगह, जमीन पर लौटता है तब लगता है वह भी हम मनुष्यों की तरह ही है, हमें भी सर्वव्यापी सत्ता के अलगाव और अमानवीयकरण की तकनीक के माध्यम से उस व्यापक जनसमाज से अलगाव में डाल दिया गया है, जहां हमारा जन्म हुआ है और जिनके खून-पसीने पर हम पलते और बढ़ते हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि उस निर्जीव लोहे में तो अपनी वास्तविक जगह पर लौटने की तड़प और इच्छा कायम है पर हममें से कितने लोग मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष की राह से गुजरकर उस व्यापक समाज से जुड़ना चाहते हैं? नरेश सक्सेना की हर सहज सी दिखने वाली कविताएँ इसी तरह की पीड़ा भरी अनुगूँज अपने पीछे छोड़ जाती हैं, जो बहुत देर और दूर तक हमें कुरेदती है।

अधिकांश कविताओं में एक ही वस्तु कवि की अनुभूति के रंग में रंगकर, कई रूप ग्रहण कर, कई तरह की भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गयी है। कभी चीजों को उनके वास्तविक नाम से पुकारने की कला को कविता कहा गया था पर नरेश सक्सेना वस्तुओं के वास्तविक रूप दिखाने के कवि हैं। इसके लिए पाठकों को वे प्रदान करते हैं अपनी सूक्ष्म, अनुभूतिप्रवण, संवेदनशील दृष्टि जो वस्तुओं के बाहरी आवरण को भेद कर उसमें निहित असीम संभावनाओं को उजागर कर देती है। वस्तुएँ सिर्फ वही नहीं होती जो ऊपरी तौर पर दिखती हैं, वह वे भी हैं, जो हो सकती हैं। 'मेज' शीर्षक कविता में कवि को मेज की धारियों में दिखाई पड़ता है वक्त के साथ गुजरी एक दरख्त की यातनाओं के निशान, उसकी पूरी उम्र की दास्तान। कवि अब भी मौसम में बदलाव के साथ उसकी सिहरन और ऐंठन महसूस करता है। मेज की धारियों में भी सिहरन को महसूस करने की संवेदनशीलता प्रकारान्तर से अमानवीयकरण के विरुद्ध एक रचनात्मक कार्रवाई है। यह एक समर्थ कवि की कविता की ताकत ही है, जिसके कारण 'सीमेंट' जैसी कविताओं में हम पत्थरों के दर्द को भी इंसानों की पीड़ा की तरह महसूस करते हैं।

किसी भी वस्तु या धातु के सहज, सरल, ऊपरी रूप और गुण का अतिक्रमण करता हुआ कवि उसमें निहित अंतर्विरोधों, विडम्बनाओं और विसंगतियों को पहचान कर बहुत ही कलात्मक रूप से उसे हमारी वर्तमान सभ्यता और संस्कृति की अनुगूंज सुनता है। किसी भी वस्तु या चीजों में अंतर्निहित विडम्बनाओं को पहचानकर उसे व्यापक सामाजिक सत्य या विडम्बनाओं के अहसास का माध्यम बना देना नरेश सक्सेना की कविताओं की मूल प्रवृत्ति है। वे मूलत: विडम्बनाओं के कवि हैं। प्रकृति, पदार्थ और वस्तुओं के माध्यम से समाज और व्यवस्था में निहित विडम्बनाओं की पहचान कराना ही उनकी कविता का सबसे बड़ा उद्देश्य है। भाववादी व्यक्ति प्राय: एक ही चश्मे से सारी दुनिया को देखता है। उसमें अंतर्विरोधों, विरोधी प्रवृत्तियों को पहचानने की क्षमता प्राय: नहीं होती। नरेश सक्सेना सरल और सहज दिखने वाली चिर परिचित चीजों और वस्तुओं के अंतर्विरोधी स्वभाव को बखूबी पहचानते हैं। जीवन को, संसार को, अपने-आप को अलग कर देखने की ऐसी निस्संग दृष्टि बहुत कम कवियों में होती है। अंधेरा हो या रोशनी अपने-आप को कवि एक ही रुप में कभी नहीं देखता। उनकी कविताओं में चीजें एक ही रूप, रंग, आकार या गुण की नहीं होतीं। कवि उनके बहुआयामी अंतर्विरोधी स्वरूप को उजागर करने के साथ-साथ उनमें अंतर्निहित तमाम काव्यात्मक संभावनाओं को निचोड़ लेने का प्रयास करता है।

हमारे आस-पास फैल रही संवेदनहीनता पर कवि की दृष्टि बार-बार जाती है। अपनी छोटी से छोटी कविताओं में भी किसी मार्मिक प्रसंग या करुण दृश्य की रचना कर वह हमारी अमानवीयता का अहसास कराने के साथ ही जड़ीभूत सौन्दर्यानुभूति की विडम्बनाओं को भी उजागर करता है। यह कैसी विडम्बना है कि एक ओर हमारे प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश में पीड़ाएँ बढ़ रही हैं, रोज कोई न कोई त्रासदी घटित होती है और हर रोज घायल और बेचैन आत्मा सिसक रही होती है पर यह सब कुछ देखने, सुनने, महसूस करने की हमारी क्षमता नष्ट होती जा रही है। हमारी आँखें पथराती जा रही हैं, हृदय संवेदन शून्य होता जा रहा है और आत्मा में बंजरपन फैल रहा है। इन अमानवीय स्थितियों की टीस कवि के मन में बार-बार उठती है और उसका जी कचोटता है। 'फूलों का रोना' और 'डूबना' जैसी कविताओं में कवि इसी हृदयहीनता, संवेदनहीनता की ओर हमारा ध्यान दिलाता है - ''आँखों से पहले ही दिखाई देता था कम/और ऊपर से यह/कि सामने/कितने सारे चेहरे हैं टूटे हुए फूलों के/और रोना किसी का सुनाई नहीं देता'', ('फूलों का रोना'/'समुद्र पर हो रही है बारिश'/राजकमल प्रकाशन/संस्करण-2001/पृष्ठ-74)।

दुःख, विषाद, बिखराव और विस्थापन का दर्द वहीं होता है जहाँ जीवन के लक्षण होते हैं। निर्जीव चीजों और लोगों पर ये भाव कभी नहीं व्यापते। जिनके जीवन की जड़ें जितनी गहरी होती हैं, संवेदना जितनी व्यापक, उन्हें पीड़ाएँ भी उसी अनुपात में सहनी होती हैं। इस अमानवीय संसार में भावरहित, संवेदनहीन, आत्मसंकुचित व्यक्ति ही हर तरह से अपने को सुरक्षित और सुखी महसूस कर सकता है। प्रकृति के व्यवहार में निहित इस मानवीय सत्य की संभावनाओं को पहचानते हुए कवि कहता है, - ''तूफ़ान आया था/कुछ पेड़ों के पत्ते टूट गए हैं/कुछ की डालें/और कुछ तो जड़ से ही उखड़ गये हैं/इनमें से सिर्फ़/कुछ ही भाग्यशाली ऐसे बचे/जिनका यह तूफ़ान कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया/ये लोग ठूँठ थे'' ('ये लोग', वही. पृष्ठ-65)। यह दुर्भाग्यजनक है कि हमारे समाज में ऐसे भाग्यशाली ठूँठों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। लेकिन यह भी सच है कि मनुष्य नदी या पेड़ की तरह नृशंसताओं, क्रूरताओं, अत्याचारों और अनाचारों का गवाह होकर भी उनसे बिलकुल अप्रभावित नहीं रह सकता। डर, भय, लाचारी और शर्मिन्दगी का अहसास उसके साथ या उसके आस-पास हुए बर्ताव की निशानियाँ हैं। जो इन सारे भावों और प्रभावों से वंचित हैं, उनके मनुष्य होने पर संदेह होना चाहिए। कविता एक सहज मानवीय कर्म और व्यवहार है। अत: उसमें मानवीय समाज की ये कमजोरियां भी दर्ज होती हैं। वैसे समय में जब चेहरों पर मानवीय भावों को छुपाने की नयी तकनीकें और तरकीबें विकसित हो चुकी हैं: नरेश सक्सेना की कविताओं में यह डर, लाचारी और शर्मिन्दगी शीशे की तरह दिखाई देती है।

छायावादी कवियों का प्रकृति प्रेम की ओर झुकाव, उसके सौंदर्य का उद्घाटन और उसके प्रति रागात्मकता को आधुनिक विज्ञान से जोड़कर देखने की कोशिश की गयी। लेकिन विज्ञान की खोज और उसके सत्य को अपनी दृष्टि और संवेदना का हिस्सा बनाकर मानवीय स्वभाव की जटिलताओं और अपने समय और समाज की विडम्बनाओं को उजागर करने का जो प्रयास नरेश सक्सेना ने किया है, वह आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में एक नया आयाम है। यहाँ मुक्तिबोध के संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना की अवधारणा अपने सर्वाधिक मूर्त रूप में रचना में ढलकर उपस्थित हुई है। इसीलिए वैज्ञानिक ज्ञान की कसौटियों पर खरी उतरने वाली इन कविताओं में कहीं भी विज्ञान का आतंक और गरिष्ठता नहीं है। कवि ने विज्ञान को आत्मसात् किया है। विज्ञान इन कविताओं में, नसों में बहते हुए खून की तरह है।

रोशनी की चकाचौंध में दुनिया से साक्षात्कार तो हम सभी करते हैं पर खुद रोशनी के जादुई, अद्भुत, विस्मयकारी स्वरूप का जो परिचय इन कविताओं में पाते हैं, वह विज्ञान के सत्य को रचनात्मक सौन्दर्य में ढाल पाने की कवि की शक्ति और सामर्थ्य का असास तो हमें कराता ही है, इसके साथ ही हमारी

सभ्यता की उस विडम्बना को भी उभार कर सामने लाता है; जहाँ हर प्रकार की गति और रफ्तार के साथ किसी को धक्का देकर, गिराकर, रौंदकर आगे बढ़ जाने की आशंका हमेशा बनी रहती है। समाज का वंचित, उत्पीड़ित और मासूम तबका हमेशा इस तथाकथित विकास की रफ्तार की चपेट में दुर्घटनाग्रस्त होकर अकथनीय पीड़ा का शिकार बनता है। आदिवासियों का जंगलों से खदेड़ा जाना, बड़ी बाँध परियोजनाओं के चलते असंख्य लोगों का उन्मूलित होना या भूमंडलीकरण की रफ्तार में करोड़ों लोगों का रोजगार छिन जाना हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय विकास की गति की ऐसी विडम्बनाएँ हैं पर एक गति उस सर्वाधिक गतिशील रोशनी की भी है, ''उसकी रफ़्तार के बारे में तो सुना ही होगा आपने/अपनी तेजी के बावजूद/टकराकर धक्का नहीं देती/दबे पाँव बेवज़न और बेआवाज़ उतर सकती है चीज़ों पर'' ('रोशनी', वही. पृष्ठ-14)। दुर्घटना और किसी भी प्रकार की पीड़ा से रहित यह अकल्पनीय गति हमारे सामाजिक विकास की गतिशीलता की विडम्बना को उजागर करने के साथ ही उस पर गहरा प्रश्न चिह्न भी लगाती है। गति का यह स्वरूप हमारे विडम्बनाबोध को और भी गहरा बना देता है।

रोशनी में प्रायः हम चीजों को देखते हैं पर यही रोशनी हमारी आँखों को चौंधिया भी देती है, जिसके कारण हम कुछ भी नहीं देख पाते या देखकर भी उसके वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं। रोशनी के इस अंतर्विरोधी स्वरूप में हमारे सांसारिक अंतर्विरोध की झलक मिलती है। हमारे आस-पास की ग्लैमरस दुनिया हो या अमेरिकी साम्राज्यवाद, प्रायः उसकी चमक-दमक के ऊपरी तामझाम में हम उसके कुरूप और घृणित चेहरे को भूल जाते हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद के संदर्भ में हम भूल जाते हैं रेड इंडियनों की जघन्य हत्याएं, दुनिया पर थोपे गए युद्ध और अस्त्रों के माध्यम से किया जाने वाला मौत का व्यापार। रोशनी की सतरंगी दुनिया के पीछे अन्याय और अत्याचार की क्रूरताओं से उत्पन्न चीखें हमें सुनाई नहीं देती। कवि हमें इस आम प्रवृत्ति के प्रति सचेत करता हुआ कहता है, - ''चीजों को जितना करती है उजागर/उससे ज्यादा छिपाती है/ रोशनी में चीज़ों को देखने से पहले/ज़रूरी है रोशनी को देखना/ज़रूरी है याद करना/कि कोयला भी उसका एक प्रिय घर हैं'', ('रोशनी', वही. पृष्ठ-15)। हमारे समाज और संसार में सुख और समृद्धि के जिन जगमगाते टापुओं का निर्माण हो रहा है, वह अन्याय और अत्याचार की काली अंधेरी कोख से ही उत्पन्न हो रहा है।

सत्य को ढकने और छुपाने की वर्तमान बुर्जुआ व्यवस्था और मध्यवर्गीय मानसिकता से कवि को नफरत है। सदियों से यातनाओं और मर्मान्तक पीड़ाओं को भुगत रहे मनुष्य को इस व्यवस्था में न्याय मिल पाना मुश्किल है, क्योंकि न्यायालय और न्यायाधीश भी उसी व्यवस्था के अंग है, जो सत्य पर पर्दा डालना चाहती है। एक दरख्त से मेज बनने की यातना के साथ मनुष्य की नियति को एकाकार करता हुआ कवि कहता है, - ''मेजपोशों से नफ़रत है मुझे/नंगी ही रहने दो मेरी पीठ/उस पर धारियाँ हैं/धारियों में उम्र है मेरी/ एक-एक धारी एक-एक बरस की है/...लेकिन क्या किसी जज को दिखेंगे/लहराते हुए चाबुक और झुकी हुई पीठों पर/उभरती हुई धारियाँ इन धारियों में/क्योंकि जज साहब के पास भी तो/होगी एक मेज/और उस पर बिछा होगा मेज़पोश'' ('मेज', वही., पृष्ठ-22,23)। पूँजीवादी व्यवस्था के मूल में ही अपराध है। यह संस्थाबद्ध अपराधों को वैधता प्रदान करने की व्यवस्था है। सामंती समाज की तरह यहाँ अपराध दब-छुपकर नहीं, दिन के उजाले और कानून के संरक्षण में किये जाते हैं। इस व्यवस्था में श्रम करने वाले लोग ही दुखी, पीड़ित और शोषित होते हैं। सोचने-समझने वाले लोग बेचैन। भ्रष्ट और निकम्मे लोग ही सबसे ज्यादा सुखी और कामयाब होते हैं। कवि जब कहता है, - ''कामगार रहते हैं बेहोश/होशमंद करवटें बदलते हैं रात भर/ अपराधी सोते हैं/अपराधों का संबंध अब/अँधेरे से नहीं रहा/सुबह सभी दफ़्तर खुलते हैं अपराध के'', ('रात भर', वही. पृष्ठ-68) - तो अपने युग की व्यवस्था को ही परिभाषित कर रहा होता है। कानून बनाने वाली संस्थाओं से लेकर उसे पालन कराने वाली संस्थाओं तक में अपराधी अब तो सरेआम दिखाई देते हैं।

हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय विकास की पीड़ा का सर्वाधिक शिकार आदिवासी समुदाय ही रहा है। उन्हें जंगलों से उन्मूलित किया गया। सदियों से जंगलों में रहकर भी आज वे जंगलों के उपयोग के अधिकारों से वंचित हैं। विभिन्न तरह के कानूनों की आड़ में उन्हें जंगलों से खदेड़ने की साजिश जारी है। जंगलों में जहां भी नौकरशाही, सेठ-साहूकारों और ठेकेदारों का प्रवेश हुआ,उसके लिए भ्रष्टाचार और शोषण का नया पैगाम ही पहुंचा। जीवन की जरूरी सुविधाओं और जंगल के अधिकारों से वंचित आदिवासी समुदाय के असंतोष की प्रतिध्वनियां अगर आज बंदूकों के शोर में सुनाई पड़ती हैं तो इसमें क्या आश्चर्य! जिस तरह हरियाली से वंचित सूखे पेड़ दावानल का कारण बनते हैं, उसी तरह जीवन की छोटी-मोटी सुविधाओं से वंचित, उत्पीड़ित और शोषित आदिवासी समुदाय के बच्चों में अगर कवि को इस व्यवस्था को जलाकर भस्म कर देने वाली आग की संभावना दिखायी पड़ती है, तो वह उचित और काम्य ही है, – ''उनमें आदमियों का नहीं/एक जंगल का बचपन है/जंगल जो हरियाली से काट दिये गये हैं/और अब सिर्फ़/आग ही हो सकते हैं'', ('मढ़ी प्राइमरी स्कूल के बच्चे', वही. पृष्ठ-47)।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ बर्बरताएँ समाप्त नहीं होतीं। वह नये नाम, नये चेहरे और नई घटनाओं के साथ कई बार लौटती हैं। पहले से कहीं ज्यादा क्रूर, ज्यादा अत्याचारी और आतंककारी रूप में। कभी हिटलर और मुसोलनी के रूप में, तो कभी ईदी अमीन, पिनोशे, जनरल सुहार्तो और जार्ज डब्ल्यू. बुश के रूप में। आधुनिक युग में प्राचीन और मध्ययुगीन बर्बरताओं और क्रूरताओं को मात देने वाली घटनाएँ सिर्फ नाजियों के कन्सन्ट्रेशन कैंप, हिरोशिमा और नागासाकी में ही नहीं घटी, फलस्तीन से लेकर वियतनाम, अफगानिस्तान और इराक तक वह आज भी फैली हुई हैं। यह विश्व के इतिहास के संदर्भ में जितना सही है, उतना ही किसी देश के संदर्भ में भी। भारत में भी मध्ययुगीन बर्बरताओं का अंत नादिरशाह, चंगेज और महमूद ग़ज़नवी के साथ नहीं हुआ। छह दिसम्बर को अयोध्या में अटल, आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी के साथ वह नए रूप में प्रकट हुआ और आज नरेन्द्र मोदी के गुजरात में दानवी अट्टहास कर रहा है। महमूद ग़ज़नवी ने तो सिर्फ एक मंदिर तोड़ा था पर देश की एकता और अखंडता के इन दुश्मनों ने करोड़ों भारतीय जनता के दिल में स्थापित प्रेम और भाईचारे के मंदिर को तोड़कर उसमें आपसी दुश्मनी और नफ़रत का बीज बो दिया है। आधुनिक वेश में घूम रही बर्बरता के इस कुरूप चेहरे को नरेश सक्सेना ने अपनी कविता 'छह दिसम्बर' में बहुत अच्छी तरह पहचाना है और लगभग आगाह करने की शैली में बहुत साफ-साफ कहा है, – ''इतिहास के बहुत से भ्रमों में से/एक यह भी है/कि महमूद ग़ज़नवी लौट गया था/लौटा नहीं था वह/यहीं था/सैकड़ों बरस बाद अचानक/वह प्रकट हुआ अयोध्या में/सोमनाथ में उसने किया था/अल्लाह का काम तमाम/इस बार उसका नारा था/जय श्रीराम'' ('छह दिसम्बर', वही. पृष्ठ-61)। धर्म तमाम तरह की मिथ्या चेतनाओं का वाहक होने के बावजूद मनुष्य के पवित्रतम भावनाओं, मूल्यों एवं आदर्शों का प्रतिरूप भी है। हर धर्म किसी न किसी रूप में दया, प्रेम, सहिष्णुता का पाठ भी पढ़ाता है। धर्म के नाम पर की जाने वाली हत्याएं और लूटपाट हमेशा उस धर्म को कलंकित ही करते हैं। महमूद ग़ज़नवी ने अल्लाह को उसी तरह कलंकित किया था जिस तरह बाबरी मस्जिद के विध्वंसकों ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम और हर हिन्दू को। कैफ़ी आज़मी ने अपनी एक प्रसिद्ध नज़्म में ठीक ही कहा कि छह दिसम्बर को राम को 'दूसरा वनवास' मिला।

प्रकृति और पर्यावरण के प्रति अपने बच्चों की तरह लगाव तथा कृतज्ञताबोध नरेश सक्सेना के यहाँ जितना गहरा है, उतना शायद ही किसी अन्य कवि के यहाँ दिखाई पड़े। मनुष्य के साथ प्रकृति और वस्तुओं की पीड़ा को भी महसूस करने की संवेदनशीलता, उनसे गहरा लगाव तथा उनके प्रति इच्छाओं की पवित्रता ही नरेश सक्सेना को एक विलक्षण कवि बनाती है। कवि का प्रकृति और पर्यावरण के प्रति प्रेम इतना उत्कट है कि वह अपने निधन के बाद होने वाले दाह संस्कार को भी एक उत्सव के रूप में परिकल्पित करता है।

वह इस बात से प्रसन्न है कि उसके मृत शरीर को जलाये जाने से जो कार्बनडाइऑक्साइड निकलेगा, उससे वृक्ष और हरे हो जाएंगें। फल और भी पक जाएंगे। कवि की इच्छाओं की यह पवित्रता प्रकृति के प्रति उसके प्रेम और समर्पण को एक नया आयाम देती है।

कवि के लिए नीम का कटना सिर्फ एक पेड़ का कटना नहीं हैं, उसके साथ और उससे जुड़े एक पूरे जीवन और एक पूरी दुनिया का नष्ट होना भी है। संबंधों का एक पूरा संसार और स्मृतियों का एक अनमोल खज़ाना भी उसके साथ खत्म हो रहा है। ऐसी दुनिया को उजड़ते और नष्ट होते हम रोज देखते हैं। हम पर इसका कोई असर नहीं होता। कवि का सारा ध्यान काठ बन गई हमारी संवेदनाओं पर असर डालकर उनमें सिहरन पैदा करना है। इसीलिए उसने नीम की काया में धँसी कुल्हाड़ियों के एक-एक वार और घाव का, उस पर बसेरा बनाए चिड़ियों के शोर और पीड़ा का एवं अपने अंत की आशंका से काँपती उसकी पत्तियों के भय का बहुत ही मार्मिक और दारुण दृश्य पैदा किया है। इसके साथ ही इस विनाश की पृष्ठभूमि में सक्रिय बाजार और पूँजी की ताकत को भी वह पहचानता है। सर्वशक्तिमान इस पूँजी और बाजार के दुष्चक्र में हमारे सुख और सौन्दर्य के स्रोत ही जैसे सूख गए हैं। अपने ही लोगों द्वारा सौदा कर दिये गये नीम के उजड़ जाने पर भावविह्वल कवि आश्चर्य मिश्रित विलाप के करुण स्वर में जब कहता है, - ''बेटे ने गिन लिये रुपये/मेरे बेटे ने/देखो उसके बाबा ने कर लिया हिसाब/उसे ले गये/जैसे कोई ले जाये लावारिस लाश/घसीट कर/ऐसे उसे ले गये/ले गये आँगन की धूप-छाँह सुबह-शाम/चिड़ियों का शोर/ले गये ऋतुएँ/अब तक का संग-साथ सुख-दुख सब जीवन/ले गये'', ('उसे ले गये', वही. पृष्ठ- 42,43) - तब कवि की यह पीड़ा सिर्फ एक नीम के उजड़ने की पीड़ा न होकर भूमंडलीकरण की आँधी में उजड़ते आम भारतीय जीवन की पीड़ा बन जाती है।

पूरा प्राकृतिक जगत् धातुओं से परिपूर्ण है। हमारे शरीर के निर्माण में भी उसकी अहम् भूमिका है पर अपने लोभ, लिप्सा और स्वार्थ के वशीभूत मनुष्य ने प्रकृति में अवांछित हस्तक्षेप करके धातुओं के संतुलन को भंग कर दिया है। अब यही धातुएँ हमारे अस्तित्व के लिए खतरा बन गई हैं। 'धातुएँ' शीर्षक कविता में कवि जब इन धातुओं के असंतुलन की बात करता है तो उसकी चिंता सिर्फ एक थोथे पर्यावरणवादी की चिंता नहीं है। उसकी चिंता के केन्द्र में वस्तुकरण, अमानवीयकरण और आत्महीनता की प्रवृत्ति भी है। इन्हीं प्रवृत्तियों ने हमारे विचारों की उदात्तता, मानवीय गरिमा को नष्ट कर हमारी आत्मा को बंजर बना दिया है, - ''अभी वे विचारों में फैल रही हैं लेकिन/एक दिन वे बैठी मिलेंगी/हमारी आत्मा में/फिर क्या होगा/ गर्मी में गर्म और सर्दी में ठंडी/खींचो तो खिंचती चली जायेंगी/पीटो तो पिटती चली जाएंगी'' ('धातुएँ' वही. पृष्ठ- 16, 17)। मनुष्य की तथाकथित शाश्वत, अजर-अमर, पवित्र आत्मा को इस तरह नष्ट-भ्रष्ट किसने किया है? बाजार और उपभोग जिस वृद्ध पूँजीवाद का सबसे बड़ा मूल्य हो, वहाँ प्रकृति, पर्यावरण और मनुष्य की यह दुर्गति होनी ही है।

छायावाद में प्रकृति के मनभावन चित्र तो हैं, प्रकृति का मानवीकरण भी है पर अक्सर प्रकृति काल्पनिक, अमूर्त और वायवीय हो गई है। नरेश सक्सेना के यहां प्रकृति अपने बिल्कुल ठोस रूप में है। प्रकृति से उनका लगाव अत्यंत तीव्र और सघन है। कवि प्रकृति में अपने दुःख की छाया नहीं देखता। वह प्रकृति के दुःख में शामिल है। प्रकृति और कवि के दुःख यहां एक हो गये हैं। छायावादी प्रकृति की पृष्ठभूमि में पूँजी के मोहपाश में बंधा खलनायक मनुष्य नहीं है पर यहां वह प्रकृति के षड्यंत्र में शामिल है। इन कविताओं में प्रकृति अपनी सक्रियता के साथ उपस्थित है। प्रकृति के पार्श्व में मनुष्य का दुःख, पीड़ाएं और त्रासदियाँ भी उतनी ही सक्रिय हैं। निष्क्रियता वहीं है, जहां समृद्धि है, संचय है, शोषण है। नरेश सक्सेना मूलतः जड़ता के विरुद्ध सक्रियता के कवि हैं। उनकी कविता की वस्तुएँ प्रायः क्रियाशील दिखती हैं। घास

हो, दीवार या लोहे की रेलिंग, सभी अपनी यथास्थिति के विरुद्ध निरंतर सक्रिय हैं। इसीलिए उनकी कविताओं में विशेषणों की जगह क्रियाओं की भरमार है।

नरेश सक्सेना की हर कविता प्राय: दो स्तरों की होती है। पहले स्तर पर वे चीजों या वस्तुओं को एक नए नजरिये और विलक्षण दृष्टि से देखकर उसे उसकी वस्तुमयता में ही ज्यादा सुन्दर, अर्थगर्भ और संभावनाशील बना देते हैं। दूसरे स्तर पर यही सुन्दर, अर्थगर्भ और संभावनाशील वस्तु क्रियाशील होकर सत्ता और व्यवस्था के अन्याय, उसके प्रतिरोध या किसी आवश्यक मानवीय मूल्य या आदर्श की दिशा में प्रक्षेपित होकर नए अर्थ को व्यंजित करती है। दोनों स्तरों पर यह कविता हमें प्रभावित करती है। पहले स्तर पर अपनी दृष्टि की नवीनता और विलक्षणता के कारण और दूसरे स्तर पर मूल्यों एवं आदर्शों में अटूट आस्था के कारण। कुछ कविताओं में वस्तुएँ बिसरे हुए मानवीय संबंधों और खोई हुई दुनिया की स्मृतियों में लौटने का माध्यम बन गई है।

इन कविताओं का स्वर उग्र नहीं है। यहां आवेग और आवेश का झोंका भी नहीं है। चिंतन की गंभीरता है। कभी अदृश्य हवा की तरह सहलाकर ये कविताएँ हमें जगाती हैं, तो कभी अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध उठ खड़े होने को उकसाती हैं। वह हमें मानसिक और नैतिक स्तर पर संघर्ष के लिए तैयार करती है। ''जिंदा लोग ज़्यादा इंतज़ार नहीं करते/इंतजार तो लाशें भी नहीं करतीं/एक दिन/हद से हद दो/बस/इसके बाद तो वे हवा में उड़ने लगती हैं/पीछा करती घेरती/सीने पर हो जाती हैं सवार और/वसूल करके छोड़ती हैं अपने जायज़ नाजायज़ हक़ों को'' (ज़िंदा लोग, वही. पृष्ठ-25)। इन पंक्तियों में कवि अपनी ओर से ज़्यादा कुछ न कहकर सिर्फ उन स्थितियों को हमारे समक्ष रख देता है, जिनमें हम सोचने को विवश हो जाते हैं। जब लाशें भी इंतजार नहीं करती तो ये करोड़ों, अरबों जीवित लोग सदियों से अन्याय और अत्याचार की मार सहकर आखिर किस दिन का और किसका इंतजार कर रहे हैं? प्रकारान्तर से यह कविता हमसे सक्रिय प्रतिरोध की माँग करती हुई हमारे जीवित होने का प्रमाण माँगती है। ऊपर से अत्यंत ही सहज दिखने वाली इन कविताओं के मूल में गहरा व्यंग्य और दबा हुआ आक्रोश है। इस व्यवस्था के प्रति घृणा भी है। लेकिन व्यंग्य, आक्रोश और घृणा शब्दों से नहीं कविता में निर्मित स्थितियों के बीच से उभरते हैं।

अपनी वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि और विश्वदृष्टि की सम्पन्नता के कारण ही एक ही वस्तु या पदार्थ में निहित विविध रंगों, रूपों और गुणों के अंतर्विरोधी स्वरूप का बारीकी और बेबाकी से विश्लेषण कर उसकी दूरगामी अनुगूंजों, अर्थछायाओं का जितना रचनात्मक इस्तेमाल नरेश सक्सेना ने किया है, उतना हिन्दी के किसी भी आधुनिक कवि ने नहीं किया। उनकी दृष्टि, सोच और विचारधारा एकांगी और एकायामी नहीं है। अत: वे इस जीवन-जगत् के सौन्दर्य और यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में देख सके हैं। उनकी हर कविता अपने-आप में जटिल और संश्लिष्ट रचना है। एक साथ कई अर्थ की संभावनाओं, अंतर्ध्वनियों और अनुगूंजों को अपने भीतर समेटे हुए। पाठकीय संवेदना के हल्के स्पर्श से वह अपने-आप खुलने और हमारे भीतर उतरने लगती है; मनुष्य, समाज और व्यवस्था की गिरह खोलती हुई। नरेश सक्सेना की कविताएँ वस्तुओं के जटिल, अंतर्विरोधी गहरी वैज्ञानिक समझ और संवेदनात्मक अंतर्दृष्टि के सहमेल से उपजी अविभाज्य इकाइयाँ हैं। वैज्ञानिक ज्ञान और अनुभूति का यह सुखद संयोग हिन्दी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है।

वस्तुओं, चीजों और घटनाओं को कवि के देखने का नजरिया बिलकुल अलग है। यह नजरिया ही उसे संसार को नई तरह से रचने की प्रेरणा देता है और सांसारिक परिभाषा की जकड़बंदी से मुक्त कर उसे नया बनाता है। यहां दीवारों के दरार चिंतित नहीं करते। दीवारें दरारों में तनावमुक्त होकर हँसती हुई दिखती हैं। यहाँ चींटियों का नया व्यापार शुरू होता है और जीवन का नया अंकुरण। कवि के इस नए नजरिए के पीछे इस मूल्यहीन दुनिया के वे मूल्य हैं, जिनमें कवि को विश्वास है। वह जीवन की जड़ता के विरुद्ध परिवर्तन,

तनाव की जगह उन्मुक्तता और मृत्यु की जगह जीवन की किसी भी संभावना के प्रति स्वागतोत्सुक है।

कविताओं में कवि की सक्रिय उपस्थिति लगातार बनी रहती है। अत: उसमें व्यक्तिगत अनुभव की ऊष्मा है। कभी सवाल उठाते, कभी चेतावनी देते, तो कभी आश्वस्त करते कवि की मौजूदगी कविता को आत्मीय बनाती है। कई कविताएँ कवि की खुद की जिम्मेदारी बोध एवं इच्छाओं और चाहतों से सीधे तौर पर जुड़ी हैं। निश्चित तौर पर कवि के 'मैं' की व्यापकता में हमारे समय के हर संवेदनशील चेतनासम्पन्न मनुष्य का 'मैं' शामिल है। कई कविताओं में कवि अपनी ओर से व्यक्तव्य देता हुआ भी दिखाई देता है। ''अरे कोई देखो/मेरे आँगन में गिरा कट कर/गिरा मेरा नीम'' जैसी पंक्तियों में एक खास किस्म की नाटकीयता भी है। कुछ कविताएँ दर्शकों के समक्ष मंच पर एक कुशल अभिनेता के एकालाप की शैली में भी लिखी गई हैं।

नरेश सक्सेना यथार्थ की संभावनाओं के कवि हैं। उनकी कविता एक नई दृष्टि के साथ असीम संभावनाओं के दरवाजे पर लाकर हमें खड़ा कर देती है, आगे की यात्रा के लिए आत्मविश्वास से परिपूर्ण, स्वाधीन और स्वतंत्र करती हुई। संग्रह की कई कविताएं प्रश्न के साथ शुरू होकर प्रश्न से ही खत्म होती हैं। कवि प्रश्नों का जवाब देने की हड़बड़ी का शिकार नहीं है। ये प्रश्न अपने संदर्भ में जिस कोण से, जिस तरह उठाये जाते हैं, वे उत्तर की तलाश के लिए हमें बेचैन करने के साथ ही उस दिशा की ओर भी इंगित करते हैं, जहां उत्तर की संभावनाएं मौजूद हैं। नरेश बने बनाये उत्तरों की जगह अपने प्रश्नों से उत्तर की संभावनाओं की तलाश की ओर प्रेरित करने वाले कवि हैं। ये प्रश्न कभी हमारे पूरे व्यक्तित्व को झकझोरते हैं और झिंझोड़ते भी हैं।

नरेश सक्सेना प्राय: प्रतीकों की रचना से बचते हैं। कोई वस्तु या प्राकृतिक पदार्थ उनकी कविता में निर्मित संदर्भों से ही अपना अर्थ पाता है। ये संदर्भ समसामयिक मानवीय जीवन के यथार्थ, विडम्बनाओं एवं विसंगतियों के रंग और रेशों से बुने जाते हैं। इनकी कई कविताओं में पेड़ का जिक्र आया है पर हर जगह पेड़ का अर्थ बदल गया है। आठवें दशक की कविताओं की तरह लड़की, चिड़िया या पेड़ किसी रूढ़ अर्थ की अभिव्यंजना नहीं करते। एक ही कविता में मानवीय सरोकार के कारण पेड़ के अर्थ अलग-अलग हैं। अधिकांश श्रेष्ठ कवि नए प्रतीकों को तो गढ़ते हैं पर पुराने प्रतीकों को तोड़कर उनमें नए अर्थ भरने का साहस कम ही कवियों में होता है। समुद्र को प्राय: अपनी गंभीरता, विशालता, व्यापकता और गहराई के कारण 'जनता' का प्रतीक बनाया गया है पर नरेश सक्सेना के यहाँ वह संग्रह एवं एकाधिकार की प्रवृत्ति और अपने अनुपयोगी स्वभाव के कारण उत्पन्न बेचैनी, तड़प, अपराधबोध और आत्मग्लानि का प्रतीक बन गया है।

नरेश सक्सेना में बहुत ही कम शब्दों से दृश्यों को रचने की अद्‌भुत क्षमता है। ऐसे दृश्यों के बारे में कवि अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहता। दृश्य खुद ही बोलते और अपना अर्थ खोलते हैं। कवि द्वारा रचित अधिकांश दृश्य बिंब सुन्दर और सक्रिय होने के बावजूद ड्राइंग रूम में टंगे दृश्यों की तरह मन को सुकून और आत्मा को शांति नहीं देते। उनके भीतर से छटपटाहट और तड़प का अहसास उभरता है। चिड़ियों की चहक से भरा नीला आकाश, पहाड़ी पर गुनगुनाती धूप, सफेद फूल का हिलना, झील में तैरता हुआ चाँद, सुन्दर और मनभावन होता हुआ भी जीवन और सौन्दर्यविरोधी स्थितियों से जुड़े होने के कारण मन को बहुत उदास कर जाता है। यहाँ प्रकृति का सौन्दर्य अलौकिक और स्वर्गीय न होकर जीवन और जगत् भी विडम्बनाओं को उद्‌घाटित करने वाला सौन्दर्य है। चिड़ियों के शोर से भरे नीले आकाश के नीचे हत्या की पृष्ठभूमि में पत्थर की चट्टान से टपकता हुआ खून है तो कभी झील में तैरते हुए चाँद की जगह सूखी झील में मछलियों की तड़प का अहसास कराने वाली चाँदनी। यथार्थ विरोधी स्थितियों में सत्य और सौन्दर्य के बीच का तनाव तथा उसकी विडम्बनाओं को उभारना ही कवि का प्रमुख उद्देश्य रहा है। यहाँ सौन्दर्य सत्य पर

पर्दा डालने की अपेक्षा उसके पक्ष में विसर्जित होता हुआ दिखाई देता है।

रोज़ सूरज का मारा जाना और रोशनियों के कटे हुए सिर को खंभे से टाँग दिया जाना हमारे समय का अत्यंत ही निर्मम और निष्ठुर बिंब है पर जिस समाज में सफदर हाशमी, शंकर गुहा नियोगी और चन्द्रशेखर जैसे लोगों का जो हश्र होता रहा है, उसमें इसे हमारे समय का प्रतिनिधि बिंब ही कहा जा सकता है, – ''वह सिर्फ़ सूरज ही होता है/ताकि ऐसी बदनामी करने का साहस/फिर किसी और में न हो'', ('हर सुबह', वही. पृष्ठ-69)। लेकिन दुनिया में जब तक अंधेरा है, हत्या के बावजूद सूरज निकलता रहेगा।

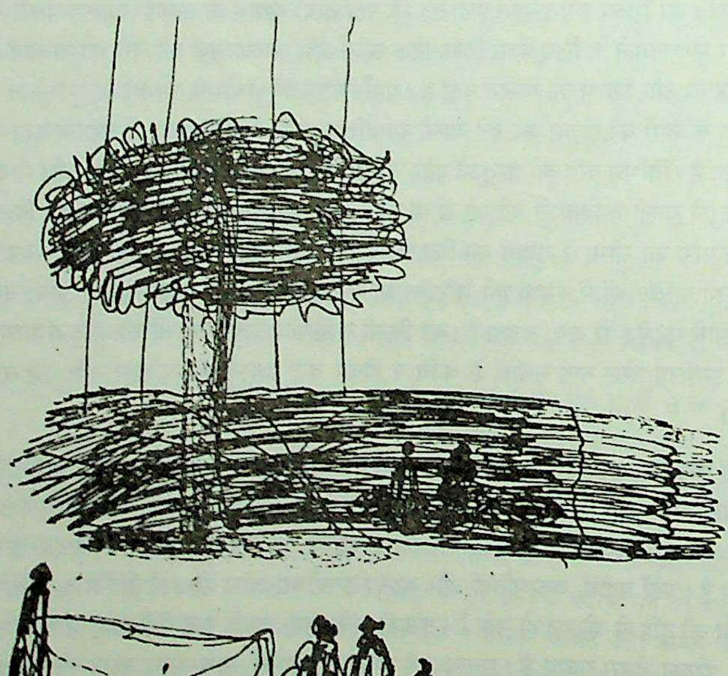
कभी समय की भयावहता का अंदाजा कुत्तों के रोने से लगाया जाता था पर अच्छे मनुष्यों के लगातार रुदन के इस दौर में, कुत्तों जैसे बर्बर लोग हँस रहे हों तो समय की भयावहता का अंदाजा लगाना और भी मुश्किल हो जाता है। इस कठिन समय में परिस्थितियों की भयावहता से अनजाने या तो भोले-भाले लोग हँस सकते हैं या फिर हत्यारे या शातिर अपराधी। हमारे भोलेपन, हमारी मासूमियत और निरीहता पर यह हत्यारों के हँसने और अपराधियों के अट्टहास का समय है। जब हर तरफ हिंसा और मृत्यु के आतंक का सन्नाटा हो। हर चेहरा चिंता में डूबा स्तब्ध हो। वैसे दौर में कवि जब यह लिखता है, – ''भयानक होती है रात/जब कुत्ते रोते हैं/लेकिन उससे भी भयानक होती है रात/जब कुत्ते हँसते हैं/सुनो क्या तुम्हें सुनाई देती है/किसी के हँसने की आवाज़'' ('हँसी', वही. पृष्ठ-94) – तो प्रचलित मुहावरे को बदलकर वह अपने युग का नया मुहावरा गढ़ रहा होता है।

नरेश सक्सेना की कविताओं का मिज़ाज यथार्थ को छूने, सहलाने और उसे एक कौंध में बदल देने वाला है। कवि यथार्थ की जटिलताओं में उतरने और गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश प्रायः नहीं करता। संभवतः कवि का शिल्प उसे इसकी इज़ाज़त भी नहीं देता। यथार्थ के ऊबड़-खाबड़ पथरीले प्रदेश में सुरंगें खोदने और सेंध लगाने के लिए जिस विस्फोटक ऊर्जा और काव्यात्मक औजारों की ज़रूरत है, वह कवि के काव्यव्यक्तित्व और शिल्प का हिस्सा नहीं है। यहाँ चिंतन की गंभीरता, यथार्थ के पुनर्सृजन का असीम धैर्य और चेतना के तारों को झंकृत कर देने वाली सांगीतिकता है। अपने प्रभाव में गद्यात्मकता की जगह इसमें गीतात्मकता है। विभिन्न तरह की वस्तुओं और चीजों के माध्यम से सामाजिक सत्य और मानवीय मूल्यों का आभास कराने वाली कविताओं की जो सीमा होती है, वह इन कविताओं की भी है। किसी भी वस्तु के गुणधर्म, रूपरंग की सीमा में यथार्थ की जितनी छायाएं अँट पाती हैं, हम उतना ही उसका साक्षात्कार कर पाते हैं। ऐसी कविताओं में यथार्थ की जटिलताओं में गहराई तक उतरने की क्षमता प्रायः नहीं होती। कवि यथार्थ से सीधे मुठभेड़ से प्रायः बचता है। वह किसी न किसी वस्तु या चीजों की ओट में सत्य का साक्षात्कार करता है। इसलिए नरेश नग्न यथार्थ के कवि न होकर कटु यथार्थ का आभास और अहसास कराने वाले कविता हैं।

यह विडम्बना ही है कि पदार्थों एवं वस्तुओं को भी इतना जीवंत, मार्मिक और अर्थगर्भ बना देने वाले कवि के यहाँ हाड़-मांस के मनुष्यों की कमी है। यहां वस्तुएँ और पदार्थ तो मानवीय गुण और व्यवहार में रूपान्तरित होते हुए दिखाई देते हैं पर हमारे आस-पड़ोस, गाँव-देहात का आम आदमी इन कविताओं में अनुपस्थित है। यहाँ पदार्थ, वनस्पतियां और वस्तुएं इतनी मानवीय हो उठी हैं कि वास्तविक और औसत मनुष्य कवि की दृष्टि से ओझल हो गया है। उसकी संवेदनाएं, उसके पक्ष में विचार और स्वप्न तो यहां मिल जायेंगे पर उसका चेहरा गायब है। मनुष्य की बगल में, उसके साथ-साथ या उसके जीवन के केन्द्र में प्राकृतिक पदार्थ या वस्तुएं नहीं हैं। यहां वस्तुओं के भीतर से उभरती मानवीय संवेदनाएं हैं। एक चौंका देने वाली बात यह भी है कि 'पृथ्वी' शीर्षक कविता को छोड़कर स्त्रियाँ भी इन कविताओं में लगभग अनुपस्थित हैं।

अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद नरेश सक्सेना हमारे दौर के अत्यंत ही समर्थ कवि हैं। उनकी कविताओं में उर्वर कल्पनाशीलता, गहरी मानवीय अंतर्दृष्टि और लोकोन्मुख वैज्ञानिक ज्ञान का अद्‌भुत सामंजस्य है। कवि की समुद्र जैसी संवेदना के विस्तार में सृष्टि की हर वस्तु नए रंग में रंगी हुई, अर्थ की नई संभावनाओं से दीप्त नजर आती है। इन कविताओं का स्वर मुखर नहीं है पर हर कविता में न्याय के पक्ष में नैतिक छटपटाहट और मानवीय मूल्यों में अटूट आस्था है। सतह के जीवन और अनुभव से अपनी दृष्टि और संवेदना की गहराई में खींचती, कहीं सवाल उठाती तो कहीं सचेत करती ये कविताएँ हमारे समय और समाज के व्यापक मानवीय सरोकारों से जुड़ी कविताएँ हैं। तर्क और जिरह की डोर थामे, कभी खुद से, कभी हमसे बोलती-बतियाती ये कविताएँ हमें जगाती, आश्वस्त करती, बुरे दिनों में ढाँढस बंधाती कविताएँ हैं। ये कविताएँ भले ही जीवन के युद्ध में हमारे हथियार न बन पायें पर वह हमें लड़ने की ज़रूरत, लड़ने का हौसला और मानवीय मूल्यों के प्रति गहरा विश्वास जरूर पैदा करती हैं; जिसके बिना शायद ही किसी न्यायसंगत लड़ाई की कल्पना की जा सके।

सियाराम शर्मा इसके पहले पहल के लिए एक मूल्यवान काम कर चुके हैं। ''कविता का तीसरा संसार'' उनकी ऐसी पहल पुस्तिका थी जिसको आज भी स्मरण किया जाता है। दिल्ली से पढ़ाई करके पिछले एक दशक से छत्तीसगढ़ के एक छोटे से कस्बे उतई में अध्यापन कर रहे हैं।



सशक्त प्रगति

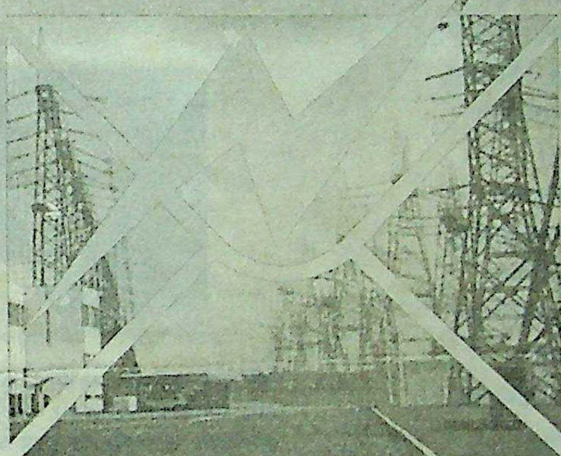


हिमालय की विशाल श्रृंखलाओं के बीच स्थित तथा पर्वतों और नदियों की अद्भुत एवम् अलौकिक सुन्दरता से घिरा राज्य ही उत्तरांचल है। नदियों और स्त्रोतो का विशाल तंत्र राज्य में ऊर्जा की असीम संभावनाएं प्रदान करता है। उत्तरांचल सरकार द्वारा सृजित उत्तरांचल पावर कार्पोरेशन लिमिटेड (यूपीसीएल) ने पर्यावरण की संवेदनशीलता को बिना छेड़े जनसाधारण के आर्थिक विकास के लिए विद्युत के वितरण की कुशल व्यवस्था के दायित्व का निर्वाह किया है। उत्तरांचल के लोगों को यूपीसीएल ने व्यवधान-रहित (24 घंटे) तथा गुणवत्ता की विद्युत उपलब्ध कराने के उद्देश्य से अपने उप-विद्युत गृहों के लिए वृहद् उच्चीकरण कार्यक्रम लागू किये है। यूपीसीएल ने मानव संसाधनों के उपयुक्त उपयोग से गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों को निःशुल्क संयोजन (कनेक्शन) प्रदत्त किये जाने हेतु एक व्यापक अभियान 'कुटीर ज्योति योजना' के नाम से शुरू किया है साथ ही वर्ष 2007 तक सभी गाँवों में बिजली पहुँचाने के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम भी तैयार किया है।

अतएव, हम उत्तरांचल को एक

'ऊर्जा प्रदेश'

बनाने के लिए कृत-संकल्प हैं।



उत्तरांचल पावर कारपोरेशन लि०

उत्तरांचल पावर कारपोरेशन लि०

ऊर्जा भवन, कांवली मार्ग, देहरादून-248001.
दूरभाष 0135-2763897 / 2763672-75, फैक्सः 0135-2768867 / 2763831



वन्दे मातरम् !
सुजलाम्, सुफलाम्,
मलयज–शीतलाम्,
शस्यश्यामलाम्,
मातरम्।
शुभ्रज्योत्सना,
पुलकितयामिनीम्
फुल्लकुसुमित
द्रुमदल शोभिनीम्
सुहासिनीम्
सुमधुर भाषिणीम्
सुखदाम्,
वरदाम्,
मातरम्।
वन्दे मातरम्।

राष्ट्रगीत के रचयिता : बंकिमचंद्र चटर्जी



हमें अपने कार्यों को करते समय, कभी भी अपने राष्ट्र को विस्मृत नहीं करना चाहिए। हमारा हर काम राष्ट्र की समृद्धि और गौरव को बढ़ाने के लिए होता है। वन्दे मातरम् का गायन हमारे शासकीय कर्मियों और नयी पीढ़ी में राष्ट्र प्रेम और अनुशासन की भावना को मजबूत करेगा।

बाबूलाल गौर
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

जनसंपर्क/ माध्यम/ 2005

D64342

PAHAL 80

